विस्तृतभूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-पदपाठ-सायणमहीधर-भाष्य-
शाब्दिक-हिन्दी-रूपान्तर-सुकाशिनीटिप्पणी-वैदिक-
स्वर-व्याकरण-पदानुक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम्

ऋ० १।१५४;२,१२;१०।९० सूक्तानि, य० ३१,
पारस्करीयोपनयनसूत्राणि च)

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (पं० रघुवर दयाल गोल्डमैडलिस्ट)
पी० एच० डी०, बी० ए० ऑनर्स, शास्त्री, प्रभाकर,
केरल कोयल वर्मा वलिया भगवान स्वर्णपदकी

आचार्य, संस्कृत विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भारती  मन्दिर

४ हीरापुरी, गोरखपुर

विस्तृतभूमिका-मूलपाठ-पाठभेद-पदपाठ-सायणमहीधर-भाष्य-
शाब्दिक-हिन्दी-रूपान्तर-सुकाशिनीटिप्पणी-वैदिक-
स्वर-व्याकरण-पदानुक्रमणिकादिभिः समन्वितम्

वेदलावण्यम्

(ऋ० १।१५४,२,१२,१०।९० सूक्तानि, य० ३१, पारस्करीयोपनयनसूत्राणि च)

लेखक, सम्पादक तथा अनुवादक

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, (प० रघुवर दयाल गोल्डमैडलिस्ट)
पी० एच्डी०, बी० ए० ऑनर्स, शास्त्री, प्रभाकर,
केरल कोयल वर्मा वलिया थम्पूरन स्वर्णपदकी

आचार्य, संस्कृत विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर

भारती  **मन्दिर**

४ हीरापुरी, गोरखपुर

प्रकाशक—

भारती मन्दिर
अनुसन्धान शाला
४ हीरापुरी, गोरखपुर। — नया पता
डी-४०, बापू नगर,
जयपुर

मूल्य रु० ८/२५ न.पै.

मुद्रक

गोरखपुर :—

१. भारत प्रेस, हासुपुर—कोष, मुखपृष्ठ, विषयसूची, उपनयन सूत्रों की टिप्पणियाँ आदि पृ० १—६० ।

२. नेशनल प्रिंटिंग प्रेस, गोलघर—उपनयनसूत्राणि पृ० १—२८, ऋक्सूक्तानि —भूमिका पृ० १—२६

वाराणसी :—

३. ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काल भैरव मार्ग—विष्णु और पुरुष सूक्त, आदि पृ० १ अ से अन्त तक ।

४ मास्टर प्रिंटिंग वर्क्स, ६१।३४ बुलानाला—इन्द्रसूक्त ।

५. भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन—उपोद्घात, उपनयनसूत्रों की भूमिका, ऋक्सूक्तों की भूमिका, पृ० २७ से ७३ ।

विषयसूची

[आगे दाहिनी ओर छोटे कोष्ठकों मे पृष्ठसंख्या दी गई है। कोष्ठकों से बाहर मन्त्रप्रतीक से पूर्व बाई ओर मन्त्रों की क्रमश क्रमिक और सूक्त मे की संख्याए दी गई हैं।]

(तीनों परिशिष्टों की इस सूची में दाहिनी ओर कोष्ठकों में संदर्भसंख्या दी गई है।)

ॐ ॥ यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु ॥ ॐ

उपोद्घात

प्रस्तुत ग्रन्थ के दो भाग हैं —

१—पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि २ ऋक्सूक्तानि (य० ३१ च) । दोनो भागो की भूमिकाएँ, टिप्पणियाँ और अनुक्रमणिकाएँ पृथक्-पृथक् रक्खी गई हैं । उपनयन सूत्रो की भूमिका मे ऋक्सूक्तो की टिप्पणियो के निर्देश किए गए हैं और ऋक्सूक्तो की भूमिका और टिप्पणियो मे उपनयन सूत्रो की टिप्पणियो की ओर अनेक बार निर्देश किया है । अत दोनों भाग स्वतन्त्र प्रतीत होने पर भी एक दूसरे से सम्बद्ध हैं ।

२—इस संस्करण मे पारस्करगृह्यसूत्र के दो संस्करणो का उपयोग किया गया है —

(अ) पारस्करगृह्यसूत्रम्—श्री वेदाचार्यविजयचन्द्रशर्मकृतटिप्पणिभि समलङ्कृतम्—श्रीवेंकटेश्वर स्टीमयन्त्रालय बम्बई स० १९८५ वि० ।

(आ) पारस्करगृह्यसूत्र पञ्चभाष्योपेत महादेवशर्मणा संस्कृतम्—गुजराती प्रेस, बम्बई १९७३ वि० ।

३—दोनो संस्करणो में कुछ भेद है जो इस प्रकार है —

(१) आ में अधिकांश स्थलो पर ँ के स्थान पर ं का प्रयोग किया गया है । प्रकृत मूल में ऐसे स्थल पर * चिह्न दिया गया है ।

(२) कुछ स्थलो पर ँ को आ मे ꣳ पढा है । ये स्थल † चिह्न से चिह्नित हैं ।

(३) सूत्र० १४, १०८, से १२४ आ मे नहीं है ।

(४) आ में ८९ और ९० की सख्या क्रमश ९० और ८९ है।

४—इस सस्करण में 'अ के पाठ को ही ग्रहण किया गया है। कोष्ठका में रक्खे हुए पाठ दोनो सस्करणो में पाये जाते हैं परन्तु उन को सब भाष्यकार सूत्रकार को अनभिमत मानते है। सूत्र० १०८–१२४ भी इसी श्रेणी में है। छाप में उन में कोष्ठक रह गए है।

५—अ और आ में कण्डिकाओ की सख्या व अङ्कन में भी अन्तर है। अ में यह प्रकरण ३–७ कण्डिकाओ में है, और 'आ में २–५ में। इस सस्करण में दोनो की सख्या दी गई है।

६—अ में सूत्रो पर अक नही हैं। कण्डिका ३–६ में आ के अक दाईं ओर हैं। कण्डिका ७ में भी अङ्कन कर दिया गया है। इस सस्करण में बाईं ओर प्रत्येक सूत्र और मन्त्र पर अविकल सख्या दी गई है। अनुवाद टिप्पणियो भूमिका आदि में सर्वत्र इस अविकल सख्या का प्रयोग सौकर्य की दृष्टि से किया गया है।

७—अनुवाद और टिप्पणियो में प० सुखदेव वर्मा के हिन्दी अनुवाद हरिहर आदि के पाँच प्राचीन भाष्यो सस्कारचन्द्रिका तथा सस्कारविधि से पुष्कल सहायता ली है।

८—दोनो भागो—उपनयन सूत्रो और ऋक्सूक्तो की भूमिकाओ में दोनो से सम्बन्धित सभी विषयो का प्रामाणिक अनतिविस्तृत वर्णन किया गया है। अपने विचारो के लिए पादटिप्पणियो में पुष्कल प्रमाण भी दिए हैं। इन विचारो में अपनी नई खोजो को समाविष्ट कर दिया है।* यहाँ वर्णित विषयो का ज्ञान विषयसूची पर दृष्टि डालने से हो सकेगा।

---

*परमपूज्यगुरुजी श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी का आदेश है कि अपनी विचारधाराओ का समावेश करते हुए वैदिक साहित्य का एक इति हास लिखूँ। वेदविषयक यह भूमिका उसी आदेशपालन का एक अंग है।

९—उपनयन सूत्रों के इस सस्करण की टिप्पणियों और अनुवाद में वेदमन्त्रों के अर्थ यावदद्य ज्ञात भाष्यकारों से अनुभूति लेते हुए भी उनसे पर्याप्त भिन्न हैं। इस में मेरा प्रयास वेंकट माधव के समान कोई नया सम्प्रदाय चालू करने का नहीं है। मैं ने केवल क्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्र के अर्थ में समन्वय के प्राचीन नियम को चरितार्थ करने का प्रयास किया है। कर्मकाण्ड के ग्रन्थों के भाष्यकार बहुधा इस नियम का पालन करने में सफल नहीं हो पाए हैं। इस में मैं न तो सफलता की उद्घोषणा करता हूँ न अर्थों की इयत्ता की। हां, एवविधता का विश्वास अवश्य है। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थ यदि इस प्रकार न किए जाएँ तो क्रियाएँ और मन्त्रों के अर्थ असम्बद्ध रह कर अभीष्ट फल देने से ही वञ्चित नहीं रहते, प्रत्युत अनिष्ट के कारण भी बन जाते हैं। अत भाष्यकारों के विभिन्न दृष्टियों से कर्मकाण्ड के प्रकरण में असगत अर्थ यहाँ अवाञ्छनीय और अप्रासंगिक हैं।

१०—उपनयन सूत्रों की टिप्पणियों में अपने अनुवाद के आधारों का देने के साथ ही भाष्यकारों के मतों का निर्देश भी किया है। यथास्थल उन की आलोचना भी की है। सस्कार की क्रियाओं आदि के मूल भाव को खोलने का प्रयत्न भी किया है। दण्ड, वस्त्र, अजिन आदि पर नई दृष्टि से सप्रमाण नए विचार प्रस्तुत किए हैं। उपनयन के सास्कृतिक महत्त्व को समझने में ये टिप्पणियाँ उपयोगी हो सकें इसी भावना से इन्हें सुविस्तृत बनाया है। अन्त में पदों और विषयों की एक अनुक्रमणिका भी दी है।

११—इस ग्रंथ में सकलित ऋग्वेद के सूक्तों के मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद प्रायः सायण और आधुनिक सम्प्रदाय के विद्वानों की शैली पर दिया है। बहुधा आधुनिक विद्वानों के अर्थों की अपेक्षा सायण के अर्थ अधिक स्पष्ट, सगत और बोधगम्य हैं। ऐसे स्थलों पर सायणीय व्याख्यान को अपनाया है। अनुवाद में हिन्दी के शब्दों का चुनाव टिप्पणियों में दिए

गए अपने सुझावों के अनुरूप करने का प्रयास भी किया है। अपने विचारों को टिप्पणियों में व्यक्त किया है, सामान्यतः उन्हें हिन्दी अनुवाद में समाविष्ट नहीं किया है। इस के दो लक्ष्य हैं —

१ विद्यार्थियों को परीक्षा की दृष्टि से मन्त्र का विवादहीन ग्राह्य अनुवाद मिल जाए। २ सामान्य पाठकों को सायणीय और आधुनिक शैली के अनुवादों का साक्षात् परिचय हो जाए। टिप्पणियों में आधुनिक विद्वानों के विचारों को समाविष्ट करते हुए नैरुक्त शैली पर ब्राह्मण ग्रन्थों और वैदिक संस्कृति के आधार पर प्रमुख पदों और पदसमूहों की व्याख्या की है। समस्त मन्त्रों का अर्थ पाठक स्वयं कर सकेंगे। टिप्पणियों में प्रदत्त ये व्याख्यान वैदिक विद्वानों के विचार के लिए अनेकविध सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इन में अनेक वेदविषयक मान्यताओं के स्थान पर नए और युक्ति-प्रमाण-संगत सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं। इसी कारण इस संकलन का नाम वेदलावण्यम् (√लू से) रक्खा गया है। यह संस्करण इस दृष्टि से अन्य संस्करणों से विलक्षण और शोधभूयिष्ठ है। विद्यार्थी इन टिप्पणियों को समझ कर परीक्षा में दे कर अधिक अंक प्राप्त कर सकेंगे।

१२—देवताओं पर लिखी गई टिप्पणियों में प्रकरणोचित अर्थ का विवेचन करने के लिए जितनी सामग्री आवश्यक थी उतनी ही दी गई है। उन के अन्य स्वरूपों और व्युत्पत्ति आदि का विवेचन सामान्यतः छोड़ दिया गया है। उन के दार्शनिक स्वरूप का परिचय डा० फतहसिंह के वैदिक दर्शन में बड़ी उत्तम रीति से दिया गया है। देवताओं के स्वरूप और व्युत्पत्ति का ज्ञान उन के ग्रंथ दी वैदिक ऐटिमोलौजी से प्राप्त किया जा सकता है।

१३—सामान्यतः आजकल के अधिकांश विद्वान् ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रवृत्त की हुई वेदभाष्यशैली की उसे अवैज्ञानिक कह कर उपेक्षा करते हैं और उन के वेदभाष्यों तथा उन की भूमिका को साम्प्रदायिक कह कर उस से दूर रहते हैं। परन्तु दयानन्दभाष्य के प्रति उन के उपरोक्त उद्गार उन के

अपने ज्ञान, मस्तिष्क और हृदय का चित्र उपस्थित करते हैं दयानन्द-भाष्य के दोषों का नहीं। यद्यपि वेदाध्ययन के ह्रसित युग में सायण और उवट-महीधर आदि ने वेदज्ञान के दीपक को प्रज्वलित रख कर हम पर महान् उपकार किया है तथापि उन के भाष्य और शैली वैदिक ज्ञान की गरिमा को पूर्ण रूप से व्यक्त करने में समर्थ नहीं हैं। यह बात विशेष रूप से कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्रों पर लागू होती है। इन मन्त्रों के अर्थों और उन के विनियोग की तुलना से उन में बहुधा कोई सम्बन्ध पता नहीं चलता है। ब्राह्मणों का मत है कि मन्त्र और क्रिया का साक्षात् सम्बन्ध है। ऐसी स्थिति में या तो मन्त्र के अर्थ में परिवर्तन किया जाए या क्रिया को बदला जाए तब ही ब्राह्मण का लेख सार्थक होगा। क्रिया परम्परा से चली आ रही है। उस में परिवर्तन से महान् अव्यवस्था आ जाती है। अतः मन्त्र के अर्थों का ही क्रिया के अनुसार करना आवश्यक हो जाता है। यह अर्थान्तर केवल स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित वेदभाष्यशैली से सम्भव है। अन्य किसी शैली से नहीं। इस तथ्य का क्रियात्मक रूप उपनयनसंस्कार में विनियुक्त मन्त्रों के इस ग्रंथ में दिए गए अनुवाद और टिप्पणियों में स्पष्टतया दिखाई पड़ेगा।

१४—अतः इस संस्करण के उपनयन में विनियुक्त मन्त्रों के अनुवाद और टिप्पणियों से यह सरलता से ज्ञात हो जायगा कि ऋषि दयानन्द का **वेदार्थ और वेदार्थशैली** भयावह और अस्पृश्य नहीं है प्रत्युत वे **प्रयोज्य अनुकरणीय, मननीय और लाभकारी हैं**। इस वेदभाष्य से अनेकों वैदिक-गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं और वेद का प्राचीन गौरव दृष्टिपथ में आने लगता है।

१५ यह ग्रन्थ आर्यसमाज आदि धार्मिक संस्थाओं के क्षेत्र में कार्य करने वाले वैदिक पण्डितों को भी कार्य करने की एक नई प्रणाली और क्षेत्र का दिग्दर्शन कराने वाला होगा। आर्यसमाज की संस्थाओं में गम्भीर वैदिक

साहित्य के सृजन की मात्रा पर्याप्त अल्प है और उस की शैली भी कुछ परिवर्तन की अपेक्षा रखती है।

१६ टिप्पणियों में पद पद पर अनेकों ग्रन्थों के प्रमाण और उद्धरण दिए हैं। बहुत से ग्रन्थों के स्थलों को देखने का सुझाव दिया गया है। **परीक्षार्थी प्रश्नपत्रों के उत्तरों में इन सब को छोड दें।** इन प्रमाणों का याद करना अनावश्यक है। यदि इस ग्रन्थ से उन में वेदाध्ययन के लिए रुचि जागृत हो गई तो ये प्रमाण उन को सहायक होंगे। यही स्थिति ब्राह्मण ग्रन्थों से उद्धृत पदों के अनेकविध अर्थों की है। उन सब को याद करना आवश्यक नहीं। यह सब सामग्री विद्वानों के विवेचन, विषय को सप्रमाण करने और आगे अध्ययन में रुचि उत्पन्न करने के लिए है।

१७ **इस ग्रन्थ में मेरे दीर्घव्यापी अध्ययन और खोजों की छाप बहुधा दिखाई पड़ेगी।** विद्वानों को इस की अनेकों पंक्तियों के पूर्ण महत्त्व को समझने के लिए मेरे पुराने लेखों और रचनाओं के ज्ञान की आवश्यकता अनुभव होगी। ऐसे स्थलों पर बहुधा अपने विचारों को कुछ विस्तार से वर्णन करने और पाटि० या कोष्ठकों में अपनी रचनाओं के सम्बन्धित स्थलों का निर्देश करने का प्रयास किया है।

१८ **ऋग्वेद के सूक्तों में बाईं ओर मन्त्रों की अविकल क्रमिक संख्या और दाईं ओर सूक्त में मन्त्र की संख्या दी है।** यजुर्वेद की संख्या जहाँ भिन्न है वहां मन्त्र के नीचे लिख दी है। **ग्रन्थ में प्रमाणों में बहुधा और अनुक्रमणिकाओं में सर्वत्र अविकल संख्या का ही प्रयोग किया गया है।**

१९ उपनयन सूत्रों के इस संस्करण में मन्त्रों पर स्वर चिह्न नहीं लगाए जा सके हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र के संस्करणों में मन्त्रों पर स्वरचिह्न दिए भी नहीं गए हैं।

२०. सूक्तों में मन्त्रपाठ पदपाठ और टिप्पणियों के पदों में स्वर दिए

गए हैं। बी० ए० और एम० ए० दोनों ही श्रेणियों में पदपाठ पूछा जाता है। अत स्वरो के चिह्नो का परिज्ञान भी नितरा आवश्यक है। वैदिक व्याकरण पर भी प्रश्न पूछे जाते हैं। वैसे भी मन्त्रो की भाषा को समझने के लिए वैदिक व्याकरण का ज्ञान परम वाछनीय है। अत इन दोनो विषयो का सक्षिप्त, ससक्त, स्पष्ट और आवश्यक परिचय यहाँ सकलित मन्त्रो से उदाहरणों के साथ ऋग्वेद के सूक्तो के अन्त में दिया गया है।

२१ इस प्रकार इस ग्रन्थ को सर्वांगपूर्ण और सभी विश्वविद्यालयों में प्रयोग किए जाने योग्य बनाया है। यदि यह सस्करण विश्वविद्यालयों मे आदृत हुआ तो और अधिक मन्त्रों और सूक्तो पर लिखने का साहस करना सभव हो सकता है।

२२ स्वतन्त्रता से पूर्व वैदिक और सस्कृत के विद्वानों में एक विशेष गुण या परिपाटी थी—दूसरो के लेखो और ग्रन्थों आदि का गम्भीर अध्ययन कर उन पर अपने-अपने विचार प्रकाशित करना और ऐसे विचारो की आलोचना प्रत्यालोचना। सद्भावनापूर्ण यह शैली अध्ययन और ज्ञान को विस्तृत करने का अत्युत्तम उपाय थी। परन्तु आज इस शैली का प्रचलन पर्याप्त कम हो गया है। इस से सद्भावना के ह्रास के साथ अहभाव भी बहुत बढ गया है। यदि कोई देव इस रचना को एवंविध सद्भावनापूर्ण आलोचना करें तो उस की एक प्रति विचारार्थ प्राप्त कर उन का परम अनुगृहीत रहूँगा।

२३. भारत के कुछ विश्वविद्यालयों में बी० ए० में वेद पढ़ाने की परिपाटी अंग्रेजो के काल से चली आ रही है। यद्यपि अंग्रेजो का लक्ष्य निर्व्याज रूप से भारतीय साहित्य और सस्कृति से न्याय करना नही था तथापि उन्हो ने वेदाध्ययन का क्रम चालू किया जो उन के शासनकाल में उत्तरोत्तर बढता गया।

२४. परन्तु स्थितियाँ बदली। अंग्रेज चले गए। स्वतन्त्रता आई।

देश ने अनेक क्षेत्रों में उन्नति प्रारम्भ की। शिक्षा का क्षेत्र भी अपवाद न रह सका। परन्तु इस उन्नति में भी वेदाध्ययन का ह्रास-सा लक्षित होता है। कई स्थानों पर बी० ए० स्तर पर वेद का पठनपाठन नहीं होता है। कई विश्वविद्यालयों में वेदप्रेमी विद्वानों के कार्यवाहक होने पर भी वेद का वर्ग नहीं है। कई स्थानों पर पाठ्य प्रणाली में वेद का वर्ग होने पर भी अध्यापन की व्यवस्था नहीं है। परिणामतः आज वेद से सुपरिचित विद्यार्थी विश्वविद्यालयों से अपेक्षाकृत कम निकलते हैं।

२५ आज का विद्यार्थी हिन्दी माध्यम से पढ़ना चाहता है। इस माध्यम में वेद पर ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। इस कारण भी विद्यार्थी वेदाध्ययन से घबराते हैं। उन के लिए उपयुक्त सामग्री हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत करना आधुनिक अध्यापक का पवित्र कर्त्तव्य है।

२६ गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रारम्भिक संचालकों ने पिछले वर्ष का पाठ्यक्रम इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अनुसार निर्धारित किया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी० ए० में वेद का पर्याप्त अंश पढ़ाया जाता है। परन्तु वहां के किसी अध्यापक ने अथवा अन्य किसी ने उस भाग को हिन्दी या अंग्रेजी के माध्यम से विद्यार्थियों और जनता तक पहुँचाने का प्रयास नहीं किया। श्री रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री और डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल ने उपरोक्त वेदभाग को सायण और उव्वट आदि के भाष्यों और एक भूमिका के साथ प्रकाशित कर पर्याप्त उपकार किया है परन्तु उस से अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति पर्याप्त दूर रही है।

२७ इधर गोरखपुर विश्वविद्यालय ने इस वर्ष अपने पाठ्यक्रम में पर्याप्त परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप वेद का पाठ्यक्रम बहुत बदल गया है। इस में अब केवल ऋग्वेद के तीन सूक्त १।१५४ २।१२ और १०।९० रह गए हैं। साथ ही इस में पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों को भी नियत किया गया है। यह पाठ्यसामग्री पूर्व की अपेक्षा

किञ्चित् कम होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस में विद्यार्थियों को वेद के ईश्वर और सृष्टिविषयक दार्शनिक विचारों, प्राचीन मध्यकालीन और आधुनिक सम्प्रदायों और शिक्षा-क्षेत्र में भारतीय वैदिक संस्कृति की पर्याप्त झाँकी मिल जाती है। वैसे भी थोड़े पाठ का गम्भीर और विस्तृत अध्ययन लम्बे पाठ के चलते अध्ययन से कोटिश उत्तम है। अत पाठचक्रम का यह परिवर्तन अवाञ्छनीय नहीं है।

२८ जैसा ऊपर लिखा जा चुका है इस समय तक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं है जो विद्यार्थियों को रोचक और गम्भीर शैली में वेद के विषय में विद्वानों के विचारों को पहुँचा सके। पिछले वर्ष के पाठचक्रम के परिवर्तन के फलस्वरूप भी एक नए सग्रह की आवश्यकता हो गई है। इस रचना में इन दोनों ही लक्ष्यों को पूरा किया गया है। यदि विद्यार्थियों को इस से अभीष्ट सहायता मिल सकी और उन में वेदाध्ययन की प्रवृत्ति जागृत हो सकी, तथा वैदिक विद्वानों और जनता को अपने-अपने अनुरूप सामग्री मिल सकी तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

२९. इस सस्करण के तैय्यार होने में पर्याप्त समय लगा है। शीघ्रता के लिए कई प्रेसों में छपाई का प्रबन्ध कराने पर भी इस के प्रकाशन में विलम्ब होना स्वाभाविक था। मेरी अपनी व्यस्तताएं और अध्यापनकार्य भी इस देरी में सहायक रहे हैं। इस बीच में इस ग्रन्थ में सकलित अंश के अन्य सस्ते सस्करण भी निकले हैं। इस सस्करण की उन से तुलना ही इस की उपादेयता को हृदयगम कर देगी। साथ ही मूल्य के अन्तर का भी समाधान कर देगी।

३०. इस ग्रन्थ के मुद्रण में भारत प्रेस, ज्योतिष प्रकाश प्रेस और भार्गव-भूषण प्रेस ने बड़ी तत्परता से कार्य किया है। अन्तिम दो प्रेसों ने इस पुस्तक में उन के यहाँ छपे भाग के लिए नियमित दरों पर कागज भी दिया है। इस के लिए उन का परम अनुगृहीत हूँ।

३१ स्थानीय गीता प्रेस की दुकान में इस पुस्तक के लिए कागज लेने का प्रयास किया गया। परन्तु उन्होंने असमर्थता प्रकाशित की। श्री करमचन्द थापर के कर्मचारी से सदा कागज न होने का उत्तर मिला। अब इस में बहुत-सा कागज पर्याप्त अधिक दामों पर ले कर लगाया गया है। विभिन्न स्थानों से विभिन्न मिलों का कागज होने से उन में अन्तर होना स्वाभाविक था।

३२ नेशनल प्रेस और मास्टर प्रेस का भी परम आभारी हूँ। उन के सहयोग के बिना पुस्तक इतनी शीघ्र छपनी सम्भव नहीं थी।

३३ वेदभाग की पदानुक्रमणिका की परचियाँ मेरे प्रिय विद्यार्थियों— श्री अभयनन्दन पाण्डेय, श्री उमाशंकर शुक्ल और श्री रामसुरेश पाण्डेय ने बनाई।

३४ ग्रन्थरचना-काल में रोगग्रस्त मेरी यज्ञमय पत्नी श्री शकुन्तला गुप्ता ने अपनी उपेक्षा को महत्व स्वीकार कर मेरी परम सहायता की है। उन्होंने ही इस ग्रन्थ के मुद्रण आदि की व्यवस्था की देखभाल भी की है। प्रेस से प्रूफ लाने ले जाने में मेरे पुत्र चि० सुबोधकुमार गुप्त और मेरी पुत्री चि० सुकेशीकुमारी गुप्ता ने बहुत सहायता की है।

३५ जैसा पहले संकेत किया गया है इस रूप में इस ग्रन्थ की रचना की प्रेरणा अपने गुरु डा० नरेन्द्रनाथ चौधरी के आदेश से मिली और अनुभूति डा० फतहसिंह की रचनाओं से। इन्हीं प्रेरणाओं के कारण यह पुस्तक रची गई अन्यथा सर्वत्र मात्सर्य के वातावरण में ईर्ष्या और द्वेष मोल लेने और आर्थिक लाभ की मृगमरीचिका में भटकने आदि के अतिरिक्त सांसारिक दृष्टि से ऐसे ग्रन्थों की रचना से और कोई लाभ होता है यह संशयास्पद है। श्री भैरवनाथ झा उप कुलपति गोरखपुर विश्वविद्यालय की गुणग्राहकता ने भी मुझे इस धारा में गतिशील किया है।

३६ इस ग्रन्थ के प्रणयन म म न अनेक ग्रन्था म सहायता ली है। अधिकाग ग्रन्था का निर्देश पाद टिप्पणिया और म न्थसूची म कर दिया गया है। फिर भी वस्न म ग्रन्था का नाम नहा दिया गया है।

३७ इन सब का हृदय म परम आभारी हू।

३८ स्खलन मानव स्वभाव है। अत इस म अनेक भूल रही हागी। उन के उत्तरात्तर परिष्कार का प्रयास करना मेरा कर्त्तव्य और लक्ष्य है। गाप ईश्वराधीन है। जा विन गुणग्राही जन उन पर दृष्टिपात कर सुधार का माग दिखाएंगे उन का परम ऋणी रहूगा।

३९ अन्त म परम पिता परमात्मा का काटिश धन्यवाद है। उन की कृपा स ही ता य सब विचार मिल है—

उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचम
उत त्व शृण्वन्न शृणात्येनाम ।
उता त्वस्मै तन्व विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासा ॥

४ हीरापुरी गारखपुर
२३।२।५९

सुधीरकुमार गुप्त



वेदलावण्ये

पारस्करगृह्यसूत्रे उपनयनसूत्राणि

भूमिका

संस्कार

१—संस्कार पद सम् + कृ करना से बनता है—संवारना, शुद्ध करना, निखारना, अपने अनुरूप करना, अतः प्रभावित करना। प्राणी जो कुछ भी करता, सुनता, देखता और अनुभव करता है उस का प्रभाव उस के मस्तिष्क में रह जाता है। शनैः शनैः यह प्रभाव जमा होते-होते एक दृढ रूप प्राप्त कर लेता है और प्राणी को अपने वश में कर कठपुतली के समान *अपनी धारा में चलाने लग जाता है। प्राणी उस कर्म से बचना चाहता* हुआ भी अज्ञात रूप में उसे करता जाता है। ये अज्ञात शक्तियाँ ही संस्कार कहलाती हैं।

२—अतः संस्कार मानव की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो अनेक परिस्थितियों में उत्पन्न होती हैं। मानव अकेला न विचरण करता है न सोचता है। वह सामाजिक प्राणी है। अन्यों से प्रभावित होता है और उन को प्रभावित करता है। इस प्रकार एक जैसी प्रवृत्तियों और विचारधारा वाले व्यक्तियों को एक समान समाज का अंग समझा जाता है और इन प्रवृत्तियों और विचारों को ही उस समाज और उन-उन व्यक्तियों की संस्कृति कहते हैं। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्य के संस्कार ही उस की और उस के समाज की संस्कृति हैं।

३—वैदिक संस्कारों के समय कुछ क्रियाएँ की जाती हैं, मंत्र बोले जाते हैं और संस्क्रियमाण व्यक्ति के मस्तिष्क पर उन बातों का प्रभाव डाला जाता है जिन से वह संस्क्रियमाण व्यक्ति अब तक अपरिचित था। संस्कृत व्यक्ति उस अपरिचित कर्म के प्रभाव को तो ग्रहण करता ही है, साथ ही वह यह भी अनुभव करता है कि वह समाज के अन्य व्यक्तियों से पृथक नहीं

है, उन के सदृश ही है। संस्कार-काल में प्राप्त सम्मान उस में उत्साह और स्फूर्ति उत्पन्न कर देते हैं और वह अपने को किसी कर्मविशेष के योग्य और उस के लिए अधिकृत समझने लगता है। उपस्थित जन भी संस्कार की क्रिया से प्रभावित होते हैं और उन्हें अपने समय में किए गये संस्कार की क्रियाएँ याद आ जाती हैं।

४—प्रत्येक संस्कार में अन्य विशिष्ट कर्मों के साथ यज्ञ भी किया जाता है। यज्ञ का एक प्रत्यक्ष कार्य है—अग्नि में पड़ी हुई वस्तु जिस प्रकार सूक्ष्म परमाणुओं में विभक्त हो कर सर्वत्र फैल जाती है और सब का कल्याण करती है उस प्रकार संस्कृत और उपस्थित जन भी अपने को जनहित में लगाने की प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

५—कुमारावस्था में बालक में शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं। उसमें शनैः शनैः कामविकारों का उदय भी होता है। ये परिवर्तन और विकार पूर्वजों द्वारा सयमित किए जाने परम आवश्यक हैं अन्यथा इस अवस्था में बालकों में उच्छृंखलता के प्रवेश कर जाने से समाज की व्यवस्था को महान् क्षति पहुँचती है। अतः उसे आत्मसंयम के साथ अपने प्रति और समाज के प्रति कर्त्तव्यों की शिक्षा और उन पर आचरण कराने का अभ्यास डालना परम आवश्यक है। यह अभ्याससम्पादन उपनयन से प्रारम्भ हो कर शिक्षाकाल में सम्पादित किया जाता था।

६—पारस्कर का अभिमत उपनयन संस्कार[1] की विधियों का संक्षेप आगे दिया जायगा। इन का जो व्याख्यान टिप्पणियों में दिया गया है उस से

---

१ गृह्यसूत्रों में विद्यारम्भ संस्कार का कोई उल्लेख नहीं है। प्राचीनकाल में सम्भवत. इनकी आवश्यकता नहीं थी। वहाँ माता-पिता की जागरूकता से खेल-खेल में बालक अक्षर-लिपिज्ञान आदि प्राप्त करते रहे होंगे। अत उपनयन से ही उनकी शिक्षा प्रारम्भ की जाती थी। जैसा

यह अनायास ही समझा जा सकता है कि उपनयन की समस्त क्रियाओं में गूढ़ भाव निहित हैं। ब्रह्मचारियों को उन सब भावों को हृदयगम कराने से वे न केवल आत्मसंयमी और कुल के दीपक सिद्ध हो सकते हैं प्रत्युत राष्ट्र और मानवता के परम हितकारक बन सकते हैं। उनमें न्यूनता और क्षुद्र आत्मीयता साम्प्रदायिकता और स्वार्थपरता की भावनाएँ[1] समाप्त हो कर उदात्त भावनाओं में परिवर्तित हो जाती हैं। आजकल उपनयन संस्कार तो किए जाते हैं परन्तु उस काल में उपनयन की विधियों का भाव और उन का गम्भीर सन्देश बालकों को हृदयगम नहीं कराया जाता है। आज की शिक्षा में भी आधुनिक शिक्षा प्रणाली में उदात्त भावों के व्याख्यान और आचरण के लिए गौणातिगौण स्थान होने से युवकों की प्रवृत्तियाँ बहुधा अवाछनीय धाराओं में बहती हुई दिखाई पड़ती हैं।[2] उपनयन का ठीक प्रकार से सम्पादन और उस के उत्तर काल में बालकों के चरित्र निर्माण और कर्त्तव्य-परायणता पर ध्यान देने से देश के सामने उपस्थित अनेक समस्याएँ सुविधा से हल हो सकेंगी।

टिप्पणियों में लिखा गया है आयु का विधान धीरे धीरे पाच वर्ष से आगे बढ़ता गया। कालान्तर में घरेलू शिक्षा सम्पन्न न होने पर विद्यारम्भ संस्कार भी चालू हो गया—हिंदू-संस्कार राजबली पाण्डेय पृ० १३७ १४० भी देखें।

१ ऐसे व्यक्ति वेद की परिभाषा में परमातिपरम पापी होते हैं—केवलाघो भवति केवलादी। अत ये महापातकियों से भी निकृष्ट होते हैं।

२ डा० राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि पहले उपनयन संस्कार सब के लिए अनिवार्य नहीं था। (पृ० १५७)। इस का धार्मिक महत्त्व था सामाजिक नहीं। उन का यह लेख विचारणीय है। आगे दिए संहिताओं में उपनयन विषयक विवेचन से और ब्राह्मणों के विवरण की दृष्टि में इसे मानना संभव नहीं। डा० पाण्डेय का यह भी कहना है कि कालान्तर में

अन्य जातियों में संस्कारों की सत्ता

७—समार की समस्त जातियों में संस्कारों का विशेष महत्त्व पाया जाता है। अविकसित सरल मस्कृति वाली जातियो में कुमारों का अपनी मस्कृति में सस्कार सार्वत्रिक है। इस से वे अपनी सामाजिक एकता को अक्षुण्ण बनाए रखते हैं। जब उन की संस्कृति या हितों पर अन्यो के सम्पर्क आदि से आघात पहुँचता है, तब वे इस उपनयन सस्कार को परम कट्टरता से सम्पादित करते हैं। वहाँ उपनयन सस्कार न कराने वाले व्यक्तियो और बालको का तिरस्कार होता है। इन जातियों में यह विश्वास है कि सभ्यता का विकास बालक में एकदम होता है और उपनयन से बालक का भूत समाप्त हो कर उस का नया सामाजिक जीवन आरम्भ होता है। अब वह अपने से पहली और आगे आनेवाली पीढियों के बीच एक कड़ी बन जाता है और अपनी समाज के हित का साधक। उन के दो प्रमुख लक्ष्य होते हैं—आत्म-रक्षा और अन्न का संग्रह। इसके लिए ही वे प्रमुख रूप से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इन जातियों में शिक्षाकाल में चरित्रनिर्माण, परम्परा, स्वास्थ्य और क्रिया-कलाप पर बहुत बल दिया जाता है।

८—इन जातियों में उपनयन की विधियों में कुमारों की भावनाओं को जागृत करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है—उन्हें सताया जाता है, सोने, कपड़े पहनने आदि से वञ्चित कर दिया जाता है और उन से समाज और मुखिया की रक्षा की प्रतिज्ञा कराई जाती

उपनयन को अनिवार्य बनाने से अनेकों दोष उत्पन्न हो गए। यहाँ तक कि वृक्षों आदि का भी उपनयन किया जाने लगा (पृ० १५८-१६०)। परन्तु यह अनिवार्यता का परिणाम नही, प्रत्युत उपनयन के सत्य स्वरूप को न जानने, अश्वत्थ आदि में अभिमानी देवता और धार्मिकता की कल्पना आदि अज्ञान-जन्य अन्धविश्वास का परिणाम था।

है। इस परीक्षा में असफल बालकों का वध कर दिया जाता है अथवा समाज में निम्न बना लिया जाता है।

९—सभ्य और विकसित जातियों में भी उपनयन को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। ईसाइयों, यहूदियों, मुसलमानों और अन्य सभी हिन्दुओं से भिन्न जातियों में अपने-अपने ढंग से उपनयन करके उन्हें अपने धर्म का ज्ञान कराया जाता है। शिक्षा के साधनों के कारण इन जातियों का उपनयन विधियां अविकसित जातियों के समान उग्र नहीं होतीं परन्तु कहीं-कहीं खतना (=अगच्छेदन) आदि की विधियों में उन का अवशेष पाया जाता है।[1]

उपनयन संस्कार की प्राचीनता

१० आर्यसमाज में उपनयन संस्कार प्राचीनतम काल से चला आ रहा है। इस का विस्तृत वर्णन गृह्यसूत्रों में उपलब्ध होता है। परम्परागत आचार का ग्रन्थ होने के कारण इन में अपनी विधियों और विनियोगों के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किए गए हैं।

११ डा० राजबली पाण्डेय लिखते हैं कि यद्यपि आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में सूक्तों का संकलन कर्मकाण्ड की दृष्टि से यथाविधि नहीं है तथापि वहां एतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ धार्मिक विधिविधानों से सम्बद्ध सूक्त मिलते हैं जिन में गर्भाधान, विवाह और अन्त्येष्टि का वर्णन है।

---

१ विस्तार के लिए एनसाइक्लोपीडिया औफ सोशल साइन्सिज एनसाइक्लोपीडिया औफ रिलीजन एण्ड एथिक्स में इनिश्येशन, सोश्यल औरगनाइजेशन, एडोलैसैंस, एडयूकेशन आदि पर लेख, एन मिलर का चाइल्ड इन प्रिमिटिव सोसाइटी (अध्याय १०) और एच० वे॰ [illegible] मिटिव सीक्रट सोसाइटीज आदि देखें।

वहाँ धार्मिक विधिविधानों में विनियोज्य कुछ मन्त्र भी पाए जाते हैं। वहाँ प्रासंगिक रूप से समाविष्ट अनेक सदर्भों में संस्कारों पर प्रकाश पड़ता है।

१२ ऋग्वेद में उप+ √ नी के रूपों का प्रयोग पाँच बार हुआ है। एक मन्त्र[1] में यह वनस्पति के सम्बन्ध में एवं आप्रीसूक्त में आया है। इस मन्त्र के भाष्यकारों के अर्थों से उपनयन पर कोई प्रकाश प्राप्त नहीं होता है। परन्तु इस से पहले दो मन्त्रों[2] को साथ ले कर विचार करने से इन में उपनयन और उस के परिणामस्वरूप शिक्षा का वर्णन स्पष्ट मालूम पड़ता है। एक[3] अन्य मन्त्र में उपनीता-पद ब्रह्मजाया का विशेषण है। उस से अगले मन्त्र में देवों का एक अंग ब्रह्मचारी बृहस्पति ब्रह्मजाया को पत्नी रूप में प्राप्त करता है।[4] इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यदि सायण के द्वारा उद्धृत आख्यान के बिना इन मन्त्रों को पढ़ें तो यहाँ पर बालक और बालिकाओं के उपनयन, ब्रह्मचर्य पालन और अध्ययन का उल्लेख मिलता[5] है। इस अध्ययनयज्ञ में देव मनुष्य और राजा—सभी सहयोग देते हैं। स्वा० दयानन्द सरस्वती ने अनेक मन्त्रों में वसु रुद्र और आदित्य को एतत्संज्ञक ब्रह्मचारी के अर्थ में लिया है। इन के भाष्य से वेद में अनेक स्थलों पर शिक्षासम्बन्धी लेख मिलते हैं।

१३ अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त[6] ही ब्रह्मचर्य पर मिलता है। वहाँ एक सूक्त[7] मेखलाबन्धन पर भी है। ब्रह्मचर्य सूक्त में उपनयन, उपनयन से

---

१ ऋ० २।३।१०। २ ऋ० २।३।८, ९। ३ ऋ० १०।१०९।४। ४ वही, म० ५। ५ वही, म० ६। इस में राजानः सत्यं कृण्वानाः को देवों और मनुष्यों का विशेषण लेना अनुचित न होगा क्यों कि अनेक बार दैवी और मानुषी विशा का ही युगपत् वर्णन मन्त्रों में प्राप्त होता है। इस मन्त्र में पुनः तीन बार आया है और एक बार उत (जिस का अर्थ भी पुनः हो सकता है)। इस दृष्टि से चार देव, मनुष्य, राजन् और सत्यकारी (क्रमशः—ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय और शूद्र—?) का निर्देश भी माना जा सकता है। ६ अथ० ११।७। ७ अथ० ६।१३३।

दूसरे जन्म की प्राप्ति, पृथिवी द्युलोक और अन्तरिक्ष रूपी तीन समिधाओ मेखला कृष्ण वस्त्रा, दीर्घ श्मश्रुओ भिक्षा अग्नि सूर्य चन्द्रमा मातरिश्वा और जलो में समिधादान वनस्पति सवत्सर और ऋतुओ के ब्रह्मचारी से सम्बन्ध और स्नातक का वर्णन किया गया है। मेखलासूक्त में मेखला की विशेषताओ गुरु से दान और ब्रह्मचारी से बन्धन का वर्णन है।

१४ गोपथ ब्राह्मण में[1] उपनयन का थोडा सा विवरण मिलता है और शतपथ ब्राह्मण[2] में भी। दोनो में कुछ भेद लक्षित होता है। डा० राजबली पाण्डेय ने शतपथ ब्राह्मण में अजिन या मृगचर्म का उल्लेख[3] बताया है परन्तु यह विचारणीय है। उन के निर्दिष्ट स्थल पर अजपभ के अजिन को बिछाने का वर्णन है। वही आगे चल कर इस अजपभ का प्रजापति से तादात्म्य बताया गया है।[4] अत यह अजिन चर्म नही रहा होगा। इसी प्रकरण में औदुम्बरी होने का वर्णन है। यह उदुम्बर अन्न रूप ऊर्ज ही है।[5] गृह्यसूत्रो मे औदुम्बर दण्ड वैश्य का बताया गया है जो अन्नोत्पादन का उत्तरदायी था। इस ब्राह्मण मे वाजपेय यज्ञ मे यूपारोहण का विधान है। यह क्रिया ब्रह्मचर्यव्रत समाप्त कर के विवाह कर गृहस्थ बनना ही है। यह सब वर्णो पर चरितार्थ होती है किसी एक वर्ण के लिए नही है। ताण्ड्य महाब्राह्मण में व्रात्यो और व्रात्यस्तोम का वर्णन है। इस व्रात्यस्तोम से पतितसावित्रिकों को शुद्ध कर के पुन आर्यसमाज में ग्रहण कर लिया जाता था।

१५ उपनिषदो में ब्रह्मचर्याश्रम की अनेक झाकिया मिलती हैं। यहाँ पर शतपथब्राह्मण के समान उपनयनविधि का वर्णन नही है प्रत्युत ब्रह्मचारी के गुरुकुल में वास[6] गोपालन गुरु की सेवा गुरुकुल में प्रवेश

---

१ गो० १।२।१ ८। २ श० ११।३।३।१। ३ श० ५।२।१।२१। ४ श० ५।२।१।२४—प्रजापतिर्वा एष यदजपभ। ५ श० ५।२।१।२३। ६ पाउ० सूस० ९०। ७ आगे सूस० १ (२11) में सुकाशिना टिप्पणिया देखे। इस से सुकाशिनी टिप्पणिया में प्रकाशित भाव—समस्त प्रजा–विश् वैश्य है—की पुष्टि होती है।

अध्ययन और अध्यापन विषयक प्रतिबन्ध शिष्य के गुण ब्रह्मचर्य की व्रत विधियाँ गायत्री के उपदेश की रीति और उपदेश तथा गुरुकुल छोड़ने समय उपदेश आदि का वर्णन पाया जाता है।

१६ गृह्यसूत्रों में मानव के जीवन में होनेवाले—गर्भाधान पुंसवन, सीमन्तोन्नयन जातकर्म नामकरण निष्क्रमण अन्नप्राशन चूडाकर्म उपनयन समावर्तन विवाह और अन्त्येष्टि—संस्कारों का विस्तृत विधान किया गया है। पीछे के साहित्य में भी बहुत-सी पद्धतियाँ प्रयोग और कारिकाएँ आदि लिखी गई हैं। इन में भी संस्कारों की विधियों का सविस्तार वर्णन है परन्तु मन्त्रों और विनियोगों में समन्वय और विधियों के सांस्कृतिक महत्त्व आदि पर प्रकाश डालने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। ऐसा प्रयास स्वा० दयानन्द सरस्वती की संस्कार विधि में बीज रूप में और पं० आत्माराम की संस्कारचन्द्रिका में सविस्तार लक्षित होता है। स्मृतियों में सामान्यत संस्कारविषयक विनियोगों के बिना ही विधियों का वर्णन है। पुराण आदि पिछले साहित्य में भी संस्कारों का परिचय उपलब्ध होता है। कुछ सामग्री परम्परा से प्रचलित आचारों से भी मिलती है।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्र

१७ उपनयन संस्कार का रूप ऋग्वैदिक काल में ही विकसित हो गया प्रतीत होता है। अथर्ववेद के वर्णनों में यह पूर्ण विकसित रूप में पाया जाता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में उपनयन समस्त प्रजाओं के लिए बताया गया है। वस्तुत इन वर्णनों में समस्त मानव जाति को एक माना है। उस में कोई भेद नहीं समझा गया है।

१८ शतपथब्राह्मण में उपनयन संस्कार की विधियाँ वैदिक वर्णनों से साम्य रखती हैं। यहाँ समस्त मानवजाति को ब्राह्मण मान कर उपनयन के धर्म बताए गए हैं।

१९ पारस्कर गृह्यसूत्र ने प्रमुखतया शतपथब्राह्मण की विधियों को ही अपनाया है। दोनों की पदावली में घनिष्ट साम्य है। कुछ उदाहरण ये हैं—

सूत्र०	पारस्करीय पदावली	शतपथब्राह्मण की पदावली
७	ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति	ब्रह्मचर्यमागामित्याह।
२८	अथास्य दक्षिण हस्त गृहीत्वाह का नामासीति।	अथैनमाह को नामासीति। अथास्य हस्त गृह्णाति।
३१	इन्द्रस्यब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति।	इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तवासाविति।
३२	अथैनं भूतेभ्य परिददाति।	अथैनं भूतेभ्य परिददाति।
३३	प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददाम्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्य परिददामि द्यावापृथिवीभ्या त्वा परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्य परिददाम्यरिष्ट्या इति।	प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददामि अद्भ्यस्त्वौषधीभ्य परिददामीति। द्यावापृथिवीभ्या त्वा परिददामीति विश्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्य परिददाम्यरिष्ट्या इति।
३६ ३८	ब्रह्मचार्यसि। अपोऽशान। कर्म कुरु।	ब्रह्मचार्यसीत्याह। अपोऽशान। कर्म कुरु।
४१	समिधमाधेहि।	समिधमाधेहीति।
३९ ४२	मा दिवा सुषुप्था। अपोऽशान। इति।	एतदाह—मा सुषुप्था इति। अपोऽशानेति।

२० इसी प्रकार पारस्कर के बहुत से अन्य सूत्र शतपथब्राह्मण की पदावली ही हैं। शतपथब्राह्मण ने कतिपय विधियों का भाव या महत्त्व वर्णित किया है। पारस्कर ने इन स्थलों को निकाल दिया है। साथ ही कुछ विधियों को छोड़ भी दिया है। जो विधियाँ अपनाई हैं उनके क्रम में भी कुछ आगा-पीछा कर दिया है।

२१ पारस्कर ने कुछ ऐसे विधान भी दिए हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थ में नहीं हैं जैसे विभिन्न वर्णों के आयु, दण्ड, वस्त्र, मेखला आदि में भेद। शतपथ ब्राह्मण ने सावित्री के उपदेश के लिए विभिन्न अवधियां (वर्ष छै मास आदि-सूत्र० ४६-४७) का विधान सभी ब्रह्मचारियों के लिए किया है जब कि भाष्यकारों के अनुसार पारस्करीय विधान ब्राह्मणेतर ब्रह्मचारियों के लिए है। पारस्कर के गृह्यसूत्र में भी कतिपय ऐसे सूत्र और विधान हैं जो पारस्कर ने स्वीकार नहीं किए हैं परन्तु पीछे के लोगों ने अन्य सूत्रों में से लेकर इन में जोड़ दिए हैं। इन में से कुछ स्थल तो सर्वसम्मति से प्रक्षिप्त माने गए हैं। हो सकता है शेष में भी कुछ प्रक्षिप्त अंश हों। प्रक्षिप्त स्वीकृत अंश इस संस्करण में कोष्ठकों में दिखाए गए हैं।[1]

पारस्करीय उपनयन विधि

२ ब्राह्मण के गुणों के अभिलाषी बालक का उपनयन संस्कार आठ वर्ष की अवस्था में, क्षत्रिय गुणों के अभिलाषियों का ग्यारह वर्ष की अवस्था में और वैश्य गुणों के अभिलाषियों का बारह वर्ष की आयु में होना चाहिए। यदि इन आयुओं पर उपनयन सम्भव न हो तो सुविधानुसार कराया जा सकता है परन्तु इसकी चरम अवधि ब्राह्मण गुणाभिलाषी के लिए सोलह वर्ष क्षत्रिय गुणाभिलाषी के लिए बाईस वर्ष और वैश्य गुणाभिलाषी के लिए चौबीस वर्ष की आयु है। इस के पश्चात् वे सावित्री से वञ्चित हो कर गायत्री के उपदेश और अन्य सामाजिक सम्पर्कों से बहिष्कृत कर दिए जाएँ। प्रायश्चित्त कर के वे उपनयन करा सकते हैं। जिस की तीन पीढ़ियों तक उपनयन न हुआ हो उन्हें व्रात्यस्तोम करना पड़ता है।

२३ ब्राह्मणों को भोजन कराने के पश्चात सिर मुण्डवा कर अलङ्कृत

१ इस में अन्तिम कण्डिका सारी प्रक्षिप्त है। मुद्रण में कोष्ठक लगने रह गए हैं।

बालक को यज्ञवदी पर लाते है। वह बालक पश्चिम की ओर बैठ कर कहता है—मैं ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ हूँ। मैं ब्रह्मचारी हो जाऊँ। आचाय येनेन्द्राय' मन्त्र से वस्त्र-परिधान इय दुरुक्त अथवा युवा सुवासा' मन्त्र मे अथवा चुप चाप मेखलाबन्धन (यज्ञोपवीत मन्त्रों से) यज्ञोपवीतपरिधान, 'मित्रस्य चक्षु' से अजिनग्रहण यो मे दण्ड मन्त्र से दण्डधारण कराते हैं। आपो हि ष्ठा आदि तीन मन्त्रो मे जल से अपनी अजलि द्वारा बालक की अञ्जलि को भरता है। तच्चक्षु मन्त्र से सूय को दिखाता है। मम व्रते' मन्त्र स दाहिने कन्धे और हृदय को छू कर अनुकूलता की भावना कर के दाहिना हाथ पकड कर पूछता है—तुम्हारा नाम क्या है। ब्रह्मचारी नाम बताता है। आचार्य कहता है कि तुम इन्द्र अग्नि और मेरे ब्रह्मचारी हो। अब प्रजापतये त्वा आदि म भूता से कुशलक्षम की प्राप्ति की कामना कर के अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है। अब बालक को कुछ खिला कर ब्रह्मचयपालन आचमन और कम करन दिन म न मान प्रश्न का उत्तर दने और हवन करने का उपदेश देता है।

२४ अब आचाय बालक को अपने सामने वेदी के उत्तर अथवा दक्षिण की ओर बिठा कर सावित्री का उपदेश करता है। ब्राह्मणगुणाभिलापी को गायत्री छन्द वाली सावित्री क्षत्रियगुणाभिलापी को त्रिष्टुभ छन्द वाली सावित्री और वैश्यगुणाभिलाषी को जगती छन्द वाली सावित्री का अथवा सब को ही गायत्री छन्द वाली सावित्री का उपदेश किया जाता है। गायत्री के उपदेश के पश्चात अग्नि को समिधादान अग्नसुश्रव मन्त्र स परिसमूहन अग्नि की प्रदक्षिणा खड हो कर अग्नय समिधमाहापम मन्त्र से समिधाधान कर के फिर पहले के समान परिसमूहन और पयुक्षण करे। अब हाथ तपा कर 'तनूपा अग्नेऽसि और मेधा मे देव सविता मन्त्रा से मुख को मले। अपने-अपने के वर्ण अनुसार सम्बोधन पूवक पहले माता से फिर अन्य इन्कार न करनेवाली स्त्रियो से भिक्षा माग। उसे गुरु को दे कर दिन भर मौन रह। सायकाल जगल से गिरी हुई सूखी समिधाएँ ला कर अग्नि मे डाल कर ही बोले।

२५ ब्रह्मचारी पृथिवी पर सोए। अधिक खार और नमक न खाए। सदा दण्ड रक्खे, गुरु की सेवा, हवन और भिक्षावृत्ति किया करे। शराब मांस, हानिकारक स्नान, ऊँचा बैठना, मैथुन झूठ और चोरी—इन से बचे। यदि आचार्य लेटे हुए, बैठे हुए, खड़े हुए अथवा चलते हुए को बुलाएँ तो क्रम से बैठ कर, उठ कर, चल कर और दौड़ कर उन की बात सुने। ऐसा व्यवहार करने पर ब्रह्मचारी की ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती है।

२६ विभिन्न वर्णों के दण्ड आदि इस प्रकार हैं —

	ब्राह्मण के लिए	क्षत्रिय के लिए	वैश्य के लिए	सब के लिए (वैकल्पिक)
वासस् (वस्त्र)	सन के	रेशम के	भेड़ की (ऊन) के।	
उत्तरीय अजिन	एणी की	रुरु की	अजा या गो की।	गो की
रशना	मूंज की अथवा कुश अश्मन्तक बल्व की	धनुष् की	मूर्वा की	
दण्ड	पलाश का	विल्व का	उदुम्बर का	सब ही लकड़ियाँ

२६अ वेदाध्ययन के लिए अड़तालीस वर्ष की आयु पर्यन्त ब्रह्मचारी रहे। यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक वेद का अध्ययन बारह-बारह वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर करे। यदि ऐसा भी न हो सके तो जब तक वेद को पूरा न पढ़ ले ब्रह्मचारी रहे।[1]

२७ अध्ययन समाप्त कर चुकने वाला स्नातक होता है। ये तीन प्रकार के होते हैं—१ विद्यास्नातक–केवल वेद को पढ़ कर संसार में प्रवेश करने वाला २ व्रतस्नातक—ब्रह्मचर्य की अवधि तो पूरी कर लेता है परन्तु

---

१ यावद्ग्रहणम् का यह अर्थ भी हो सकता है—ग्रहण तक, समझने तक। अर्थात् जब तक पढ़ सके तब तक पढ़े। जब न पढ़ सके, तो छोड़ दे।

वेदाध्ययन पूरा नही होता। ३ विद्याव्रतस्नातक—जो वेदाध्ययन और ब्रह्मचर्य की अवधि—दोनों को पूरा कर लेता है।

२८ ब्राह्मण १६ वर्ष की आयु तक, क्षत्रिय २२ वर्ष की आयु तक और वैश्य २४ वर्ष की आयु तक उपनयन न कराने पर गायत्री के उपदेश से वञ्चित हो जाते हैं। यही नही। इन के साथ न व्यवहार किया जा सकता है, न इन का उपनयन। इन का अध्यापन भी बन्द कर दिया जाता है। ऐसे व्यक्तियो की तीन पीढ़ी तक यह स्थिति बनी रहने पर चौथी पीढ़ी के उपनयन आदि निषिद्ध हैं, परन्तु व्रात्यस्तोम कर के ये पुन उपनयन और अध्यापन के पात्र हो जाते हैं।

पारस्करीय विधियों में प्रक्षेप

२९ उपर्युक्त विधि मे कुछ ऐसी बातें भी मिला दी गई हैं जो पारस्कर ने नही लिखी हैं। ये इस प्रकार हैं—

१ यज्ञोपवीत-परिधान के लिए यज्ञोपवीत परम पवित्रम् आदि मन्त्र।

२ मित्रस्य चक्षु आदि मन्त्र से अजिनदान।

३ अगालम्भन और त्रिपुण्ड तिलक लगाना।

४ उपनीत ब्रह्मचारी के लिए चोटियो, सावित्र व्रत—छै और तीन रात तक या तुरन्त ही सम्पन्न होने वाला—तीन बार मीठे की आहुति दे कर पाँच सावत्सरिक वेदव्रत—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौल्भ और गोदान का आचरण और व्रतो की समाप्ति पर अवगुण्ठनी का विसर्जन और गोदान।

पारस्कर और आश्वलायन की विधियों में भेद

३० ऋग्वेद के गृह्यसूत्रकार आश्वलायन की उपनयन विधि मुख्यत पारस्कराचार्य की विधि से मिलती-जुलती है। दोनों के सूत्रो मे शब्दावली भी समान-सी है। दोनो मे कुछ भेद भी हैं, जो इस प्रकार हैं —

(१) आश्वलायन लिखते हैं कि उपनयन के लिए बालक अपने-अपने वर्णों के लिए विभिन्न रंग के वार वस्त्र अथवा अपने-अपने वर्ण के लिए विहित अजिन पहन कर यज्ञवेदी पर आए।

(२) आश्वलायन ने वैश्य की मेखला आवी—भेड़ के बालों की बताई है। पारस्कर भी ऐसा ही बताते हैं।[2]

(३) आश्वलायन ने दण्डों के माप का विधान किया है। यहाँ पर क्षत्रिय का दण्ड औदुम्बर और वैश्य का बैल्व बताया है।[3] यह पारस्कर के विधान के विपरीत है।

(४) अञ्जलिपूरण में आश्वलायन ने 'तत्सवितुर्वृणीमहे' का विनियोग बताया है। अञ्जलि का त्याग करके आचार्य 'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे' मन्त्र से ब्रह्मचारी के हाथ को पकड़ता है। सविता को बालक का दूसरा और अग्नि को तीसरा आचार्य बताया है। आचार्य सूर्य को दिखा कर ब्रह्मचारी के दीर्घायुष्य की कामना करता है। यहाँ तच्चक्षु आदि मन्त्र का उच्चारण नहीं किया जाता है।[4]

(५) आचार्य बालक को प्राण को ब्रह्मचारी देता कर उसे प्रजापति को देता है। युवा सुवासा मन्त्र से आचार्य बालक से अग्नि की प्रदक्षिणा कराता है पारस्कर मेखलाबन्धन। हृदय और कन्धे के स्पर्श में आश्वलायन ने किसी मन्त्र का विनियोग नहीं किया है।[5]

(६) आश्वलायन समिधाधान को चुपचाप चाहते हैं परन्तु कुछ शाखान्तर आचार्य 'अग्नये समिधमाहार्षम्' मन्त्र से। इस मन्त्र का पाठ—

---

१ आश्व० गृ० १।१९। ८-९। ये रंग ब्राह्मण का काषाय क्षत्रिय का माञ्जिष्ठ और वैश्य का हारिद्र हैं। भाष्यकार ने रंग वस्त्रों का परिधान वैकल्पिक माना है। २ वही सू० ११। ३ वही सू० १२। ४ पार० सूत्र० ८।९।३०। ५ आश्व० गृ० १।२०।४६। ६ वही सू० ७।

'अग्नये समिधमाहार्य वृहते जातवेदसे। तया त्वमग्ने वर्धस्व समिधा ब्रह्मणा वय स्वाहा'—पारस्कर के पाठ से भिन्न है (देखा सूत्र० ५५)।[1]

(७) आश्वलायन 'तेजसा मा समनज्मि' से तीन बार मुख का मार्जन बताते हैं। 'मयि मेधाम्' आदि मन्त्र से उपस्थान कर के दायाँ घुटना टेक कर आचाय के पैर छू कर बालक सावित्री के उपदेश के लिए प्रार्थना करता है। आचार्य बालक के हाथ को वस्त्रसहित पकड कर गायत्री का उपदेश करता है और ब्रह्मचारी की योग्यता के अनुसार उससे मन्त्र का उच्चारण कराता है और उसे एकाग्र होकर सुनने[2] तथा आचार्य के अधीन हो कर वेद पढने का उपदेश देता है।[3]

(८) आश्वलायन के मत मे वदब्रह्मचय का काल केवल बारह वर्ष अथवा वेद पूरा पड लेने तक होना है।[4] भिक्षा पुरुष या स्त्री से मागी जा सकती है। यहा भिक्षा को आचार्य के समर्पण करने के पश्चात् शेष दिन मे खडे रहने का (?) विधान है। सायकाल ब्रह्मौदन और अनुप्रवचनीय पका कर आचाय को बताए। आचार्य ब्रह्मचारी द्वारा प्रारम्भ किए हुए हवन मे 'सदसस्पतिमद्भुतम्' और गायत्री मन्त्र से दो ऋषियों के लिए और सौविष्ट आहुतियाँ दे। ब्रह्मभोज के पश्चात् ब्रह्मचारी पूर्ण वेद पढाने के लिए आचार्य से प्रार्थना करे और तीन रात बारह रात या एक वर्ष तक क्षार और लवण का प्रयोग न करे।[5]

(९) आश्वलायन गव्य अजिन का विधान नही करते हैं।

---

१ वही, १।२०।१०, २१।१ २ वही १।२१।२-७। ३ वही, १।२२।२।। ४ वही, सू० ३-४। भाष्यकार ने इस वर्णन में विद्या, व्रत और विद्याव्रत स्नानको की उल्लेख माना हैं। यह पारस्कर की अवधियों से भिन्न है। ५ वही, सू० ९-१७।

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के विशेष विधान

३१ आपस्तम्ब उपनयन काल में ही केशवपनमस्कार चाहते हैं।[१] ये उपनयन के लिए वर्णों के लिए क्रम से वसन्त, ग्रीष्म और शरद्ऋतु का विधान करते हैं। ये क्षत्रिय का दण्ड न्यग्रोध का, स्कन्ध का या अवाचीन अग्रभाग वाला और वैश्य का बेर या गूलर का बताते हैं।[२] सावित्री के उपदेश के पश्चात् ब्रह्मचारी ऊपर के होठ और नाना का स्पर्श करता है।[३]

३२ केशवपन के पश्चात् समिदाधान, पत्थर पर सीधे पैर का स्थापन और मयानिर्मित वस्त्र का परिधान किया जाता है।[४]

३३ आपस्तम्ब ने विभिन्न वर्णों के लिए वस्त्र, अजिन, मेखला, दण्डा के माप आदि का कोई विधान नहीं किया है। गव्य अजिन का विधान भी नहीं है। इन के मन्त्रों में भी भेद हैं। विधि अपेक्षाकृत संक्षिप्त है।

गोभिल गृह्यसूत्र की विधि में अन्तर

३४ यहाँ गव्य अजिन का विधान नहीं है।[५] परिधान के लिए क्षौम या शाण, कार्पास और ऊन के वस्त्र बताए हैं, मेखला मूज, काश और तम्बल (=शण) की, दण्ड पलाश, बिल्व और पीपल के।[६] बालक 'अग्ने व्रतपते' आदि मन्त्रों से पाँच आहुति देता है।[७] अभिवादन के लिए नया या पुराना नाम कल्पित किया जाता है।[८] आचार्य बालक के दक्षिण स्कन्ध, नाभि, हृदय और बाएँ कन्धे का स्पर्श करता है।[९] तीन रात के सावित्र व्रत के पश्चात् उस का चरु करे और दक्षिणा में गौ दान दे।[१०]

---

१ आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, १०।५ ८। २ वही, सू० ४। ३ वहीं, ११।१५। ४ वही, ११।१०-१३। ५ वहीं, १०।९–१०। ६ गोभिल गृह्यसूत्र, २।१०।८। ७ वही, सू० ७–१२। ८ वही, सू० १५। ९ वहीं, सू २१। १० वही सू २४-२८। ११ वही, सू ४३-४५।

३५ अन्य विधियों में और मन्त्रों के विनियोग आदि में शांखायन गृह्य सूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र एक दूसरे के बहुत समीप हैं। यह भी ध्यातव्य है कि विभिन्न वर्णों के लिए पृथक्-पृथक छन्द की सावित्री का उपदेश केवल पारस्कर ही कराते हैं अन्य सूत्रकार नहीं।

पारस्कर के उपनयनसूत्रों में विनियुक्त मन्त्रों की तालिका

३६ मन्त्रप्रतीक

क्रमसंख्या	सूत्र०	विनियोग
(१) अग्नये समिधमाहार्षम	५५	सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में।
(२) अग्ने सुश्रव	५३	सावित्री के उपदेश के पश्चात हाथ से अग्नि के परिसमूहन में।
(३) (अङ्गानि च म आप्यायन्ताम्)	६२	अङ्गालम्भन में जप।
(४) (अदृश्रमस्य)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(५) (अप्स्वन्तर्)	११०	मेखला और यज्ञोपवीत का जल में स्थापन (हि-अ० म पाटि० १ भी देखें)।
(६) (आ नो भद्रा)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में
(७) आपो हि ष्ठ	२३	जल से अञ्जलिपूरण में।
(८) (आ ब्रह्मन्)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(९) (आशु शिशान)	११५	वही।
(१०) इन्द्रस्य ब्रह्मचारी	३१	ब्रह्मचारी को 'आप का शिष्य हूँ' कहने पर आचार्य का अपनी भावना का प्रकाश।

(११) (इमां सुक्तम्)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(१२) इय दुरुक्तम्	११	मेखलाबन्धन में।
(१३) (उदीरतामवर)	११५	वेदशिरस् से अवगुण्ठन में।
(१४) (उदु त्यम्)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(१५) एषा ते	५७	सावित्री के उपदेश के पश्चात् समिधाधान में वैकल्पिक मन्त्र।
(१६) गायत्री मन्त्र (भूर्भुव स्व । तत्सवितु)	४७	ब्राह्मण को सावित्री के उपदेश में।
	५०	सब वर्णों को सावित्री के उपदेश में वैकल्पिक मन्त्र।
(१७) (चित्र देवानाम्)	११९	सूर्योदय पर जप में।
(१८) जगती सावित्री (i) युञ्जते मन । य० ५।१४) (ii) विश्वा रूपाणि । य० १२।३)	४९	वैश्य को सावित्री के उपदेश में।
(१९) तच्चक्षु	२५	सूर्यदर्शन में।
(२०) तनूपा अग्नेऽसि	६०	हाथ तपा कर मुख को मलने में।
(२१) तस्मा अरंगमाम	२३ पाटि० १	जलों से अंजलिपूरण में।
(२२) त्रिष्टुभ् सावित्री (i) आ सवितु । य १७।७४।) (ii) देव सवित प्रसुव । य० ९।१)	४८	क्षत्रिय को सावित्री के उपदेश में।
(२३) त्र्यायुष जमदग्ने	६३	राख से त्र्यायुष (तिलक) लगाने में।
(२४) (द्यौ शान्ति)	१२०	वर्षा होने पर शान्ति (जप) में।

(२५) (नमो वरुणाय)	११०	तीन बार मीठा देने में।
(२६) प्रजापतये त्वा परिददामि	३३	ब्रह्मचारी को भूतों को समर्पित करने में।
(२७) मम व्रते ते हृदयम्	२७	अधिहृदय दक्षिणांस के आलम्भन में।
(२८) (मित्रस्य चक्षुर्धरुणम्)	१७	अजिनप्रदान में।
(२९) मेधा मे देव सविता	६१	हाथ तपा कर मुख को मलने में।
(३०) (यज्ञोपवीतमसि) (३१) यज्ञोपवीतं परमम्)	१५	यज्ञोपवीतपरिधान में।
(३२) युवा सुवासा	१२	मेखलाबन्धन में वैकल्पिक मन्त्र।
(३३) येनेन्द्राय बृहस्पति	९	वास परिधापन में।
(३४) यो मे दण्ड परापतत्	२०	दण्डग्रहण में।
(३५) यो व शिवतम	२३पाटि०१	जलों से अञ्जलिपूरण में।

इस प्रकार इस गृह्यसूत्र में १६ मन्त्रों का विनियोग प्रक्षिप्त भाग में है, और १९ का प्रामाणिक भाग में है।

कन्याओं का उपनयन

३७—संस्कृतभाषा की शैली है कि जहां स्त्री और पुरुष दोनों का वर्णन अभिप्रेत होता है वहां भी पुल्लिंग से ही निर्देश किया जाता है। अत यदि साहित्य में स्त्रियों के उपनयन का विधान स्पष्ट, साक्षात् और सविस्तार नहीं मिलता तो कोई आश्चर्य नहीं। ब्राह्मण और ब्राह्मणी का, राजन्य और राजन्या का, वैश्य और वैश्या का समास क्रमश ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य ही होता है। अत ब्राह्मण आदि पुल्लिंग के प्रयोगों से ब्राह्मण कन्या आदि का भी बोध होता है। इस प्रकार उन का उपनयन विहित है।

३८—इसी शैली का अवलम्बन करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में पुरुषों की शिक्षा के साथ साथ स्त्रियों की शिक्षा का भी वर्णन किया है।[1] एक मन्त्र के भावार्थ में लिखा है कि विद्वानों को अपनी (सु-) शिक्षा से कुमार और कुमारी ब्रह्मचारिणियों का परस्पर से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का बोध कराना चाहिये।[2] उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास में स्त्रियों के अध्ययन और ब्रह्मचर्य का विवेचन भी किया है।

३९—ऋग्वेद में देवियों की कल्पना वाक् अपाला घोषा लोपामुद्रा आदि ऋषिकाओं की सत्ता की मान्यता से तथा वैदिक साहित्य में विदुषी नारियों और ब्रह्मवादिनियों के वर्णन से वैदिक काल में लड़कियों के उपनयन और उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने की स्थिति का अनुमान सुकर है।

४०—अथर्ववेद के ब्रह्मचारी सूक्त में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों का युगपत् वर्णन हुआ है —

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ।[3]

इस मन्त्र से उस काल में लड़के और लड़कियों के उपनयन की सत्ता सुस्पष्ट है। इस की पुष्टि ब्रह्मवादिनी आचार्या आदि पदों पुरा नारीणामपि मौञ्जीबन्धनमिष्यते आदि स्मृतिवाक्यों स्मृतियों में स्त्रियों के मन्त्र

१—उदाहरण के लिये य० ६।२४ २५ आदि का दयानन्दभाष्य देखें।

२—य० ६।८ का भाष्य।

३—अवे० ११।७।१८। यहाँ अनड्वान्-पद कामसूत्र में वर्णित वृष-पुरुष का द्योतक है बैल का नहीं। इसी प्रकार अश्व अश्वजाति के पुरुष और घास रतिसुख के द्योतक हैं।

हीन सस्वारा के विधान रूप एतिहासिक अवापा रामायण म कौन्या के यन करन के वणन गप साहित्य म स्त्रिया की शिक्षा और आश्रमा म निवास और यनोपवीतिनी आदि पदा से होती है।

शूद्रो की स्थिति और उन का उपनयन

४१—इस विषय पर कई विद्वाना न अधिकृत रूप स लिखा है। डा अम्बेदकर के हू वर ही शूद्राज और डा शमा के शूद्राज इन एन्शियण्ट इण्डिया म इस विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। शूद्रा के विषय में जितन अध्ययन अब तक हुए ह उन म दो दृष्टियाँ काम करती हैं —१ शूद्र श्रमिक और समाज म नीचतम वण ह २ इस भावना को प्रतिक्रिया रूप शूद्रा को उच्च वण का सिद्ध करना। किसी भी अध्ययन म शुद्ध साहित्यिक और भाषा की दृष्टि म विवेचन प्रस्तुत नहा किया गया है। यह विवेचन बहुत विस्तृत है। अत यहा कतिपय विचार परम सक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किए जाते ह।

४२—वदिक मन्त्रा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वहा मानव जाति के एक दो तीन चार और पाच विभागा का बहुधा उल्लख पाया जाता है। समान सख्या के विभागों का वणन भी सवत्र समान नहा है। उन के मल में विभिन्न दृष्टिया रही प्रतीत होती ह। तो भी थाड से व्याख्यान से उन म सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है।

४३—ऋग्वेद के एक मन्त्र म मनुओं की समस्त प्रजाओं का अग्नि द्वारा सृष्ट बताया गया है —

---

१ यथा मनु० २।६६ देखें।
२ देखो डा शर्मा का शूद्राज इन एन्शिएण्ट इण्डिया म प्रदत्त विवरण।

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमा प्रजा अजनयन्मनूनाम् ।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् ॥[१]

इस मन्त्र में प्रजा के अन्य कोई विभाग नहीं बताए हैं। ये प्रजाएँ आर्य ही हैं — उरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय'।[२] इसी मन्त्र में 'दुहन्ता मनुषाय दस्रा' तथा पुनरुक्त अन्य 'ज्योतिर्जनाय चक्रथु' में आये मनुष और जन को समानार्थक माना है।

४४—पं० अखिलानन्द ने लिखा है कि वेद के संबंध में जहाँ कहीं पर किसी जाति का नाम मिलता है तो ब्राह्मण जाति का ही मिलता है अन्य का नहीं वेद और ब्राह्मण का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।[४] वस्तुस्थिति यह मालूम पड़ती है कि वैदिक काल में मानव मात्र को ब्राह्मण कहा जाता था।[५]

४५—अन्यत्र प्रजाओं के दो विभाग किए गए हैं। इन के नाम भिन्न भिन्न हैं—

(१) आर्य और दस्यु

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।[६]

दस्युओं को धनिन बताया है।[७] ये व्रत और यज्ञ से हीन कहे गये हैं—

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्व सखा दुधुवीत पर्वत सुघ्नाय पर्वत ॥[८]

मनु के अनुसार चारों वर्णों से बहिर्भूत आर्य और म्लेच्छ भाषा बोलने वाले सब दस्यु हैं —

---

१ ऋ० १।९६।२ २ ऋ० १।११७।२१ ३ ऋ० १।९२।१७। ४ वेदतत्त्वसमालोचन पृ० १८२। ५ आगे मस० ४२।५ तथा ऊपर सदर्भ १७–१८ देखें। ६ ऋ० १।५१।८। ७ ऋ० १।३३।४ ८ ऋ० ८।७०।११

'मुखबाहूरुपज्जाना या ल्पके जातमा वहि ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाच सर्वे त दस्यव स्मृता ॥'

स्वामी दयानन्द ने ये विभाग चारा वर्णों के व्यक्तिया के माने है।'

(२) दास और आर्यः—

'अन्तर्यच्छ जिघामता वज्रमिन्द्राभिदामत ।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतयवया वधम ॥'

इस वर्णन में दासा और आर्यो को सम स्तर पर रक्खा गया है। क्रम में पहले दास का उल्लेख है फिर आर्य का।

(३) ब्रह्म और क्षत्र.—

'यत्र ब्रह्म च क्षत्र च सम्यञ्चौ चरत सह ।
त लोक पुण्य प्रज्ञेष यत्र देवा सहाग्निना ॥'

प्रजा के ये विभाग राष्ट्र की शक्तिया व द्योतक हैं। समस्त शक्तिया इन के अन्तर्गत ही है। ये दोना अगले मन्त्र के इन्द्र और वायु क अनुरूप माने जा सकते हैं।'

(४) मानुषी क्षिति और दैवी विश्

'मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमिर्यमि वाचममृताय भूषन ।
इन्द्र क्षितिनाममि मानुषीणा विशा दैवीनामुत पूर्वयावा ॥

---

१ मनु १०।४५ १ ऋभाभू० पृ० २९९—वेदरीति से इन के दा भेद हैं, एक आर्य और दूसरा दस्यु। २ ऋ १०।१०२।३ ३ य० २०।२५। य० १८। ३८–४४ और १९।५ आदि में भी ये ही दा विभाग माने गए हैं। ४ य० २०।२६—यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरत सह। त लाक प्रज्ञेष यत्र सदिन विद्यते॥ ५ ऋ ३।३४।२

मानुषी क्षिति मानुषी विश् ही है—'विशा कवि विश्पति मानुषीणाम्'।[१] यहा 'स देवेषु वनते वार्याणि' में दैवी विश् का निर्देश माना जा सकता है। इस वर्णन में दैवी विश मानुषी विश् के अन्तर्गत ही मानी जा सकती है, उस मे पृथक् नही।

(५) अयज्वन् और यज्वन्

'अयज्वानो यज्वभि स्पर्धमाना ।'[२]

अगले मन्त्र में यज्वान को 'क्षितयो नवग्वा' कहा है।[३] ये ऊपर वर्णित दस्यु और आर्य माने जा सकते है। 'स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृत सहोभि'[४] में इन्हें नहुष् और विश् से वर्णित किया है। सायण-भाष्य की योजना अस्वाभाविक है।

(६) ब्राह्मण और देव

'तस्माज्जात ब्राह्मण ब्रह्म ज्येष्ठ देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्'।[५] अन्यत्र ब्रह्म को ब्रह्मचारियों से और देवों को अमृत से[६] गतिमान् बताया है। सभवत ऋग्वेद ने 'अहमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिरुत मानुषेभि'[७] में इन विभागों को मानुष और देव कहा है।

(७) शूद्र और अर्य

'यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां, यदिन्द्रिये ।
यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयम्' ॥[८]

---

१ ऋ ५।४३।१ द० ११। ५।४।१७ में दैवी प्रजा को मुख से उत्पन्न छन्द और मानुष प्रजा को प्रजनन से उत्पन्न कहा है। २ ऋ १।३३।५. ३. ऋ १।३३।६ ४ ऋ ७।६।५ ५ अवे. ११।७।२३ ६ अवे० १९।१९।८. ७ वही, म० १०। ८ ऋ १९।१२५।५। आगे मस० ४२।५ की टिप्पणी भी देखें। ९ य० २०।१७.

इस मे मानवों के ये ही दो विभाग किये गये हैं। इन में शूद्र का उल्लेख पहले किया गया है। वर्णन की शैली मे शूद्र का पूज्यत्व सुस्पष्ट है। इस मे ब्रह्म और राजन्य का उल्लेख नही है। इन का अन्तर्भाव शूद्र और अर्य में अभिप्रेत है। यजुर्वेद में अर्य पद आद्युदात्त भी है और अन्तोदात्त भी। 'शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति' और 'शूद्रो यदर्यायै जारो न पोषमनु' मन्त्रों[1,2] मे 'अर्यजारा' पद शूद्रा का और 'अर्यायै जार' 'शूद्र' का विशेषण है। इन दोनों मन्त्रों में 'न' सर्वत्र ही उपमावाचक है। इस योजना से इन मन्त्रों मे भी मानव जाति के शूद्र और अर्य विभागों का ही वर्णन उपलब्ध होता है।

(८) शूद्र और आर्य

'ता मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः'॥[3]
'उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम्।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम्'॥[4]
'प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये'॥[5]

अथर्ववेद की पदानुक्रमणीकार ने यहाँ सर्वत्र 'उत' और 'आर्य' की सन्धि मानी है। अथर्ववेद मे 'अर्य' पद अन्तोदात्त है। अतः यहाँ 'उत' और 'अर्य' की सन्धि नही है। इन मन्त्रों मे भी शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया है। ऋग्वेद में आर्यों को तीन प्रजाएँ बताया गया है —'त्रय कृण्वन्ति भुवनेषु रेतस्तिस्र प्रजा आर्या ज्योतिरग्रा।' प०अखिलानन्द लिखते हैं

---

१ य० २३।३० २ य० २३।३१ ३ अवे० ४।२०।४ ४ वही म० ८। ५ अवे० १९।६२।१ ६ ऋ० ७।३३।७

कि 'वेद में द्विजा को आर्य कहा है, शूद्रादि को नहीं।'' सामान्यत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही द्विज माना जाता है। यदि प्रकृत विभाग में 'आर्य' को इन तीनों वर्णों का द्योतक मान लें, तो शूद्र चौथे वर्ण का वाचक बन जाता है। शतपथब्राह्मण में पशुओं को पूषा[१] कहा है। साथ ही पुष्टिकारक होने से पृथिवी को पूषा=शौद्रवर्ण माना है। वहाँ पशुओं को पुष्टि[२] और 'दैव्या विश[३]' कहा गया है। ऐसी स्थिति में समस्त पोषक गुण सम्पन्न प्राण, पदार्थ, भाव और स्थितियाँ पूषा=शौद्रवर्ण=शूद्र हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर मानवा में परोपकार, ज्ञान और सेवा आदि द्वारा पोषण करने वाले व्यक्ति ही 'शूद्र' ठहरते हैं। ऐसे व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के हो सकते हैं। निरुक्त में आर्य—का अर्थ 'ईश्वर पुत्र'[४], अष्टाध्यायी में स्वामी और वैश्य[६] तथा निघण्टु में ईश्वर[७] दिया गया है। इस अर्थ की पुष्टि से शूद्र का अर्थ 'जो ईश्वरपुत्र नहीं है=असमृद्ध= त्यागी, सन्यासी (?)' होगा। यजुर्वेद में एक स्थल पर इस विभाग को शूद्र और ब्राह्मण बताया है—'अशूद्रा अब्राह्मणास्ते प्राजापत्या।'[८]

४६—कई बार मानव जाति के तीन विभाग भी किये गये हैं —

(१) देव, असुर और मनुष्य

'यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत।
एवा सहस्रपोषाय कृणुत लक्ष्मास्विना'॥[९]

---

१ वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २१७ २ श० ३।१।४।९ ३ वही. ४ श० ३।७।३।९। ५ नि० ६ पा० ३।१।१०३ ७ निघ २।२२।२ ८ य० ३०।२२। यहा यह पदावली दो बार प्रयुक्त हुई है। पहली बार अतिदीर्घ, अति ह्रस्व, अतिस्थूल, अतिकृश, अतिशुक्ल, अतिकृष्ण, अतिकुल्व और अतिलोमश का और दूसरी बार मागध, पुंश्चली, कितव और क्लीब को अशूद्र और अब्राह्मण में विभक्त किया है। ९ अवे० ६।१४१।३

यहा पर देवा' अश्विना का विशेषण है। यदि इसे मानव जाति से भिन्न माना जाये तो यहा दस्यु और आय के समान दो ही विभाग रह जायेंगे।

(२) ऋभु, असुर और ऋषि

'या मधामृभवो विदुर्या मेधाममुरा विदु ।
ऋषयो भद्रा मेधा या विदुस्ता मय्या वेदायामसि ॥'[1]

इन तीनो विभागो को एक समान भाव से वर्णित किया गया है।

(३) ब्रह्म, सोम, राधस्

य सुवन्तमवति य पचन्त य शसन्त य शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धन यस्य सामो यस्यद राध स जनास इन्द्र ॥[2]

इस के पूर्वार्द्ध मे चार विभाग किये गये है उन की दृष्टि मे उत्तरार्द्ध म तीन विभाग माने जा सकते हैं।

(४) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य

ब्राह्मण एव पतिन राजन्यो न वैश्य ।
तत्सूय प्रब्रुवन्नति प चभ्यो मानवेभ्य ॥[3]

यहाँ पर समस्त मानव जाति को पच मानव कह कर उस के तीन ही विभाग किये हैं। इन मे शूद्र का वणन नही है। उन का अन्तर्भाव इन्ही तीन मे अभिप्रत है।

(५) देव, मनुष्य, राजन्य

पुनर्वै देवा अददु पुनर्मनुष्या अददु ।
राजान सत्य गृह्णाना ब्रह्मजाया पुनददु ॥[4]

---

१ अवे० ६।१०८।३ २ ऋ २।१२।१४ ३ अवे० ५।१७।९
४ अवे० ५।१७।१०।

इस म देव और मनुष्य को पूर्ववर्णित विभाग के ब्राह्मण और वैश्य कहा जा सकता है। वहाँ राजन्य और वैश्य को ब्रह्मजाया का पति नहीं माना है यहाँ उन्हें ब्रह्मजाया से सम्पन्न मान कर उस का दाता वर्णित किया है। इस प्रकरण म ब्राह्मणपद परमेश्वर के वाचक ब्राह्मणपद[1] से भिन्न है।

४७—अपर चार विभागों का उल्लेख है —

(१) सुन्वत्, पचत्, शसत् और शशमान

य सुन्वन्तमवति य पचन्त य शसन्त य शशमानमूती ।[2]

सुन्वत—यज्ञनिष्पादक वैश्य है, पचत्—पुष्टिकर्त्ता शूद्र है। शसत्—स्तोता ब्राह्मण है और शशमान को क्षत्रिय[3] कहा जा सकता है।

(२) उग्र, ब्रह्मन्, ऋषि और सुमेधा

य य कामये त तमुग्र कृणोमि त ब्रह्माण तमृषि त सुमेधाम्।[4] स्वभाव के कारण उग्र क्षत्रिय है[4अ] ब्रह्मन् ब्राह्मण है। शतपथ ब्राह्मण[5] में तप के कारण ऋषि को ऋषि माना है। ऋग्वेद मे भी ऋषियो को तपस्वी कहा है— पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदु ।[6] अग्नि तप से उग्र होती है।[7] ब्रह्मचारी भी तप करता है।[8] यजुर्वेद में शूद्र को[9] और कौलाल को[10] तप से सम्बद्ध किया है। अत ऋषि को शूद्र का द्योतक

---

१ अवे० १०।८।३७–३८। २ ऋ २।१२।१४। ३ आगे म० २०५ की टिप्पणी देखें। ४ ऋ १०।१२५।५। ४अ उग्र रुद्र का एक रूप है। श० ६।१।३।१८। रुद्र घोर है—कौ० १६।७। ५ श० ६।१।१।१। ६ ऋ १०।१०९।४। ७ ऋ १०।१०९।१ पर साभा० देखें। ८ अवे० ११।७।१। ९ य० ३०।५। १० वही म० ७।

माना जा सकता है। योगदर्शन में तप को क्रियायोग[1], नियम[2] और अशुद्धियों को क्षीण करके कायेन्द्रिय को शुद्ध करने वाला[3] कहा है। तप सुमेधा वर्णों के नामों में वैश्य का द्योतक हो जाता है।

(३) रध्र, कृश, नाधमान ब्रह्मन् कीरि और युक्तग्रावन् सुतसोम

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।

युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥[4]

आगे मन्त्र १२ में की गई व्याख्या के अनुसार ये पद क्रमशः क्षत्रिय शूद्र, ब्राह्मण और वैश्य के द्योतक माने जा सकते हैं।

(४) ब्रह्म और राजन्य; शूद्र और आर्य

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्रायचार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥[5]

यहाँ पर शूद्र को आर्य से पहले वर्णित किया गया है। अथर्ववेद में अर्य पद अन्तोदात्त है और आर्य पद आद्युदात्त। मन्त्र में चार्याय में र्या पर स्वरित है। अतः चार्याय में च और आर्याय की सन्धि है। आर्य पद सामान्यतः आर्यजाति का और पहले लिखे वर्णन के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का द्योतक माना जाता है। ऐसी स्थिति में यहाँ दो विभागों १ ब्रह्म और राजन्य तथा २ शूद्र और आर्य का इकट्ठा वर्णित किया है। यदि ऐसा मान लें तो ये पद वर्णों के द्योतक न रह कर कर्म या शक्ति विशेषों के द्योतक बन जायेंगे।

---

१ योगदर्शन २।१। २ वही २।३२। ३ वही २।४३।
४ ऋ० २।१२।६। ५ अथर्व० १९।३२।८।

(५) ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य, शूद्र

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥'[५]

यह मन्त्र यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी आया है। चारो वर्णो का इस क्रम से उल्लेख केवल इसी मन्त्र में मिलता है। पीछे के काल में चातुर्वर्ण्य के लिए इसी मन्त्र का आधार बनाया गया है।

४८—पाच जना-कृष्टिया-चर्षणिया का बहुधा वर्णन पाया जाता है। यथा 'अञ्जन्ति सुप्रयस पञ्च जना',[१] 'य पञ्च चर्षणीरभि निषसाद दमे दमे।'[२] स्तोता पचकृष्टि के अन्तर्गत हैं—'अस्माक द्युम्नमधि पञ्च कृष्टिषु।'[३] प्रार्थनायें पाँचो कृष्टियो के लिए की गयी है—'यद् वा पच क्षितीना द्युम्नमाभर।'[४] यहाँ पर उन में पारस्परिक भेद नहीं है। ये पच जन कौन हैं, इस पर विद्वानो ने पर्याप्त विचार किया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर इन्हें यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, पुरु कहा है—'यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पुरुषु स्थ।'[५] ऐतरेय ब्राह्मण[६] में ये देव, मनुष्य, गन्धर्वाप्सरस्, सर्प और पितृ, निरुक्त में[७] गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस, औपमन्यव के[८] मत में चारो वर्ण और निषाद और प० अविलानन्द[९] के विचार में होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और यजमान हैं। इनका परिगणन कुछ भी किया जाये वेद मन्त्रो में इन में ऊँच-नीच का कोई भेद नही है।

४९—यजुर्वेद में छै विभागो का भी उल्लेख है—

---

५ अ ऋ १०।९०।१२। १ ऋ ६।११।४। २ ऋ ७।१५।२। ३ ऋ २।२।१०। ४ ऋ ६।४६।७। ५ ऋ १।१०८।८। ६ ऐ० ३।३१। ७ नि० ३।७। ८ वही। ९ वेदत्रयीसमालोचन, पृ० २०५।

ब्रह्म, राजन्य, शूद्र, अर्य (या आर्य ?), स्व और अरण

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्रायचार्याय च स्वाय चारणाय ।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप
मादो नमतु ॥'[1]

यदि ऊपर लिखे विभागों पर सामूहिक रूप से दृष्टि डाली जाये तो यहाँ पर मानव जाति के तीन दृष्टियों से दो-दो विभाग स्पष्ट ज्ञात हो जायेंगे—१ ब्रह्मन् और राजन्य २ शूद्र और अर्य (या आर्य) ३ स्व और अरण (अपने और पराये)।

५०—वेदमन्त्रों में उपलब्ध मानव जाति के कतिपय विभागों का निर्देश किया जा चुका है। शूद्रों की स्थिति के निर्णय में अधोदत्त बातें विचारणीय हैं।

(१) वेद में मानव जाति के एक या अनेक विभाग विभिन्न दृष्टियों से किये गये हैं। यजुर्वेद के नीचे दिए गए मन्त्रों से इस प्रकार की कुछ दृष्टियों का आभास मिलता है —

'एकयास्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् ।
तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् ।
पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् ।
सप्तभिरस्तुवत सप्त ऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥
नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत् ।
एकादशभिरस्तुवत ऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवा अधिपतय आसन् ।
त्रयोदशभिरस्तुवत मासा असृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् ।
पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् ।

१ य० २६।२।

सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥
नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम् ।
एकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् ।
त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् ।
पञ्चविंशत्यास्तुवताऽरण्याः पशवोऽसृजन्त वायुरधिपतिरासीत् ।
सप्तविंशत्यास्तुवत द्यावापृथिवी व्यैतां वसवो रुद्रा आदित्या अनुव्यायँस्त एवाधिपतय आसन् ॥
नवविंशत्यास्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत् ।
एकत्रिंशतास्तुवत प्रजा असृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतय आसन् ।
त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासीत् ॥"[1]

इस वर्णन में ब्रह्म, क्षत्र और क्षत्र की उत्पत्ति पृथक्-पृथक् बतायी है, परन्तु शूद्र और आर्य (अर्य) की एक साथ।

(२) उपरोक्त वर्णना में समस्त विभागों को एक स्तर पर रक्खा गया है, केवल दस्युओं को हिंसक बता कर उन्हें हीन माना गया है।

(३) शूद्र का आर्य से पहले वर्णित किया गया है।

(४) ऊपर दी गई व्याख्या के अनुसार ऋषि और शूद्र पद को समानार्थक माना जा सकता है। वैदिक साहित्य में ऋषि की स्थिति सुविदित है।

(५) वेदमन्त्रों में चारों वर्णों का युगपत् आधुनिक क्रम से वर्णन

.१ य० १४।२८–३१। इन में मन्त्र ३० में 'शूद्रार्यौ' में 'राजदन्तादिषु परम्' (पा० २।२।३१) से शूद्र का पूर्वनिपात माना गया है। परन्तु राजदन्तादिगण में 'शूद्रार्यम्' पाठ है, 'शूद्रार्यौ' नहीं है। अपि च। वेद मन्त्रों में अधिकांश स्थलों पर समास के अभाव में शूद्र और आर्य का क्रम ही मिलता है। अतः यहाँ राजदन्तादि सूत्र लगाना अनावश्यक है।

केवल एक मन्त्र[1] में पाया जाता है। आगे मग० ३३ की व्याख्या के अनुसार ये ब्राह्मण आदि पद पुरुष के नाम मान जा सकते हैं।

(६) अथर्ववेद के "शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता। जाया पत्या नुत्तेव कर्त्तार बन्ध्वृच्छतु ॥"[2] में शूद्रकृता का सर्वप्रथम वर्णन साभिप्राय है। इस मे शूद्र राजन् और ब्रह्मन का ही निर्देश है वैश्य का नहीं।

(७) तैत्तिरीय ब्राह्मण मे वैश्यो का ऋचाओं से क्षत्रों का यजुषों से और ब्राह्मणों को सामनो से उत्पन्न बताया गया है। साथ ही सब कुछ को ऋचाओं से उत्पन्न बताया है।[3] शेष अथर्ववेद और शूद्र रह जाते हैं। इन दोनों का सम्बन्ध अनुमानगम्य है।

(८) शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ से उत्पन्न को ब्राह्मण कहा है। इसी लिए यहां दीक्षित राजन्य और वैश्य को ब्राह्मण माना है।[4]

(९) *शतपथ ब्राह्मण में वर्णों की उत्पत्ति का क्रम विश शूद्र क्षत्र* दिया है। पहले ब्रह्म (ब्राह्मण) ही था। उस से शेष वर्णों की उत्पत्ति हुई। यहां पर चारों वर्णों का एक स्तर का माना है। यहां पूषा को शूद्र कहा है और पृथिवी को पूषा।[5] ब्राह्मणों में अनेक पदों के अर्थ एक ही साथ ब्रह्म क्षत्र विश और पृथिवी (शूद्र भी ?) दिये गये हैं।

(१०) ऐतरेय ब्राह्मण में[7] सोम को ब्राह्मणों का दधि को वैश्यों का और अपस् को शूद्रों का भक्ष बताया है। जल कल्याण और सिद्धि के प्रतीक हैं। तु क—'शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रव न्तु न ॥'[8] एक स्थान पर इन्हें गतिशील करने वाला भी कहा है।[9]

---

१ ऋ १०।९०।१२। २ अवे० १०।१।३ ३ तै० ३।१२।९।१–४। ४ श० ३।२।१।४०। ५ श० १४।४।२।२४–२७। ६ वैको० मे वाक गौ आदि पद देखें। ७ ऐ० ७।२९। ८ य० ३६।१२। य० ११।५०–५१ भी देखें। ९ य० ११।५२। पाउ० में पृ० २७ पर २३ (ıı–v) देखें।

(११) ऊपर दासों को आर्यों का समकक्ष बताया है। यथावश नयति दासमार्य[1] में यथावशम् का अर्थ वशमिव करने पर इन्द्र दासों का नेतृत्व करता है भाव निकलता है। ऋग्वेद में दास नमुचि पद[2] एक शाश्वतिक दृश्य का द्योतक है दासों के नीचत्व का द्योतक नहीं है।

(१२) अथर्ववेद के "शूद्रामिच्छ प्रपद्यम"[3] में शूद्रा पद किसी स्थान विशेष का नाम प्रतीत होता है जातिविशेष का नाम नहीं है क्योंकि इस का प्रयोग मूजवत और बाल्हीकान के साथ हुआ है।

(१३) ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में वर्ण शुन्नम[4] के लिए आर्य वर्णम[5] का प्रयोग हुआ है। वधन दस्यु प्र हि चातयस्व वय कृण्वान स्तन्व स्वायै[6] की पुष्टि में आर्य वर्णम का अर्थ आरोग्य और स्वास्थ्य भी समझा जा सकता है।

(१४) छान्दोग्य उपनिषद् में[7] श्रद्धादेय बहुदायी बहुपाक्य और आवसथ निर्मापक जानश्रुति पौत्रायण को शूद्र कहा गया है। स्वामी शंकराचार्य का समाधान सन्तोषजनक नहीं। वहां पर श्रेष्ठ और विद्या के लिए इच्छा प्रकट करने के कारण ही राजा को शूद्र कहा गया है।

(१५) महाभाष्यकार के लेखानुसार[8] तप करने से विश्वामित्र ऋषि हो गये। उन के तप से ही उन के पिता और पितामह भी ऋषि हो गये। पुत्र या पौत्र के तप से पिता या दादा का ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा होना बुद्धिगम्य नहीं ऋषि-श्रेष्ठ—शूद्र होना बुद्धिगम्य है।

(१६) यजुर्वेद के पुरुषमेध में अपने-अपने कर्मों के अनुरूप ही मनुष्यों

---

१ ऋ ५।३४।६। २ ऋ ५।३०।७–८। ३ अथे० ५।२२।७ ४ ऋ ३।३४।५ ५ ऋ ३।३४।९। ६ ऋ ५।४।६। ७ छा उ० ४।२।३ ५। ८ वेदत्रयीसमालोचन पृ० २२७ पर पा० ४।१। १०४—अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ पर पतञ्जलि मुनि का लेख देखें।

को विभिन्न गुणा और नक्षित्रया आदि म मम्बद्ध किया गया है। वहा ब्राह्मण को ब्रह्म मे राजन्य को क्षत्र म वैश्य का मरुनों मे और शूद्र तथा कौशल का तप से सम्बद्ध किया है।' मनु न समस्त वर्णो का तप पथक्-पथक बनाया है। उस मे शूद्र का तप सवा बताया है। पूर्वोक्त वैदिक वर्णना से इस की पुष्टि नही हानी है। अत शूद्र क तप से सम्बन्ध के कारण 'पदभ्या शूद्रा अजायत म पदभ्याम का अथ तप श्रम करना यक्ति सगत मालूम पडता है। शतपथ ब्राह्मण ने पाद का प्रतिष्ठा कहा भी है। पडविंश ब्राह्मण न पादो का अनुष्टुप कहा ह। अनुस्तरभन मित्र की पत्नी गायत्री वाक ज्यैष्ठ्य पृथिवी प्रजापति राजन्य अन्व आप सत्यानृत आदि का अनुष्टुप कहा गया है। पथिवा शूद्रवण ह क्या कि वह पूपा है।' अत पदभ्याम पार्थक भाव का भी द्योतक माना जा सकता है।

(१७) शतपथ ब्राह्मण म तप का शूद्र कहा है—तपा वै शूद्र।

(१८) ऋग्वद म अग्नि और विश्व दवा को द्विजन्मा या द्विज कहा है ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का नही।

(१९) मनु ने द्विजा के तीन जन्म माने है—माता मे उपनयन मे

---

१ म० ३०१५ ७। २ मनु ११।२३५। ३ श० १०।९०।१२। आगे मम० ३३।४ की टिप्पणी भी देख। ४ श० १३।८।३।४। ५ पडविंश ब्राह्मण २।३। ६ देखो वैका० प० २५-२६। ७ श० १४।४।२।२५। ८ श० १३।६।२।१० ९ देखो ऋ १।६०।९ १४०।२ १४९।४-५ ६।५०।२, १०।६१।१९। यहा पर सा० न द्विजा का पृथक मान कर विप्र अथ किया है। सायणीय याजना में भी वणभाव नही आता। ऋ ३।२७।८ में विप्र का यज्ञ का साधन और ऋ ८।६।२८ म धी (कम वुद्धि) से उत्पन्न बताया है। ऋषि भी विप्र है। अत इस अथ म द्विजपद मानव मात्र का द्योतक है।

और यज्ञदीक्षा से।[1] शतपथ ब्राह्मण ने प्रत्येक यज्ञ में दीक्षित पुरुष को ब्राह्मण कहा है।[2] महाभारत के अनुसार शूद्र भी यज्ञ में दीक्षा लेते हैं और यज्ञसमाप्ति पर 'पूर्ण पात्र' नामक दक्षिणा देते हैं।[3]

(२०) ज्योतिष शास्त्र में शूद्रों का स्वामी बुध बताया गया है—विप्रादितः शुक्रगुरू कुजार्कौ शशी बुधश्चेत्यसितोऽन्त्यजानाम्।[4] वहाँ बुध को श्लिष्टवाक् हास्य में रुचि रखनेवाला और विद्वान् बताया है—'श्लिष्टवाक् सततहास्यरुचिर्ज्ञः।'[5]

(२१) ऋग्वेद के कुछ सूक्तों के ऋषि कवष ऐलूष को दासीपुत्र कितव और आचारभ्रष्ट माना जाता है।[6] कवष को ऋग्वेद में आपस् से सम्बन्धित और इन्द्र से रक्षित बताया है।[7] इस के एक सूक्त[8] का देवता 'आपः' और एक सूक्त[9] का इन्द्र है। दो सूक्तों[10] के देवता विश्वेदेवा, इन्द्र आदि हैं। शिष्ट सूक्त[11] के ग्यारहवें मन्त्र में 'वृषल' का प्रयोग है। सम्भवतः इस वर्णन को ऋषि की आपबीती मान कर ऐतरेय ब्राह्मण की कथा गढ़ ली गयी। यहाँ पर वृषल पद द्व्यर्थक प्रतीत होता है—धर्म का धारक (—वृषं धर्मं लाति गृह्णाति धारयतीति वा) होता हुआ भी आचार से धर्म का नाशक (—वृषं धर्मं लुनाति छिनत्ति)। अतः कवष अपने जन्म के कारण नीच नहीं था, प्रत्युत अपने श्रैष्ठ्य के कारण

---

१ मनु० २।१६९। २ श० ३।२।१।४०। ३ डॉ० अम्बेदकर द्वारा श्री राय के कलकत्तासंस्करण के महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय ६० से उद्धृत श्लोक ३८–४० और उन पर डॉ० अम्बेदकर का लेख—हू वर दी शूद्राज, पृ० १२१। ४ बृहज्जातक २–७। ५ वही। ६ ऋ० १०।३०–३४। ७ एतद्विषयक सामग्री आचार्य शिवपूजन सिंह कुशवाहा ने वैदिक धर्म, सितम्बर १९५७ के अंक में 'उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार विमर्श' में एकत्रित की है। ८ ऋ० ७।१८।१२। ९ ऋ० १०।३०। १० ऋ० १०।३२। ११ ऋ० १०।३१ ३३। १२ ऋ० १०।३४।

और उपरोक्त मन्त्र में वृषल पद को प्रयुक्त करने के कारण 'वृषल' कहलाया होगा। कक्षीवान् आदि ऋषियों की स्थिति पर इस दृष्टि से पुन विचार की आवश्यकता है। वैसे भी मन्त्रों से सम्बद्ध ऋषि उन के रचयिता नहीं हैं। व उन के अर्थों के द्योतक पद हैं। तत्सम्बन्धी आख्यान आलंकारिक मात्र हैं। [१अ]

(२२) श्री मोनियर विलियम्ज ने अपने कोष[१] में लिखा है कि बौद्ध-साहित्य में शूद्र पद ब्राह्मण का नाम है। यह नाम ईर्ष्यावश भी प्राप्त हो सकता है और प्राचीन स्थितियों का अवशेष भी। वीरचरित[१] में शूद्रिक एक पुरुष का नाम है। हरिवंश में शूद्रा रौद्राश्व की पुत्री का नाम है।

(२३) मनु ने शूद्रों का धर्म का विवेचक बताया है —

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम् ।
तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पंके गौरिव पश्यतः ॥

बहुश्रुत और सदाचारी व्यक्ति को ही धर्मविवेचन का अधिकार प्राप्त होता है। तु क कुल्लूक का व्याख्यान—धार्मिकोऽपि व्यवहारज्ञोऽपि शूद्र।'[२अ]

(२४) मनुस्मृति से ज्ञात होता है कि उस के काल में शूद्र राजा भी होते थे। वहाँ पर नृपतिमात्र को क्षत्रिय कहा है।[४] अतः शूद्र राजा क्षत्रिय ही रहे होंगे।

---

१२ अ—देखो सुधीर कुमार गुप्त सीयस ऑफ दी ऋग्वद दजर मसेज एण्ड फिलौसौफी, ऋक्सूक्तों की भूमिका, सदर्भ ३९–४५ भी देखें। १ विको० पृ० १०८५, कालम ३। २ वही। ३ मनु० ८।२१, श्लोक २० भी देखें। २अ वही, श्लोक २०। ४ मनु० १०।१०

(२५) कर्मापवरणा शूद्रा कारव शिल्पिनस्तथा[1] कह कर मनुस्मृति ने शूद्र आदि को करमुक्त किया है। वेद में कारु और तक्षा आदि शिल्पियों का बड़ा सम्मान है। ऋभु तक्षा वहां एक ऋषि है ऋभव और त्वष्टा देवता है। अत इन को उन की श्रेष्ठता कलाकौशल और यज्ञमय जीवन के लिए करों से मुक्त किया गया होगा।

(२६) कभी कभी ब्राह्मण भी शूद्रों की सेवा करते थे। परन्तु उन्हें इस सेवा के कारण पतित माना जाता था।[3] आपत्काल में वैश्य भी शूद्रवृत्ति कर सकता था।

(२७) शूद्र की हत्या करने पर मनुस्मृति ने प्रायश्चित्त का विधान किया है।

(२८) अमरकोष में आभीरी को महाशूद्री कहा है।[5] मनु के मत में ब्राह्मण से अम्बष्ठ कन्या में उत्पन्न सन्तान आभीर होता है।[7] बीज की प्रधानता के कारण आभीर ब्राह्मण ही है। उसे महाशूद्री कहना प्राचीन इतिहास का अवलोप है।

(२९) अत्रिस्मृति में विप्रों के दस प्रकार बताये हैं जिन में शूद्र विप्र भी हैं —

> देवा मुनिर्द्विजा राजा वैश्य शूद्रा निषादक ।
> पशुम्लेच्छोऽपि चाण्डाल्ये दशविधा स्मृता ॥

इस में वैदिक और पीछे के काल के मानव जाति के भागों को एकत्र कर दिया गया है।

---

१ मनु० १०।१२०। २ देखो ऋषियों और देवताओं की अनुक्रमणिकाएं। ३ मनु० ३।१६६। ४ मनु० १०।९८। ५ मनु० ११।१३० १३१ १४०। ६ अमर० २।६।१३। ७ मनु० १०।१५। ८ स्मृति सन्दर्भ भाग १ पृ० २८६।

(३०) डा अम्बेदकर ने लिखा है कि महाभारत के हस्तलेखों में से छै में पैजवन सुदास को 'शूद्र', एक मे शूद्र के स्थान पर 'शुद्ध' कहा गया है। दो मे 'शूद्र-शुद्ध' के स्थान पर 'पुरा' का पाठ है।' 'शूद्र' के स्थान पर 'शुद्ध' का प्रयोग इन दोनो का समानार्थक बता रहा है।[१अ] पुराणो में और ऐतिहासिको की दृष्टि मे ऋग्वेद में पैजवन सुदास क्षत्रिय है। अत क्षत्रिय शुद्ध-शूद्र सिद्ध होते हैं।

(३१) यजुर्वेद मे ब्राह्मण आदि के साथ शूद्रो मे भी रुच के आधान की प्रार्थना की गयी है।[१आ]

(३२) सर एम मानियर विलियम्ज के कोष मे सगृहीत शूद्रविषयक अधादत्त पदो म गूढ इतिहास लक्षित होता है—शूद्रप्रिय (प्याज), शूद्रभिक्षित (शूद्र स प्राप्त भिक्षा) शूद्रयाजक, शूद्रप्रायश्चित्त, शूद्रशासन, शूद्रसस्कार और शूद्रीभू। उन्हो ने शूद्रो से सम्बन्धित अधादत्त १९ पुस्तको का भी नाम दिया है। इन के अध्ययन म भी शूद्रो की स्थिति पर प्रकाश मिलने की सम्भावना है —१ शूद्रकमलाकर २ शूद्रकुलदीपक ३ शूद्रकृत्य ४ शूद्रविचारण ५ शूद्रविचारणतत्त्व ६ शूद्रविचारतत्त्व ७ शूद्रजपविधान ८ शूद्रतत्त्व ९ शूद्रबोधिनी १० शूद्रपचसस्कारविधि ११ शूद्रपद्धति १२ शूद्रविवेक १३ शूद्रस्मृति १४ शूद्रचिन्तामणि १५ शूद्रशिरोमणि १६ शूद्राह्निक १७ शूद्राह्निकाचार तत्त्व १८ शूद्रोत्पत्ति १९ शूद्राद्यान।[३] इन मे स कुछ तो आपातत ही नितान्त अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। शूद्रप्रेष्य—शूद्र के सेवक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य से भी शूद्रो के सर्वोपरि भाव का परिचय मिलता है।

---

१ डा अम्बेदकर, हू वर दी शूद्राज, पृ० १२१। १अ इस प्रकार अर्थ-ग्रहण की शैली को विद्वानो न अनेक बार ग्रहण किया है। वैदिक रीडर में ऋ० १।१५४।३ पर मैं० की टिप्पणिया देखे। वेभाप० ४ भी देखे। १आ य० १८।४८। २ विको० पृ० १०८५। ३ वही।

(२३) मनु ने शूद्रराज्य में निवास का निषेध किया है।[1] शूद्र राज्य शूद्रों की दलितावस्था में कल्पनातीत है। वह तभी सम्भव है जब वे शक्तिशाली, सुसंगठित हों और क्षत्रियों की श्रेणी में आयें। ब्राह्मणों को उनसे द्वेष उनके ब्राह्मणों के समान ज्ञानवान् और सम्मानित होने से हो सकता है। आधुनिक युग में भी कहीं कहीं ऐसी परिस्थिति देखी जाती है। यथा डा० मंगलदेव शास्त्री के बनारस संस्कृत कालिज का प्रिंसिपल बनाए जाने पर कतिपय ब्राह्मणों ने उनके विरुद्ध आन्दोलन किया था। दक्षिण में भी ब्राह्मणों और अब्राह्मणों का संघर्ष बहुधा सुनने में आता रहा है। परतन्त्रता के काल में कतिपय अनुदार ब्राह्मण अब्राह्मणों को संस्कृत पढ़ाने में संकोच करते थे। हरिजनों, शूद्रों को वेद पढ़ाने के लिए तो सम्भवतः आज भी कम ब्राह्मण तैयार होंगे। शूद्रभूयिष्ठ राज्य के नाश की अवश्यम्भाविता के मूल में भी यही भाव लक्षित होता है। सम्भवतः शूद्रों की सन्निधि में अध्ययन के निषेध में निग्रह का भय और अपने ज्ञान को शूद्रों से गुप्त रखने की भावना लक्षित होती है। मनुस्मृति के शूद्रों से दान न लेने, उनको न पढ़ाने और यज्ञ न कराने आदि के विधान भी शूद्रों के उत्कर्ष के परिचायक हैं।

(२४) काश्यपसंहिता में कश्यप ने सब वर्णों को आयुर्वेद पढ़ने का अधिकार दिया है—ब्राह्मण अर्थपरित्राण, पुण्य और परोपकार के लिए, क्षत्रिय प्रजाओं की रक्षा के लिए, वैश्य वृत्ति के लिए और शूद्र सेवा के लिए आयुर्वेद पढ़ें। आयुर्वेद पढ़ लेने पर वैद्य की तीसरी जाति भिषक् हो जाती है और वह त्रिज हो जाता है।[4] शूद्रों की त्रिज संज्ञा तभी ही सार्थक

---

१ मनु० ४।६१। २ मनु० ८।२२। ३ वही ४।९९। ४ संस्काररविधि विमर्श पृ० ८८। त्रिज के स्थान पर द्विज पाठ पीछे का ही माना जा सकता है। यह किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा किया गया होगा जो शूद्रों के त्रिजत्व को समझने में असमर्थ रहा अथवा उसे यह स्थिति रुचिकर नहीं थी।

हो सकती है जब उन्हें द्विज माना जाए। द्विजों में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का ही ग्रहण होता है शूद्रों का नहीं। उन को द्विज मानने पर उन को इन तीन वर्णों का मानना आवश्यक हो जायगा।

(३५) श्री शेरिंग शूद्रों को आर्येतर जाति मानते हुए जो आर्यों के तीनों वर्णों के साथ पारस्परिक विवाह आदि सम्बन्ध के द्वारा इतने अधिक आर्य हो गये हैं कि उन में से कुछ जातियां तो वास्तव में ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हैं।

(३६) तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्राह्मणों को देवों से और शूद्रों को असुरों और असत् से उत्पन्न बताया है।

(३७) ऋग्वेद के एक वर्णन में एक ही वंश में विभिन्न व्यवसायों के व्यक्तियों का वर्णन है —

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव॥

कारु-स्तोता-ब्राह्मण भिषक्-क्षत्रिय वैद्य-वैश्य और उपलप्रक्षिणा-शूद्र (?) हो सकते हैं।

(३८) शूद्रपद की व्युत्पत्तियां इस प्रकार हैं —

(१) √शद्लृ रक स—शद्लृ शातने भ्वा०। शायते इति शूद्र वर्णान्तः।[5] कर्त्ता।

(२) √शुच से—शोचयतीति शूद्रः। सेवकों वा।

---

१ डा० अम्बेदकर द्वारा हू वर दी शूद्राज उपोद्घात पृ० पर शेरिंग हिन्दू ट्राइब्ज एण्ड कास्टस भाग १ भूमिका पृ० XXI में उद्धृत। २ वही पृ० २७। तथा तै० १।२।६।७ और ३।२।३।९। ३ ऋ० ९। ११२।३। ४ सकाय वर्ण इति पाठ। ५ दपाउ० ८।३४। ६ पपाउ० (दस०) २।१९।

(३) इसे द्रवयति गच्छति वधन से भी लिया जा सकता है। ऋग्वेद के महसा शूद्नस्य' और यजुर्वेद के शूकार (=क्षिप्रकारी) और शूकृत (=क्षिप्रकृत)[२] में भी यही भाव है। यद्यपि यहा शूद्र पद का कोई आभास नही मिलता तो भी अर्थ और रूप में शूद्र की शकृत से समानता के आधार पर शूद्र को शूकृत का रूप माना जा सकता है।

(३९) व्याकरण में शूद्रीपद शूद्रपत्नी का और शूद्रापद शूद्रजाति की स्त्री का द्योतक है। हो सकता है आचार्या पद के समान यह पद उस काल में शूद्रगुणयुक्त पापक परापकारपरायण स्त्री को कहता हो।

(४०) वृषल पद शूद्र का ही वाचक नही है घोडा और गाजर का भी द्योतक है और वृषली पद केवल शूद्रा या शूद्री का द्योतक नही प्रत्युत अविवाहित रजस्वला कन्या रजस्वला बाझ मृतसन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री भी वृषली है। ऐसी कन्या और स्त्रिया सभी वर्णों में होती है शूद्रा में ही नही।[३] मौर्यो को बौद्ध साहित्य में क्षत्रिय कहा है परन्तु पुराणा आदि हिन्दू साहित्य में वृषल और शूद्र।[४] अन्य पद उन के श्रेष्ठत्व के कारण उन्हें मिले होग जिन का कालान्तर में आधुनिक अर्थो में समझा जाने लगा।

(४१) लोक में महत्तर (=महत्+तर) और चूहड़ा (चतुर्धुरीण–चौधड–चौहड) पद भी इन के प्राचीन काल में उच्च स्तर के द्योतक हैं।

(४२) ऋग्वेद में विप्रों में ऋषि को सवश्रेष्ठ माना है —
ब्रह्मा देवाना पदवी कवीनाम ऋर्षिविप्राणा महिषो मगाणाम।

---

१ ऋ १।१६२।१७। २ य० २२।८ २५।४०। ३ अको० और अन्य कोषो में इन पदो के अर्थ देखें। ३अ देखो डा० हेमचन्द्र राय चौधरी पोलिटिकल हिस्टी आफ एन्शियण्ट इण्डिया चतुर्थ सस्करण (१९३८), पृ० २०४–२९६।

श्येनो गृघ्राणा स्वधितिर्वनाना साम पवित्रमत्येति रेभन् ॥[१]
मानवमात्र विप्र है और ऋषि शूद्र।

(४३) वसिष्ठ धर्मसूत्र के मत मे ऋचाओ के ज्ञान से हीन व्यक्ति शूद्रो का स्वामी नही हो सकता है।[२]

५९—उपरोक्त विवेचन से ये परिणाम निकलते हैं —

(१) आरम्भ मे आधुनिक रूप मे वर्ण-व्यवस्था की कोई कल्पना नही थी।

(२) वैदिक काल मे गुण और कर्म का प्राधान्य था। जैसा गुण और कर्म जिस व्यक्ति मे देखा वैसा ही उस का नाम हो जाता था।

(३) समाज मे परोपकार ज्ञान श्रम तप गतिशीलता आदि गुणो को बहुत महत्त्व दिया गया था। इन गुणो से युक्त व्यक्ति को ऋषि और शूद्र कहते थ। ऋषि सब में श्रेष्ठ थे। अत शूद्र सब में श्रेष्ठ थ। ऋषि सब वर्णो से निकलते थ। इस लिए उन का—शूद्रो का पृथक वर्ण नही था।

(४) इसी कारण शूद्रो का पृथक यज्ञोपवीत सस्कार नही बताया गया है। जिस प्रकार त्रयी से चारो वेदो का अवबोध होता है उसी प्रकार द्विज, आर्य और तीनो वर्णो के कथन से शूद्र वर्ण का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

(५) कालान्तर में ब्राह्मणो का और इतरवर्णों के शूद्रो का सघर्ष चला जिस में ब्राह्मण अपनी एकता और समाज मे बौद्धिक कार्य के सम्पादक होने के कारण विजयी हुए और अन्य वर्णो के शूद्र पददलित हुए। जहाँ कहीं मिल सके वहा उन की गोत्रपरम्परा इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालने वाली होगी।

१ ऋ ९।९६।६। २ वसिष्ठधर्मसूत्र ३।३। वभाप० १।१३।

अथ

पारस्करगृह्यसूत्रे

उपनयनसूत्राणि

(द्वितीयकाण्डे कण्डिका: ३—७)



१-अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद् गर्भाष्टमे वा ॥१॥

२-एकादशवर्षं राजन्यम् ॥२॥

३ द्वादशवर्षं वैश्यम् ॥३॥

४-यथामङ्गलं वा सर्वेषाम् ॥४॥

पारस्करगृह्यसूत्र के उपनयन सम्बन्धी सूत्रों का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद

(काण्ड २, कण्डिका ३—७)

१—ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) को आठ वर्ष के का अथवा (उस के) गर्भ (में आने के दिन से) आठवें (वर्ष) में (आचार्य के पास) लाए (अर्थात्—उस का यज्ञोपवीत संस्कार कराए)।

२—क्षत्रिय बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) को ग्यारह वर्ष के का (यज्ञोपवीत संस्कार कराए)।

३—वैश्य बनने के योग्य और इच्छुक (बालक) का बारह वर्ष के का (यज्ञोपवीत संस्कार कराए)।

४—अथवा सब का शुभ परिस्थितियों में (उपनयन कराया जा सकता है)।

५-ब्राह्मणान् भोजयेत् ।
६-तं च वपुं मुशिग्ममलंकृतमानयन्ति ॥५॥
७ परचादग्नेरवस्थाप्य ब्रह्मचर्यमागामिति वाचयति—
ब्रह्मचार्यसानीति च ॥६॥
८-अथैनं वासः परिधापयति—
९-येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम् ।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चस इति ॥७॥

५—(उस अवसर पर गुरुकुलस्थ आचार्य आदि) ब्राह्मण (वृत्ति के लोगों) को भोजन कराए।
६—और (अब) उस (ब्रह्मचारी) को सिर मुँडवा कर और आभूषण पहना कर (शब्दार्थ—मुण्डे हुए शिर वाले और सजे हुए को) (यज्ञवेदी पर) लाते हैं।
७—अग्नि के पश्चिम में (आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के) बिठा कर (आचार्य उस से) कहलाता है—'(मैं) ब्रह्मचर्य व्रत को प्राप्त हुआ हूँ' तथा '(मैं) ब्रह्मचारी हो जाऊँ।'
८—अब (आचार्य) उस (ब्रह्मचारी) को वस्त्र पहनवाता है—
९—(बृहस्पतिः) वेदवाणी के अधिकृत विद्वान् आचार्य [पूर्व काल से] (इन्द्राय) परम तेजस्वी बलवान् ब्रह्मचारियों को (येन) जिस प्रकार (अमृतम्) वेद और उस की अध्यात्म-विद्या के अध्ययन के लिए नियत (वासः) वस्त्र (पर्यदधात्) धारण कराते आए हैं (तेन) उसी प्रकार (आयुषे) प्राण-शक्ति (आयुत्वाय) [यज्ञमय] दीर्घ जीवन (बलाय) बल [और] (वर्चसे) ब्रह्मतेज [की प्राप्ति] के लिए (त्वा) तुम्हें [इस व्रत के लिए नियत वस्त्र] (परिदधामि) धारण कराता हूँ।

१०-मेखलां बध्नीते ।

११-इयं दुरुक्तं परिबाधमाना
वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना
स्वसा देवी सुभगा मेखलेयमिति ॥८॥

१२-युवा सुवासाः परिवीत आगात्
स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति
स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥
इति वा ॥९॥

१०—(अब आचार्य के कहने पर ब्रह्मचारी इन मन्त्रों को पढ़ कर) मेखला (= तगडी) बाँधता है ।—

११—[दुरुक्तम्] (मेरे) दुष्ट वचनों को [परिबाधमाना] नष्ट करती हुई (और) [मे] मेरे [पवित्रम्] पावन [वर्णम्] (ब्रह्मचर्यव्रत पालन रूपी) यश को [पुनती] पवित्र करती हुई, [प्राणापानाभ्याम्] प्राण और अपान (के नियमन) द्वारा [बलम्] बल [आदधाना] देती हुई [स्वसा] (शैथिल्य को) दूर भगाने वाली (अथवा-बहन के सदृश) [देवी] द्योतनशील (=चमकती हुई) [सुभगा] सुन्दर ऐश्वर्य या कर्मफल (=भाग्य) (देने) वाली [इयम्] यह [मेखला] तगडी (आज से मुझे) [आगात्] प्राप्त हो गई है ।

१२—[इति वा] अथवा इस (मन्त्र) को (पढ़े)-[सुवासा.]

१३ तूष्णीं वा ॥१०॥

१४-×अत्र यज्ञोपवीतपरिधानम्—

१५ [यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं
प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि ॥इति॥

सुन्दर वस्त्र धारण किए हुए [परिवीत] (विद्याप्राप्ति की भावना से) भरा हुआ (वा—आचार्य से सङ्गत हुआ) [युवा] नया ब्रह्मचारी [आगात्] (ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिए गुरु के पास) आया है। [उ] निश्चय [सः] वह [जायमान] (आचार्य से ताता रातों में तरस) उत्पन्न होता हुआ [श्रेयान्] श्रेय (कल्याण का आधार) (शब्दार्थ—श्रेष्ठ) [भवति] होता है [धीरास] गम्भीर बुद्धिमान् [स्वाध्य] सुन्दर विद्याओं का आधान करने वाले [मनसा] मन में [देवयन्त] (ब्रह्मचारी को) वेदार्थवेत्ता विद्वान् बनाने की इच्छा करते हुए [कवय] विद्वान् आचार्य (उस को) [उन्नयन्ति] (सद्गुणयुक्त शिक्षा प्रदान आदि द्वारा) उन्नत करते हैं।

१३—अथवा चुप चाप (=मौन हो कर बिना मन्त्र बोले ही) (मेखला बांधे)।

१४—यहां यज्ञोपवीत पहना जाता है—

१५—[यत्] जो [पुरस्तात्] पहले [प्रजापते] यज्ञ के [सहजम्] साथ उत्पन्न हुआ [परमम्] परमात्मा (के ज्ञान

१६-अथाजिनं प्रयच्छति ।

१७-मित्रस्य चक्षुर्धरुणं बलीयस्तेजो
यशस्वि स्थविरं समिद्धम् ।
अनाहनस्यं वसनं जरिष्णु परीदं
वाज्यजिनं दधेऽहमिति ॥]

१८ दण्डं प्रयच्छति ॥११॥

क ब्रह्मचारी को) मैं पवित्र अथवा परम [पवित्रम्] पावन [यज्ञोपवीतम्] (यज्ञोपवीत रूप) यज्ञ का ज्ञापक (जनेऊ) [अग्र्यम्] सर्वोत्तम [आयुष्यम्] आयु [प्रतिमुञ्च] प्रदान कर (यह [शुभ्रम्] सफेद रङ्ग का [यज्ञोपवीतम्] जनेऊ [बलम् तेजः] बल और तेज [अस्तु] देने वाला हो ॥ [यज्ञस्य] (तुम) यज्ञ के [यज्ञोपवीतम्] जनेऊ [असि] हो । (मैं) [त्वा] तुम को [यज्ञोपवीतेन] जनेऊ [उपनह्यामि] पहनाता हूं ॥

१६—अब (आचार्य ब्रह्मचारी को) काले मृग का चर्म देता है ।

१७—[मित्रस्य] मित्र (—दुःख से बचाने वाले) की [चक्षु] आंख के सदृश, [धरुणम्] धारक, [बलीय] दृढ़ [तेजः] तेजस्वी [यशस्वि] (और) यशस्वी [स्थविरम्] पुराना [समिद्धम्] चमकीला (—साफ सुथरा) [अनाहनस्यम्] पवित्र (करने वाला), [जरिष्णु] चिरकाल में फटने वाला (अर्थात् – का) [इदम्] इस [वाजि] ज्ञान और शास्त्र का प्रकाशक [अजिनम्] काले मृग की खाल (रूप) [वसनम्] वस्त्र को [अहम्] मैं (तुम्हें) [परिदधे] पहनाता हूं ।

१८—(अब आचार्य ब्रह्मचारी को) दण्ड देता है ।

१६-तं प्रतिगृह्णाति ।

२०-यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधि भूम्याम् ।

तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति ॥१२॥

१-दीक्षावदेके दीर्घसत्रमुपैतीति वचनात् ॥१३॥

२२-अथास्याद्भिरञ्जलिनाऽञ्जलिं पूरयति –

१६—(ब्रह्मचारी) उस डण्डे को ग्रहण करता है।

२०—[य] (वह) जो [मे] मेरे [परापतत्] सामने आया हुआ है, [भूम्याम् अधि] सब पदार्थों आदि के मध्य [वैहायस] निरन्तर गति करने वाला, [दण्ड] (अनुशासन करने वाला) डण्डा (है), [तम्] उस को [अहम्] मैं (ब्रह्मचारी) [आयुषे] (प्रगतिशाली) जीवन, [ब्रह्मणे] वेदाध्ययन (और) [ब्रह्मवर्चसे] ब्रह्मतेज (की प्राप्ति) के लिए [पुन] (अपने से) पहले के (ब्रह्मचारियों के) समान [आ ददे] धारण करता हूँ।

२१—(दीर्घ काल तक चलने वाले ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षा लेने वाला बालक) लम्बे सोमसत्र में (दीक्षा) लेता है ऐसा (शास्त्र का) वचन होने के कारण कुछ (आचार्य सोमसत्र की) दीक्षा (में दण्डग्रहण) के समान (यहाँ भी 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' इत्यादि मन्त्र से दण्डधारण मानते हैं) ॥

२२—अब जल से (भरी हुई अपनी) अञ्जलि से (पानी छोड़ कर) उस (ब्रह्मचारी) की अञ्जलि को (जल से) भरता है।

१—एतत्सूत्रे कात्यायनश्रौतसूत्रपठितो मन्त्रः—'उच्छ्रयस्व वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाह्यँ हस आस्य यज्ञस्योदृचः' अभिप्रेत ।

२३-आपो हि ष्ठेति तिसृभिः ॥१४॥

२४-अथैनं सूर्यमुदीक्षयति—

२५ तच्चक्षुरिति ॥१५॥

२६-अथास्य दक्षिणांसमधिहृदयमालभते—

२७-मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु। मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ इति ॥१६॥

२३—(आचार्य बालक की अञ्जलि को) 'आपो हि ष्ठा' आदि तीन (मन्त्रों) से (भरता है)।

२४—अब उस (ब्रह्मचारी) को सूर्य का दर्शन कराता है।

२५—(आचार्य की प्रेरणा पर ब्रह्मचारी) 'तच्चक्षु.' आदि (मन्त्र) को बोलता हुआ सूर्य को देखता है।

२६—अब (आचार्य) उस (बालक) के दाहिने कन्धे और हृदय को छूता है।

२७—[मम] अपने (=आचार्य के) [व्रते] अनुशासन में [ते] तुम्हारे [हृदयम्] हृदय को [दधामि] व्याप्त करता हूँ।

१—आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥१॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥२॥ तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

२—तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥

२८ अथास्य दक्षिणं हस्तं गृहीत्वाऽऽह—को
नामासीति ॥१७॥

२९-असावहं भो३इति प्रत्याह ॥१८॥

३०-अथैनमाह—कस्य ब्रह्मचार्यसीति ॥१९॥

३१-भवत इत्युच्यमान इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्यग्निराचार्यस्तवाह-
माचार्यस्तवासाविति ॥२०॥

[ते] तुम्हारा [चित्तम्] ज्ञान [मम] मेरे [चित्तम्] ज्ञान [अनु] के समान [अस्तु] हो। [मम] मेरा [वाचम्] वाणी को [एकमना] एकाग्र मन से [जुषस्व] सुना करना। [बृहस्पति] ब्रह्माधिपति परमात्मा [त्वा] तुम्हें [मह्यम्] मेरे लिए (अर्थात्—मेरे से शिक्षा प्राप्त करने के लिए) [नियुनक्तु] नियुक्त करते रहें।

२८—अब उस के दायें हाथ को पकड़ कर (आचार्य) कहता है—तुम्हारा क्या नाम है [शo तुम किस (सुखद) नाम वाले हो]।

२९—वह (बालक) उत्तर देता है—हे (श्रीमन्) यह मैं—हूँ।

३०—अब (आचार्य) उस से पूछता है—[कस्य] तुम (सुखदायक) किस के ब्रह्मचारी हो।

३१—'आप का' यह कहे जाने पर (आचार्य कहे कि) तुम [इन्द्र] परमैश्वर्यशाली और शक्तिमान् परमेश्वर के ब्रह्मचारी हो। [अग्निः] अज्ञान और पाप आदि को अग्नि के समान जलाने वाला परमेश्वर या वेदज्ञान तुम्हारा आचार्य है। वह मैं भी तुम्हारा आचार्य हूँ।

१—अथास्य। २—आर्षे०

३२-अथैनं भूतेभ्यः परिददाति-

३३-प्रजापतये त्वा परिददामि देवाय त्वा सवित्रे परिददा-
म्यद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि द्यावापृथिवीभ्यां त्वा
परिददामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि सर्वेभ्यस्त्वा
भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्या इति ॥२१॥२।३॥

३२—अब उस (ब्रह्मचारी) को [भूतेभ्य] समस्त उत्पन्न पदार्थों से (उचित उपयोग लेने के लिए) करता है (शब्दार्थ—देता है)।

३३—[अरिष्ट्यै] सुरक्षा के लिए (मैं) [त्वा] तुम्हें [प्रजापतये] प्राणियों के रक्षक परमात्मा को [परिददामि] समर्पित करता हूँ। [देवाय] दीप्तिमान् [सवित्रे] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर को [त्वा] तुम्हें [परिददामि] समर्पित करता हूं। (मैं तुम्हें) [अद्भ्यः] जलों को (और) [ओषधीभ्यः] ओषधियों को [परिददामि] देता हूँ। (मैं) [त्वा] तुम्हें [द्यावापृथिवीभ्याम्] द्युलोक और पृथिवी लोक (अथवा प्राण और उदान) को [परिददामि] देता हूँ। (मैं तुम्हें) [विश्वेभ्यः देवेभ्यः] समस्त तत्त्वों पदार्थों को [परिददामि] सौंपता हूँ। [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] सम्पूर्ण [देवेभ्य] (वसु, रुद्र, और आदित्य आदि) दिव्य पदार्थों (या विद्वानों) को [परिददामि] देता हूं, (और) [त्वा] तुम को [सर्वेभ्यः] समस्त [भूतेभ्य] भूतों (पृथिवी, आपस, तेज, वायु और आकाश रूप या प्राणिमात्र) को [परिददामि] देता हूँ।

३४ प्रदक्षिणमग्निं परीत्योपविशति ॥१॥

३५-अन्वारब्ध आज्याहुतीर्हुत्वा प्राशनान्तेऽथैनँ ꣳस ꣳशास्ति

३६-ब्रह्मचार्यसि ।

३७-अपोऽशान ।

३८-कर्म कुरु ।

३९-मा दिवा सुषुप्था ।

४०-वाचं यच्छ ।

४१-समिधमाधेहि ।

४२-अपोऽशान ।।इति।।२।।

३४—अग्नि का प्रदक्षिणा कर के (आचार्य के बाईं ओर) बैठता है।

३५—पुनः (यज्ञ के) आरम्भ होने पर घृत के (१४) आहुतियाँ दे कर, (यज्ञशेष के) खा लेने पर अब उस (ब्रह्मचारी) को शिक्षा देता है—

३६—(अब) तुम ब्रह्मचारी हो।

३७—(सब कर्मों अथवा-सन्ध्योपासन और भोजन के आरम्भ में) पानी पिया करो (अर्थात्-आचमन किया करो)।

३८—(सदा) काम करते रहना।

३९—दिन में न सोना।

४०—(पूछे जाने पर) उत्तर देना।

४१—समिधाओं से यज्ञ किया करो (शब्दार्थ—समिधा को आग में रक्खा कर।)

४२—(अब फिर यज्ञ आदि कर्मों की समाप्ति पर) किया करो।

४३-अथास्मै सावित्रीमन्वाहोत्तरतोऽग्नेः प्रत्यङ्मुखायोपविष्टायोपसन्नाय समीक्षमाणाय समीक्षिताय ॥३॥

४४-दक्षिणतस्तिष्ठत आसीनाय वैके ॥४॥

४५-पच्छोऽर्द्धर्चशः सर्वां च तृतीयेन सहानुवर्तयन् ॥५॥

४६-संवत्सरे *षाण्मास्ये चतुर्विंशत्यहे द्वादशाहे षडहे त्र्यहे वा ॥६॥

४७-सद्यस्त्वेव गायत्रीं ब्राह्मणायानुब्रूयादाग्नेयो वै ब्राह्मण इति श्रुतेः ॥७॥

४३—अब अग्नि के उत्तर की ओर, पश्चिम की ओर मुख वाले, बैठे हुए, (प्रणाम और श्रद्धाभाव से शिक्षा प्राप्त करने के लिए) उपस्थित हुए, (गुरु को शान्त चित्त से) देखते हुए और (गुरु द्वारा शान्त चित्त) निश्चित किए गए इस (ब्रह्मचारी) को गायत्री का उपदेश करे।

४४—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि (अग्नि के) दक्षिण की ओर खड़े हुए या बैठे हुए को (गायत्री का उपदेश करे)।

४५—(पहले) एक-एक पाद को, (फिर) आधा-आधा ऋचा को और तीसरी बार सम्पूर्ण मन्त्र को (ब्रह्मचारी के) साथ-साथ पढ़ता हुआ (आचार्य उपदेश करे)।

४६—(इस गायत्री पाठ को) एक वर्ष में (या) छै मास में, (या) चौबीस दिन में (या) बारह दिन में, (या) छै दिन में अथवा तीन दिन में (पूरा कराए)।

४७—निःसन्देह ब्राह्मण अग्निपुत्र होता है—इस श्रुति के कारण ब्राह्मण बनने के इच्छुक और योग्य (ब्रह्मचारी) को तो गायत्री तुरन्त ही सिखा सकता है।

४८-त्रिष्टुभं * राजन्यस्य ॥८॥

४९-जगतीं वैश्यस्य ॥९॥

५०-सर्वेषां वा गायत्रीम् ॥१०॥३।४॥

५१-अत्र समिदाधानम् ॥१॥

५२-पाणिनाऽग्निं परिसमूहति—

५३-अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मा कुरु ।
यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येव मां † सुश्रवः सौश्रवसं कुरु ।
यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति ॥२॥

४८—क्षत्रिय को त्रिष्टुभ् (छन्द वाली) (सावित्री ऋचा (सिखाए) ।

४९—वैश्य को जगती (छन्द वाली सावित्री ऋचा सिखाए) ।

५०—अथवा सब को गायत्री (छन्द वाली ऋचा सिखाए) ।

५१—(अब ब्रह्मचारी) यहाँ (अग्नि) में समिधाओं का प्रक्षेप (करे) ।

५२—(ब्रह्मचारी) हाथ से आग को (इकट्ठा कर के) तेज करे ।

५३—[सुश्रवः] हे शोभन यश वाले [अग्ने] परमात्मन्, [मा] मुझे [सुश्रवसम्] शुभ्र यश वाला [कुरु] बना दो । [सुश्रव] हे उत्तम कीर्ति वाले [अग्ने] परमेश्वर [यथा] जिस प्रकार [त्वम्] आप [सुश्रवा] परम विश्रुत हैं, [सुश्रव.] हे यशस्वी [माम्] मुझे [सौश्रवसम्] उत्तम यश वाला [कुरु] कर दे । [अग्ने] हे परमेश्वर [यथा] जिस प्रकार [त्वम्] आप [देवानाम्] (सूर्यादि भौतिक) दिव्य पदार्थों के [यज्ञस्य] (कर्मों में प्राप्त) यज्ञभाव के [निधिपाः]

५४-प्रदक्षिणमग्निं पर्युक्ष्योत्तिष्ठन्त्समिधमादधाति ।

५५-अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।

यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे, जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भूयासँ ✝ स्वाहेति ॥३॥

रक्षक (= धारक) [असि] हो, [एवम्] उसी प्रकार [अहम्] मैं (भी) [मनुष्याणाम्] मनुष्यों में [वेदस्य] वेद के [निधिप.] कोष का रक्षक [भूयासम्] बन जाऊँ ।

५४—प्रदक्षिणा की हुई अग्नि का (जल से) छिड़क कर खड़े हुए (ही) (अग्नि) में समिधा डालता है ।

५५—(मैं ने) [बृहते] महान् [जातवेदसे] (समस्त) उत्पन्न (पदार्थ आदि) को ज्ञात [अग्नये] अग्नि को [समिधम्] समिधा [अहार्षम्] दी है । [अग्ने] हे आग [यथा] जैसे [त्वम्] तुम [समिधा] समिधा से [समिध्यसे] प्रदीप्त होती हो [एवम्] उसी प्रकार [अहम्] मैं [आयुषा] आयु [मेधया] धारणवती बुद्धि (वर्चसा] तेज [प्रजया] विश्व ज्योति (या अन्न), [पशुभि.] शान्ति और कल्याण (और) [ब्रह्मवर्चसेन] वेदाध्ययन की सम्पत्ति से [समिन्धे] प्रदीप्त हो जाऊँ । [मम] मेरे [आचार्यः] आचार्य [जीवपुत्र.] दीर्घजीवी पुत्रों वाले (हों अथवा—परम गतिशील, बुद्धिमान् और यशस्वी हैं) । [अहम्] मैं [मेधावी] बुद्धिमान् [असानि] हो जाऊँ, [अनिराकरिष्णु.] (गुरु

५६-एवं द्वितीयां तथा तृतीयाम् ॥४॥

५७-*एषा त इति वा समुच्चयो वा ॥५॥

५८-पूर्ववत् परिसमूहनपर्युक्षणे ॥६॥

५९-पाणी प्रतप्य मुखं विमृष्टे—

६०-तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि, वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥७॥

के उपदेश को) न भूलने (या—ठुकराने) वाला, [यशस्वी] कीर्तिमान् (=प्रसिद्ध) [तेजस्वी] तेजस्वी [ब्रह्मवर्चसी] वेद ज्ञान के तेज से युक्त, [अन्नाद] (और) समस्त भोग्य पदार्थों का भोग करने वाला [भूयासम] रहूँ। [इति] (मेरा) यह [स्वाहा] (वाणी) सिद्ध हो।

५६—इसी प्रकार (इस मन्त्र को पढ़ कर) दूसरी और तीसरी (समिधा) डाले।

५७—अथवा 'एषा ते'–(मन्त्र से समिधा डाले।) अथवा ('अग्नये समिधम्' और 'एषा ते'—इन दोनों मन्त्रों को) मिला कर (समिधा डाले)।

५८—पहले के समान ही (अग्नि को) एकत्र कर के प्रदीप्त करने और जल छिड़कने को (क्रियाएँ करे) ॥६॥

५९—दोनों हाथ तपा कर (उन से) मुख को मलता है।

---

* एषा ते अग्ने समित्तया वर्द्धस्व चा च प्यायस्व। वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि॥ अग्ने वाजजिद्वाजन्त्वा ससृवाँ स वाजजितँ सम्मार्जिम॥"— य० २।१४॥

६१-मेधां मे देवः सविता आदधातु, मेधां मे देवी सरस्वती आदधातु, मेधामश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजाविति॥८१॥

६०—(अग्ने) हे (प्राण और तेजस् के प्रतीक) अग्ने, (तनूपाः असि) (तुम) शरीर के रक्षक हो (मे) मेरे [तन्वम्] शरीर की [पाहि] रक्षा करो। [अग्ने] हे अग्ने [आयुर्दा असि] तुम जीवन के देने वाले हो, [मे] मुझे [आयुः] (यज्ञमय गतिशील) जीवन [देहि] प्रदान करो। [अग्ने] हे अग्नि, [वर्चोदा असि] तुम तेज के देने वाले हो [मे] मुझे [वर्चः] तेज [देहि] दो। [अग्ने] हे अग्ने [मे] मेरे [तन्वा] शरीर में [यत्] जो कुछ [ऊनम्] कमी हो [तत्] उसे [मे] मेरे (शरीर) में [आ पृण] पूरा कर दो ॥७॥

६१—[देव सविता] दिव्य गुण युक्त सर्वोत्पादक परमेश्वर [मे] मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] दें। [दिव्य] अलौकिक स्वरूप वाले [सरस्वती] ज्ञान-रूप परमेश्वर [मे] मुझे [मेधाम्] मेधा [आदधातु] प्रदान करें। [पुष्करस्रजौ] वाक् और प्रतिष्ठा रूपी कमल की माला पहनने वाले [देवौ] दिव्य गुणों वाले [अश्विनौ] अध्यापक और उपदेशक विद्वान् (अथवा, प्राण और अपान) [मे] मुझे] [मेधाम्] मेधा [आधत्ताम्] दें।

१—गुजरातप्रसंस्करणे कण्डिकासमाप्तिद्योतकोऽङ्क — ४ इति अत्रापि प्रदर्शितः।

६२-(अङ्गान्यालभ्य जपत्यङ्गानि च म आप्यायन्तां
वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं यशो बलमिति ।
६३-त्र्यायुषाणि करोति भस्मना ललाटे ग्रीवायां दक्षिणे [1]ऽसे
हृदि च-त्र्यायुषमि त प्रतिमन्त्रम्) ॥४।५ ॥
६४-अत्र भिक्षाचर्यचरणम् ॥१॥
६५-भवत्पूर्वां ब्राह्मणो भिक्षेत ॥२॥
६६-भवन्मध्यां राजन्यः ॥३॥
६७-भवदन्त्यां वैश्यः ॥४॥

६२—[अङ्गों का छू कर (मन-मन म उच्चारण करते हुए) भावना करता है (कि)—मेरे (शरीर के) अङ्ग, वाणी, प्राण, दर्शन और श्रवण शक्तियाँ यश और बल बढ़ते रहें ।

६३—'त्र्यायुषम्'—इन (तीन मन्त्रों म से) प्रत्येक से राख से मस्तक, गरदन, दाहिने कन्धे और हृदय पर त्र्यायुष (-त्रिपुण्ड्रक नाम का तिलक) लगाए] ॥४।५॥

६४—अब भिक्षा माँगने की वृत्ति की जाती है ।

६५—ब्राह्मण गुणों का इच्छुक (वाक्य के) आरम्भ में 'भवत्' का उच्चारण कर के भिक्षा माँगे ।

६६—क्षत्रिय गुणों का इच्छुक 'भवत्' को बीच में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे) ।

६७—वैश्य गुणों का इच्छुक 'भवत्' को अन्त में (प्रयोग कर के भिक्षा माँगे ।)

१—त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ य० ३।६२॥

६८-तिस्रोऽप्रत्याख्यायिन्यः ॥५॥

६९-षड् द्वादशापरिमिता वा ॥६॥

७०-मातरं प्रथमामेके ॥७॥

७१-आचार्याय मैवं निवेदयित्वा वाग्यतोऽहःशेषं तिष्ठेदित्येके ॥८॥

७२-अहिं[1]सन्नरण्यात् समिधमाहृत्य तस्मिन्नग्नौ पूर्ववदाधाय वाचं विसृजते ॥९॥

७३-अधःशाय्यक्षारालवणाशी स्यात् ॥१०॥

७४-दण्डधारणमग्निपरिचरणं गुरुशुश्रूषा भिक्षाचर्या ॥११॥

६८—तीन (भिक्षा देने से) इन्कार करने वाली नहीं होतीं।

६९—छै, बारह अथवा असंख्य (इन्कार न करने वाली होती हैं)।

७०—कुछ (आचार्य कहते हैं कि) पहले माता से (भिक्षा माँगे)।

७१—कुछ (आचार्य कहते हैं) कि भिक्षा से प्राप्त सामग्री को आचार्य के अर्पण कर के (अथवा बता कर) शेष दिन में संयत वाणी वाला रहे।

७२—अहिंसक रहते हुए (अथवा बिना स्वयं काटे स्वतः गिरी हुई) समिधाएँ ला कर उस (संस्कार के समय प्रज्वलित की गई) अग्नि में पहले के समान डाल कर (मन्त्र आदि) वाणी को बोले (श०—छोड़े)।

७३—नीचे सोने वाला, खारा और नमक न खाने वाला हो।

७४—दण्डा रखना, अग्नि की (हवन द्वारा) सेवा, गुरु की सेवा और भिक्षावृत्ति (करे)।

१—गुजरातीसंस्करणे—समिध आहृत्य—इति पाठः।

७५-मधुमांसमज्जनोपर्यासनस्त्रीगमनानृतादत्तादानानि वर्जयेत् ॥१२॥

७६-अष्टचत्वारिंशद् वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत् ॥१३॥

७७-द्वादश द्वादश वा प्रतिवेदम् ॥१४॥

७८-यावद्ग्रहणं वा ॥१५॥

७९-वासांसि शाणक्षौमाविकानि ॥१६॥

८०-ऐणेयमजिनमुत्तरीयं ब्राह्मणस्य ॥१७॥

८१-रौरवं राजन्यस्य ॥१८॥

८२-आजं गव्यं वा वैश्यस्य ॥१९

७५—शराब, मांस, (गोते लगा-लगा कर अतिशय) स्नान (अथवा—मालिश), ऊँचे आसन पर बैठना, स्त्रियों से संसर्ग, झूठ बोलना और न दी हुई वस्तु को लेना छोड़ दे।

७६—अड़तालीस वर्ष तक वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य का सेवन करे।

७७—अथवा प्रत्येक वेद के लिए बारह-बारह वर्ष (ब्रह्मचारी रहे)।

७८—अथवा पूरी प्रकार (वेद) पढ लेने तक (ब्रह्मचारी रहे)।

७९—(ब्रह्मचारियों के) वस्त्र सन, रेशम और भेड़ की ऊन के (होते हैं)।

८०—ब्राह्मण का ऊपर का वस्त्र एण (=काला बारह सींघा) नामक हरिण का काला चर्म (हो)।

८१—क्षत्रिय का (उत्तरीय) रुरु नामक हरिण (की खाल हो)।

८२—वैश्य का (उत्तरीय) बकरे या गाय का (चर्म हो)।

८३-सर्वेषां वा गव्यमसति प्रधानत्वात् ॥२०॥

८४-मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥२१॥

८५-धनुर्ज्या राजन्यस्य ॥२२॥

८६-मौर्वी वैश्यस्य ॥२३॥

८७ मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकबल्वजानाम् ॥२४॥

८८-पलाशो ब्राह्मणस्य दण्डः ॥२५॥

८९-वैल्वो राजन्यस्य ॥२६॥

९०-औदुम्बरो वैश्यस्य ॥२७॥

९१-सर्वे वा सर्वेषाम् ॥२८॥

८३—अथवा, न मिलने पर प्रमुख होने के कारण सब का ही (उत्तरीय) गाय (के चर्म) का हो।

८४—ब्राह्मण की तगडी मूँज की हो।

८५—क्षत्रिय की (तगडी) धनुष नामक घास (या धनुष की डोरी) की (हो)।

८६—वैश्य की (तगडी) मूर्वा घास की (हो)।

८७—मूँज न मिलने पर डाभ, अश्मन्तक (या) बल्व नामक घास की बनी हुई (हो)।

८८—ब्राह्मण का दण्डा ढाक का हो।

८९—क्षत्रिय का (दण्डा) वेल का हो।

९०—वैश्य का (दण्डा) गूलर का हो।

९१—अथवा सब के ही (दण्डे) सब ही (लकड़ियाँ) हो (सकती हैं)।

९२-(केशसंमितो ब्राह्मणस्य दण्डो ललाटसंमितः क्षत्रियस्य घ्राणसंमितो वैश्यस्य।)

९३-आचार्येणाहूत उत्थाय प्रतिशृणुयात् ॥२९॥

९४ शयानं चेदासीन आसीनं चेत्तिष्ठंस्तिष्ठन्तं चेदभिक्रामन्नभिक्रामन्तं चेदभिधावन् ॥३०॥

९५-स एव वर्तमानोऽमुत्राथ वसत्यमुत्राथ वसतीति तस्य स्नातकस्य कीर्तिर्भवति ॥३१॥

९६-त्रयः स्नातका भवन्ति—विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति ॥३२॥

९२—(ब्राह्मण का दण्डा बालों तक लम्बा, क्षत्रिय का माथे तक लम्बा और वैश्य का कान तक लम्बा हो)।

९३—आचार्य से बुलाया जाने पर उठ कर सुने।

९४—यदि (आचार्य) लेटे हुए को (बुलाएँ तो) बैठ कर, यदि बैठे हुए को (बुलाएँ तो) खड़ा हो कर, यदि खड़े हुए को (बुलाएँ) तो पास जा कर और यदि चलते हुए को (बुलाएँ) तो दौड़ कर (सुने)।

९५—वह (ब्रह्मचारी) इस प्रकार रहता हुआ आज यहाँ स्वर्ग में रहता है, आज वहाँ स्वर्ग में रहता है, इस प्रकार उस स्नातक का यश फैल जाता है।

९६—तीन प्रकार के स्नातक होते हैं—विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक।

९७-समाप्य वेदमसमाप्य व्रतं यः समावर्तते स विद्यास्नातकः ॥३३॥

९८-समाप्य व्रतमसमाप्य वेदं यः समावर्तते स व्रतस्नातकः॥३४॥

९९-उभयं * समाप्य यः समावर्तते स विद्याव्रतस्नातक इति।३५॥

१००-आषोडशाद् * ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवति ॥३६॥

१०१-आ द्वाविं * शाद् राजन्यस्य ॥३७॥

१०२-आ चतुर्विं * शाद् वैश्यस्य ॥३८॥

१०३-अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति । ३९॥

९७—जो वेद को (पूरा पढ कर) और (ब्रह्मचर्य) व्रत को पूरा समाप्त किए बिना (आचार्य कुल से संसार में) लौट आता है वह विद्यास्नातक (कहलाता) है ।

९८—जो ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त कर के और वेद को पूरा न (पढ) कर (संसार में) लौट आता है वह व्रतस्नातक (होता है)।

९९—जो (वेद और ब्रह्मचर्यव्रत) दोनों को पूरा कर के (आचार्य कुल से पितृकुल में) लौटता है वह विद्याव्रतस्नातक (कहलाता) है ।

१००—सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण का (उपनयन) काल है (शब्दार्थ—बीता हुआ नहीं है) ।

१०१—क्षत्रिय का (उपनयन काल) २२ वें वर्ष तक है ।

१०२—वैश्य का (उपनयन काल) २४ वर्ष तक है ।

१०३—इस (ऊपर के सूत्रों में वर्णित अवधि) के ऊपर (सब) गायत्रीमन्त्र के उपदेश से च्युत हो जाते हैं ।

१—ब्राह्मणस्य नातीतः ।

१०४ नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्न चैभिर्व्यवहरेयुः ४०॥

१०५-कालातिक्रमे नियतवत् ॥४१॥

१०६-त्रिपुरुषं पतितमावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च ॥४२॥

१०७-तेषां [ ] संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् व्यवहार्या भवन्तीति वचनात् ॥४३॥५।६॥

१०८-अथोपनीतो ब्राह्मणस्त्रिशिखः शिखी जटिलो मुण्डो वाऽक्षारालवणाशी स्यात् ॥१॥

१०४—(विद्वान) न इन का उपनयन संस्कार कराएँ न (इन्हें) पढ़ाएँ, न इन से यज्ञ कराएँ, न इन से व्यवहार करें।

१०५—(ऊपर निर्धारित) काल के बीत जाने पर नित्य कर्मों को न करने वाले व्यक्ति के (साथ किए जाने वाले व्यवहार के) समान (इन से व्यवहार करें)।

१०६—तीन पीढ़ियों (पिता, पुत्र और पौत्र) तक गायत्री के उपदेश से वञ्चित हुए पुरुषों के पुत्र का (न) संस्कार (होता है) और न अध्यापन।

१०७—उन (तीन पुरुषों में से) (जो) उपनयन संस्कार के इच्छुक हों वे व्रात्यस्तोम से यज्ञ कर के व्यवहार के योग्य बन जाते हैं–इस विधान के आधार पर इच्छानुसार पढ़ सकते हैं।

१०८—उपनयन संस्कार किया हुआ ब्राह्मण बालक तीन चोटियों (या) एक चोटी या जटाओं वाला या मुंडे (हुए सिर) वाला खारी और नमकीन न खाने वाला रहे।

१०६-सावित्र॑ षड्रात्रं त्रिरात्रं॑ सद्यःकालं वा चरेत् ॥२॥

११०-तदेव व्रतम् उदीच्य दण्डमपो निधाय मेखलां यज्ञोपवीतं चाप्स्वन्तरिति प्रत्यृचं नमो॑ वरुणायेति

१०६—सविता के (व्रत का वह) छै रात (या) तीन रात या उसी समय (=उपनयन के समय) पालन करे।

११०—उसी सविता के व्रत (के पालन) को देख कर डण्डे को (और) 'अप्स्वन्तर' (और 'देवीरापो'—इन दो मन्त्रों में से) एक-एक मन्त्र से (क्रमशः) मेखला (=तगडी) और यज्ञोपवीत को जल में रख कर (और) 'नमो॑ वरुणाय'

*१—अप्स्वन्तर् मन्त्रा विजयचन्द्रशर्मसदाचार्यैर्णैतं प्रत्त— अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो व ऊर्मि प्रतूर्त्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनाय वाज॑-सेत् ॥ य० ६।६ पर ॥ सूत्रकाराय चतस्र ऋचो अभिप्रेताः प्रतायन्ते या एव सन्ति—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
देवा भवत वाजिनः ॥१॥
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः ॥२॥
आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥३॥
इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि।
यद् वाहमभिदुद्रोह यद् वा शेप उतानृतम् ॥४॥ ऋ० १।२३।१६-२२॥

२—तैत्त० ७।४।१६।२। मन्त्र का इतना भाग ही अभिप्रेत है।

निर्मधुर[1] दत्त्वा ततोऽस्याग्नेयं प्रथमं वेदव्रतमादिशेत् ॥३॥

१११-ब्राह्मणक्षत्रियविशां पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि भवन्ति ॥४॥

११२-आग्नेयं शुक्रियमौपनिषदं शौलभं गोदानमिति पञ्च सांवत्सरिकाणि वेदव्रतानि चरित्वा स्नात्वोपव्रतं चरेत् ॥५॥

११३-त्रिष्ववगुण्ठनं शुक्रियादिषु शुक्रियं शुक्रैः श्रावयेत् ॥६॥

११४ औपनिषदमौपनिषद्भिः शौलभं शौलभिनीभिः ॥७॥

(मन्त्र भाग) से तीन बार मीठा (=दही, शहद और चीनी) दे कर फिर पहले (अग्नि सम्बन्धी (=आग्नेय) वेद के व्रत का उपदेश करें।

१११—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के एक वर्ष की अवधि वाले पाँच वेदव्रत होते हैं।

११२—आग्नेय, शुक्रिय, औपनिषद, शौलभ और गोदान—'एक साल की अवधि' में समाप्त होने वाले इन पाँच वेद व्रतों का पालन करे और स्नान कर के 'उपव्रत' का पालन करे।

११३—(शुक्रिय आदि) तीन व्रतों में परदा (=अवगुण्ठन!) होता है जो इस प्रकार है)-शुक्रिय व्रत को शुक्रों से सुनवाए।

११४—औपनिषद व्रत को औपनिषदों से और शौलभ व्रत को शौलभनियों से (सुनवाए)।

१—त्रिमधुरमिति मुद्रित पाठः।

११५-अथवाऽविद्यमान आ ब्रह्मन्, उदीरताम्, आ नो भद्रा, आशु शिशान, इमा नु कम् इति च वेदशिरसाऽवगुण्ठयेत् ॥८॥

११५—अथवा उपस्थित हो कर "आ ब्रह्मन्", "उदीरताम्", "आ नो भद्रा", "आशु शिशान", और "इमा नु कम्" इन मन्त्रों रूपी वेद के उत्तमाँग (=सिर) से परदा करे।

१—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशु सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो न कल्पताम् ॥ य० २२ २२ ॥

२—उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ य० १९।४९॥

३—आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः। देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥ य० २५।१४ ॥

४—आशु शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्। सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः ॥ य० १७।३३ ॥

५—इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः। आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्। यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ॥ य० २५।४६ ॥

११६-अवगुण्ठनीं त्रिवलिं पञ्चवलिं वा नाभिदेशात् प्रच्छाद्य वाग्यताऽरण्येऽधः शयीत ॥९॥

११७-ग्रामे गोष्ठे देवायतने वा ॥१०॥

११८-व्युष्टायामवगुण्ठनीमरण्ये विसृजेत् ॥११॥

११९-अदृश्रमस्य, उदु त्य, चित्र देवानामित्युदितेऽर्के जपति ॥१२॥

११६—तीन वलियों या पाँच वलयों वाले परदे को नाभि प्रदेश तक ढक कर और वाणी को संयम में रख कर वन में नीचे (भूमि पर ही) लेटे (या सोए)।

११७—अथवा गाँव में या सभास्थान या देवमन्दिर में (सोए)।

११८—उषाकाल होने पर परदे को जंगल में छोड़ दे।

११९—सूर्य के उदय होने पर 'अदृश्रमस्य'[1], 'उदु त्य'[2], और 'चित्र देवानाम्'[3] इन मन्त्रों का जप करे (पाठ करता है)।

१—अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनि सूर्याय त्वा भ्राजाय । सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ य० ८।४० ॥

२—उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ य० ३३।३१ ॥

३—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षँ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ य० ७।४२

१२०-वर्षति द्यौः शान्तिरिति शान्ति करोति ॥१३॥
१२१-शान्तिभाजन गुरवे दद्यात् ॥१४॥
१२२-एवमेवाग्रगुण्ठनीं च ॥१५॥
१२३-गोदाने गोमिथुनम् ॥१६॥
१२४-तस्माद् गोदानमिति तस्माद् गोदानमिति ॥१७॥७॥

इति पारस्करगृह्यसूत्र उपनयनसूत्राणि ।

१२०—(द्युलोक के) बरसने पर 'द्यौः 'शान्तिः'[1] (मन्त्र का उच्चारण) कर के शान्ति (की कामना) करता है ।

१२१—शान्तिपात्र को गुरु को दे देवे ।

१२२—इसी प्रकार परदे को (गुरु को दे दे) ।

१२३—गोदान (व्रत) में गौओं का जोड़ा (गुरु को देवे) ।

१२४—(गो दी जाती है) इसी लिए इस व्रत को गोदान कहते हैं, इसी लिए यह गोदान है ।

पारस्कर गृह्यसूत्र के उपनयन सूत्रों का डा॰ सुधीर कुमार गुप्त, एम॰ ए॰, पीएच॰ डो॰, शास्त्री, प्रभाकर द्वारा रचित शाब्दिक हिन्दी रूपान्तर समाप्त हुआ ।

१—द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष॑ शान्तः पृथिवी शान्तिराप. शान्तिरोष- धयः शान्तिः । वनस्पतय शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व॑ शान्तिः शान्तिरेव शान्ति. सा मा शान्तिरेधि ॥ य॰ ३६।१७॥

वेदलावण्ये

पारस्करीयोपनयनसूत्रेषु

टिप्पण्यः

पदानुक्रमणिका च ।

पारस्करीयोपनयनसूत्र
परिशिष्ट १
सुकाशिनी टिप्पणियां

उपनयनसंस्कार—आचार्यस्य आचार्याया वा उप समीपे बालस्य बालिकाया वा नयनमुपनयनम्। आचार्य/आचार्या के पास लड़के/लड़की को विद्याग्रहण के लिए पहुँचाना उपनयन संस्कार कहलाता है। इस में गृह्यसूत्रों में वर्णित विधि के अनुसार बालक/बालिका को आचार्य/आचार्या के पास लाना, अग्नि के पास बिठाना, गायत्री का उच्चारण कराना और अन्य विहित कर्म किए जाते हैं।

(ii) उपनेता—उपनयन कराने का अधिकार पिता आदि को है—

> "पिता पितामहो भ्राता ज्ञातयो गोत्रजाग्रजाः।
> उपायनेऽधिकारी स्यात् पूर्वाभावे परः परः॥"

पिता, दादा, चाचा, सम्बन्धी, गोत्रोत्पन्न बड़े भाई क्रमशः उपनयन करा सकते हैं। गदाधर के मत में यह विधि ब्राह्मण बालक के लिए है, शेष का उपनयन पुरोहित ही करा सकता है। भाव यह है कि जो भी बालक के अध्यापन के लिए नियुक्त हो वही उपनयन कराए, जो न पढ़ावे वह उपनयन न कराए, चाहे वह कुलपुरोहित ही क्यों न हो। जिस बालक के पिता आदि में से कोई सम्बन्धी वेद का अध्यापक हो, वह बालक चाहे जिस वर्ण की योग्यता का इच्छुक हो उस सम्बन्धी से उपनयन करवा सकता है क्योंकि उपनयन वेदाध्ययन के निमित्त होता है। यदि पिता आदि

वेदाध्यापक नहीं हैं, अथवा उपनयनोपरान्त वे बालक को वेद न पढ़ाएं तो वे उपनयन कराने के अधिकारी नहीं हैं।

उपनयन का काल

(i) अष्टवर्षमिति—अष्टौ वर्षाणि अतीतानि यस्य असौ, तम्। जिस के जन्म को आठ वर्ष बीत चुके हैं। गर्भाष्टमे—गर्भ, गर्भसहचरितो वर्ष अष्टमो येषा तानि गर्भाष्टमानि तेषु अतीतेषु। बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग हुआ है। हरिहराचार्य के मत में इस का भाव नवमे या आठवें वर्ष में है। इसी प्रकार वे और गदाधर क्षत्रिय का उपनयन जन्म से १२ वें वर्ष में और वैश्य का १३ वें वर्ष में मानते हैं।

विभिन्न वर्णों के उपनयन में आयु की भिन्नता का कारण

(ii) उपनयन की आयु का विधान प्राय सर्वत्र यही है। इस का आधार बालक की योग्यता और अध्ययन के लिए आपेक्षिक प्रौढ़ता है। ब्राह्मण आदि के लक्षण इस प्रकार हैं* । ब्राह्मण का लक्षण यह है—

"अध्यापनमध्ययन यजन याजन तथा ।
दान प्रतिग्रहञ्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥" मनु० १/८८

"शमो दमस्तप शौच क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥" गी० १८/४२

(iii) इन लक्षणों के अनुसार ब्राह्मण बनने के योग्य और इच्छुक बालक को सरलहृदय, सुख से निरपेक्ष और दान लेने के संस्कार वाला बनाना आवश्यक है। उसे बहुत कुछ रटना भी पड़ता है। कर्मकाण्ड सीखना और करना पड़ता है। खोज की प्रवृत्ति भी उस को धारण करनी पड़ती है।

*यह विषय सवि पृ० २२८–२३१ में सविस्तार हिन्दी में दिया गया है। वहाँ देखा जा सकता है।

अत. उस के अध्ययन का काल अन्यों से अधिक और सुकुमारावस्था मे प्रारम्भ होना आवश्यक है। आठ वर्ष के बालक में परिपक्वता कुछ अल्प होती है। अतः उस के इस प्रकार के सस्कार डाले जा सकते हैं।

(iv) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने संवि० पृ० २२८ पर मनु० १०/१०६ के प्रमाण से ब्राह्मण के लिए दान लेना निकृष्ट माना है। परन्तु मनु का यह श्लोक ब्राह्मण के प्रमुख कर्मो —याजन और अध्यापन को भी निकृष्ट बताता है। वैसे भी यह वर्णन शूद्रों से दान लेने से सम्बन्धित है। अत. यह श्लोक उस काल में मनुस्मृति में डाला गया जब समाज मे शूद्रों का सम्मान आज के समान घट गया। अतः इस से उपरोक्त स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

(v) क्षत्रिय के लक्षण ये हैं—

"प्रजाना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥" मनु० १/८६

"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरस्वभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम्॥" गी० १८/४३

(vi) ग्यारह वर्ष की आयु मे बालक का शारीरिक विकास प्रारम्भ हो चुका है। इस समय तक उस की क्षत्रियोचित प्रवृत्तियों का परिचय मिल जाता है। वह शारीरिक व्यायाम और शस्त्रशिक्षा आदि सीखने योग्य हो जाता है। ऐसे बालक की ब्रह्मविद्या के प्रति बुद्धि कुछ देर में विकसित होती है। अतः उस के लिए इस आयु का निर्धारण किया गया होगा।

(vii) वैश्य के लक्षण ये हैं—

"पशूना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृषिमेव च॥" मनु० १/९०

(viii) इस शिक्षा के लिए अधिक प्रौढ़ और व्यवहारकुशल बुद्धि की आवश्यकता है। ऐसे बालकों की बुद्धि वेदादि की ओर भी कम प्रवृत्ति रखती है। अत इन के लिए १२ वर्ष की आयु में यज्ञोपवीत का विधान किया गया है।

ब्राह्मण, राजन्य, वैश्यम्—जन्म से सब बालक समान होते हैं। उन की प्रवृत्तियों का विकास शनै शनै. होता है। प्रत्येक बालक अपने माता पिता के गुणों वाला नहीं होता। वैसे भी प्राचीन काल में वर्णव्यवस्था गुण कर्म और स्वभाव के अनुसार होती थी। गुणादि सहज भी होते हैं और अभ्यासप्राप्य भी। अत यज्ञोपवीत के समय बालक की प्रवृत्ति और कामना के आधार पर उस की श्रेणी नियत की जाती थी। इसी आधार पर हिन्दी अनुवाद किया गया है।

४ यथामङ्गलमिति—मगलमनुसृत्येति यथामङ्गलम्। जैसा बालक के हित में हो। अभिप्राय यह है कि उपरोक्त उपनयन की आयु का विधान नितान्त नियमित नहीं है। उस में आवश्यकतानुसार उलट फेर किया जा सकता है।

(ii) इस सूत्र में प्राचीनकाल के इतिहास का अवशेष मिलता है। उस समय सब बालकों की आठ वर्ष या उस से पूर्व ही शिक्षा प्रारम्भ हो जाती होगी क्योंकि प्राचीन भारत जैसे उन्नत देश में कुछ बालकों का ११ और १२ वर्ष तक गुरुकुल में पढ़ने न जाने देना बुद्धिगम्य नहीं। हो सकता है बालकों की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के उपरान्त उन को विशिष्ट विद्यालयों में भेजने के लिए आयु के ये स्तर निश्चित किए गए हों और कालान्तर में संस्कृति और वेदज्ञान के ह्रास होने पर इन स्तरों को उपनयन से सम्बद्ध कर दिया गया हो। आज की परिस्थिति में आयु के ये स्तर उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

(ii अ) कर्क आदि आचार्यों ने यहां पर मंगल का अर्थ दूसरे आचार्यों के शास्त्रों के विधान किया है, जिन में ब्राह्मणादि का उपनयन क्रमशः ५ वें, ६ ठे और ६ वें वर्ष में बताया गया है। तु० क० मनु० २/३७

'ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्य विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे ॥"

आपस्तम्ब के विकल्प भी विचारणीय हैं—"अथ काम्यानि । सप्तमे ब्रह्मवर्चसकाममष्टमे आयुष्काम नवमे तेजस्काम दशमे अन्नाद्यकाममेकादशे इन्द्रियकाम द्वादशे पशुकाममुपनयेत् ।"

(III) श्री शुकदेव के विचार मे 'यथामगलम्' के दो व्याख्यान हैं—१. आठ, ग्यारह और बारह वर्ष—इन मे से जिस वर्ण को जिस आयु में सुविधा हो उसी आयु मे। २ पारस्कर और अन्य आचार्यों के आयु-विधानों मे से प्रत्येक वर्ण अपने अपने वर्ण की वैकल्पिक आयुओं में से छांटी हुई किसी एक आयु मे । इस प्रकार ब्राह्मण ५वें या ८वें मे, क्षत्रिय छठे और ग्यारहवे में और वैश्य ८वें और १२वें वर्ष मे उपनयन करा सकते हैं।

(IV) कुछ आचार्यों ने इस आयुमान के साथ ऋतु का भी विधान किया है—ब्राह्मण का वसन्त मे, क्षत्रिय का ग्रीष्म मे और वैश्य का वर्षा (=शरद्) मे उपनयन किया जाए। अन्य आचार्यों ने इस का और भी विस्तार किया है और पक्ष नक्षत्र, राशि आदि का भी विधान माना है। निषिद्ध कालों की कल्पना भी की गई है। देखो गदाधर का भाष्य।

शूद्रों के उपनयन के विधान के अभाव का कारण

(V) यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि शूद्रों का उपनयन क्यों नहीं बताया गया है। इस पर ये विचार उपलब्ध होते हैं—

१. पौराणिक सम्प्रदाय का विचार है कि शूद्रों की उत्पत्ति पैर से होने के कारण वे निकृष्ट हैं। अत उन्हें पढ़ने का अधिकार नहीं है।

२. आर्यसमाज और उस के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द का विचार है कि जो व्यक्ति मूर्ख हो, पढ़ने में असमर्थ हो वह शूद्र होता है। ऐसे व्यक्ति के उपनयन का प्रश्न ही नहीं उठता।

३ स० च० के लेखक मानते हैं कि स्मृतिकारों के मत में शूद्र का कर्म अन्य वर्णों की सेवा करना है। इस के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। भाव यह है कि राष्ट्र के समस्त बालकों को ब्राह्मण आदि तीन श्रेणियों में विभक्त करने के पश्चात् जो शेष रहें वे शूद्र होंगे।

४. डा० अम्बेदकर* का मत है कि पहले शूद्र वर्ण नहीं था। आधुनिक शूद्र पहले क्षत्रिय थे। ब्राह्मणों से संघर्ष में वे हारे और समाज में पद-दलित और उपनयन आदि से वञ्चित किए गए।

५. परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं मालूम पड़ती। जैसा कुछ विस्तार से इस ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है वैदिक काल में समाज के अनेक दृष्टियों से विभाग किए गए थे। उन में एक विभाग शूद्र और आर्य था। वेद में इन दोनों का प्रयोग सर्वत्र इसी क्रम से आने और य० २६।२ के ब्रह्मराजन्य के क्रम से तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि शूद्र आर्यों से श्रेष्ठ होते थे। वे उसी जाति के थे जिस के आर्य। आर्यों के तीन विभाग किए गए—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इन में जो श्रेष्ठ व्यक्ति होते थे वे शूद्र कहलाए जाते रहे होंगे। कालान्तर में ब्राह्मण आदि के समान उन का भी एक पृथक् वर्ग बन कर चतुर्थ वर्ण के रूप में आर्यसमाज में परिगणित हुआ। साथ ही अब कल्पना की विषम परिस्थितियों में ये अपने मध्यकालीन और आधुनिक रूप को प्राप्त हुए।

(vi) अतः प्राचीनतम काल में शूद्रों के पृथक् वर्ण न होने के कारण उन के लिए यज्ञोपवीत संस्कार का विधान नहीं किया गया है। उन के पृथक् वर्ण बनने के समय से ही अथवा उस के शीघ्र बाद ही ये समाज में पददलित हो गये होंगे। अतः उस अवस्था में विजयी ब्राह्मण उन को उपनयन का अधिकार देने के लिए कैसे तैयार होते। जो शूद्र ब्राह्मणों के आचार के अनुकूल होते थे उन का उपनयन होता था। आपस्तम्ब के लेख—'शूद्रा-

* देखो डा० अम्बेदकर, हू आर दी शूद्राज, बम्बई १९४७

णामदुष्कर्मणामुपनयनम्' का भी यही अभिप्राय है। होते होते सब शूद्रों को उपनयन से वञ्चित कर दिया गया।

ब्रह्मभोज

५ ब्राह्मणानिति—पूर्वोक्त ब्राह्मण के लक्षणों से स्पष्ट है कि उन के पास आजीविका का कोई साधन नहीं था। समाज को उन के निर्वाह का प्रबन्ध करना आवश्यक था। अतः सब विशिष्ट अवसरों पर उन के लिए भोजन और दानादि की व्यवस्था की गई। इस से यह समझा जा सकता है कि वैश्य के कर्म और वृत्ति—वाणिज्य, कृषि, वेतनग्रहण आदि करने वाले ब्राह्मणों के लिए भोजन और दान वैदिक संस्कृति को अभिप्रेत नहीं है। हिंदा अनुवाद इसी दृष्टि से किया गया है।

(ii) श्री कर्काचार्य के मत मे यहा 'श्राद्ध न खाने वाले ब्राह्मण' अभिप्रेत हैं। परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र मे श्राद्ध का विधान नहीं है। सम्पादकों ने परिशिष्ट रूप में श्राद्ध की विधि अन्य आचार्यो के अनुसार दी है। यदि उस में दिये गये श्राद्ध मे खिलाने योग्य ब्राह्मणों के गुणों पर दृष्टि डालें तो कोई ऐसा ब्राह्मण शायद ही बचे जो श्राद्धभोजी न हो सके। अत गुण रहने पर भी जो श्राद्ध न खाए—यही भाव हो सकता है। जयराम इन श्राद्ध व्यतिरिक्त ब्राह्मणों के साथ ही उपनेतव्य बालक को भी भोजन कराना मानते हैं।

(iii) इन भोज्य ब्राह्मणों की सख्या तीन बताई गई है।

६. तञ्च—गदाधराचार्य के विचार मे 'च' के प्रयोग से 'भोजनकर्म' का भाव इस सूत्र में पहले सूत्र से आ जाता है।

ब्रह्मचारी का वेष

६. पर्युप्त—परि + वप् + क्त। परि सर्वत उप्त मुण्डित शिरो यस्य स पर्युप्तशिराः, तम्। मुडा हुआ, बाल कटाया हुआ। प्राचीनकाल में सिर मुड़वाना शौच और मागलिक कर्म समझा जाता था। आज भी विशेष उत्सवों पर

लोग बाल छटवाते हैं। अलंकृतम्—अरम् √कृ + क्त। आभूषणों से युक्त। कर्क - स्रक् माला आदि से अलङ्कृत। रमणीयता के बिना मन किसी विषय में नहीं जमता है। अत बालक के मन पर सस्कार का प्रभाव डालने के लिए उसे अलङ्कृत किया जाता था। परन्तु ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी धातुनिर्मित आभूषण नहीं पहन सकता था। वेशादि का सस्कार भी निषिद्ध था। अतः यहाँ पर अलङ्करण स्नान और धौत वस्त्र धारण करने का द्योतक प्रतीत होता है। यही भाव—अवे० ११।७।२६ के—स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्या बहु रोचते—मे है। ऋषि दयानन्द ने सवि० पृ० ८० पर 'प्रात काल बालक का क्षौर करा शुद्ध जल से स्नान करा के उत्तम वस्त्र पहिना ... मिष्टान्न आदि का भोजन करा के' लिख कर यही भाव लिया है। पारस्कर ने भोजन का विधान नहीं किया है। परन्तु कर्काचार्य ने अपने भाष्य में 'शिरसश्च परिवपन भोजनात् पूर्वमेव' कह कर दस० का समर्थन किया है। डा० राजबली पाण्डेय ने लिखा है कि सामान्यत, मुण्डन और उपनयन सस्कार साथ साथ होते थे। यहा पर पर्युप्तशिरसम् में इस तथ्य का सकेत भी माना जा सकता है। आनयन्ति—आचार्य द्वारा पहले से नियत व्यक्ति अथवा, पितृकुल के व्यक्ति आचार्य के पास लाते हैं। आजकल भी विद्यालय में प्रवेश कराने के लिए और उपनयन के समय पिता आदि अभिभावक उपस्थित होते हैं।

ब्रह्मचारी को पश्चिम में बिठाने का रहस्य

७ पश्चादग्नेः—प्रत्येक शुभ कर्म और सस्कार के प्रारम्भ में प्रार्थना के आठ मन्त्र, स्वस्तिवाचन, शान्ति-प्रकरण का पाठ, आचमन, अगस्पर्श, अग्न्याधान और समिधादान के साथ हवन या यज्ञ किया जाता था। इस सूत्र का कार्य सवि० में पृ० २६ तक लिखी हवन की विधि के सदृश हवन समाप्त हो जाने पर प्रारम्भ होता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार पश्चिम दिशा का राजा वरुण है,[1] देवता सोम[2]। वरुण नियम और व्रत का प्रतीक है[3]। सोम[4] शान्ति मन-

संयम और इन्द्रियसंयम—शम, दम) का द्योतक है। यह दिशा सर्पों[5] (= देवों[6] = विद्वानों[7]) की है। इस दिशा में मानव वायु के समान पवित्र करने वाला हो कर गतिशील होता है[8]। ज्ञान विज्ञान का ज्ञाता सविता प्रतीची दिशा को जानता है[9]। स्वाराज्य की प्राप्ति के लिए परमैश्वर्यशाली और बलवान् राजा (=इन्द्र) का अभिषेक पश्चिम दिशा में किया जाता था[10]। अथर्वनों (=अहिंसक विद्वानों) और आंगिरसों (=प्राण विद्याविशारदों) की दिशा भी पश्चिम है[11]। इसी दिशा में महः (=तेज) स्थित है[12]। इधर बैठ कर यज्ञ करने वाला तेजस्वी और यशस्वी होता है[13]। इसी लिए ब्रह्मचारी को भी अग्नि के पश्चिम में बिठाने का विधान है।

(iii) इस से यह ध्वनि भी निकलती है कि तेजस्वियों के पीछे रहने से तेज की वृद्धि होती है।

ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्यव्रत=वेदाध्ययन के नियमों का पालन यथा वीर्यरक्षा, गुरुसेवा, वेदाध्यापन का श्रवण, मनन, निदिध्यासन और परिप्रश्न आदि। तु० क०—ब्रह्म वेदस्तच्चरणम् (गदाधरभाष्य)।

(ii) ब्रह्म के अनेक अर्थ हैं। प्रकरणोपयोगी अर्थ ये हैं[14]— वाक्, सत्य, ऋत, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, गायत्री, प्रणव (=ॐ का उच्चारण), ऋक्, मन्त्र, वेद, प्रजापति, बृहस्पति, चन्द्रमा, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण

---

१. जैउ० ३।२१।२; अवे० ३।२७।३. २. तै० ३।११।५।२। ३. वरुण सम्राट् सम्राट्पतिः। तै० २।५।७।३। ४. वरुण और सोम के वैदिक वर्णन देखें। वरुण—√वृ से और सोम √सु से है। ५. श० ३।१।१।७ ६. तै० २।२।६।२ ७. श० ६।३।१।१६। ८. तै० २।३।६।६, ऐ० १।७ ९. श० ३।२।३।१८ १०. ऐ० ८।१४। ११. तै० ३।१२।६।१। १२. गो० १।५।१५। १३. तु० क० ऐ० ८।१४। १४. देखो वैको० में ब्रह्मपद।

आदि। वाणी, मन, हृदय आदि पर वश, सत्य और श्रुत का पालन, गायत्री आदि का अध्ययन और मनन, प्रणव का सेवन, प्रजापति और बृहस्पति का ज्ञान और उस के गुणों को धारण करना, चन्द्र आदि के गुणों को धारण करते हुए उन का यथोचित उपयोग करना, अग्नि, यज्ञ और प्राण विद्याओं का अध्ययन और यज्ञमय बनना आदि ब्रह्मचर्यव्रत के अन्तर्गत आते हैं। ब्रह्मचर्य के तप से ही मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और विशिष्ट कर्म सम्पन्न होते हैं—(अवे० ११।७।१८।१६ आदि)। ब्रह्मचर्य की महिमा अवे० ११।७ में विस्तार से वर्णित की गई है। इस का सविस्तार अंग्रेजी व्याख्यान भूमान द सरस्वती रचित वैदिकी लोकव्यवस्था तथा कुछ मन्त्रों का सङ्क्षिप्त भाव सवि० पृ० ६८, ६६ पर देखा जा सकता है। प० सातवलेकर का अर्थ भी सुन्दर है। वैको० पृ० ३७०-३७२ में ब्रह्मचारी के सम्बन्ध में सङ्कलित *ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य भी देखें।*

आगाम्—आ+√इ लुङ् उत्तम पु० एक व०। असानि—√अस् (होना), लोट् उत्तम पु० एक व०। हो जाऊँ, बन जाऊँ। भाव यह है कि आचार्य बालक से कहे—'ओ३म्, ब्रह्मचर्यमागामिति ब्रूहि।' इस के उत्तर पर बालक कहे—'ओ३म् ब्रह्मचर्यमागाम्'। अब आचार्य कहे—'ओ३म् ब्रह्मचार्यसानीति ब्रूहि। और बालक कहे—'ओ३म् ब्रह्मचार्यसानि।' इस समय बालक यज्ञवेदी पर पश्चिम की ओर आचार्य के दाहिनी ओर पूर्व को मुख कर के बैठे।

वस्त्रपरिधान का महत्त्व

८ वास०—वासस् से द्वितीया एक व० (नपु०)। भाष्यकारों ने कोरे—बिना धुले (=अहत) वस्त्रों का विधान माना है। तु० क० नित्यमनुपहतवासा सुमनाः सुगन्धिः स्यात्। चरकसंहिता। जयराम ने 'अहत' का लक्षण यह दिया है—

"ईषद्धौतं नवं श्वेतं सदशं यन्न धारितम्।
अहतं तद् विजानीयात् सर्वकर्मसु पावनम्" इति ॥

परिधापयति—परि+√धा+णिच्+लट् प्रथम पु॰ एक व॰। सर्व॰ के मत में वस्त्र पहनाना बालक के मन में आचार्य के प्रति प्रीति उत्पन्न कर देता है[1]। वस्तुत वस्त्र मानव के रूप हैं[2]। उन से वह सुशोभित होता है[3]। वे ओषधिस्वरूप हैं[4]। साथ ही वस्त्र मनुष्य के स्वरूप और स्वभाव आदि के द्योतक होते हैं। अत आचार्य विद्यार्थी को उस के पाठ्यक्रम के लिए नियत वस्त्रों को देता है। ये ही वस्त्र उसे अपने ब्रह्मचर्यकाल में पहनने हैं। ये वस्त्र ब्राह्मण के शाण के, क्षत्रिय के क्षौम क और वैश्य के अवि के होने चाहिए। इन का वर्णन आगे सूत्रकार स्वय करेंगे (देखो सूत्र॰ ७६)।

९ **इन्द्राय**—इन्द्र पद√इन्द् धातु से बनता है। समस्त वीरकर्म इन्द्र से सम्बन्धित हैं[5]। वह परमैश्वर्यशाली भी होता है[6]। कर्मकाण्ड में प्रयुक्त मन्त्र का अर्थ उस क्रिया और प्रकरण के अनुसार करना आवश्यक है जिस में वह प्रयुक्त हो[7]। अत हिन्दी अनुवाद प्रकरणानुसार है।

(ii) पुराणों में इन्द्र नाम का देवताओं का राजा है। उस का गुरु बृहस्पति है। टीकाकारों ने इसी अर्थ को अपनाया है। यह रिथि वैदिक काल[8] से चली आती है। यह कथा आख्यानिक और पौराणिक है, वास्तविक नहीं। अपि च—इस विधि का मूल अवे॰ ११।७।४—७ हैं। इन मे ७वें मन्त्र में ब्रह्मचारीमात्र को 'इन्द्र' कहा है—'ब्रह्मचारी जनयन् ब्राह्मणो लोक प्रजापति

---

१. सर्व॰ पृ॰ ४१२। २ श॰ १३।४।१।१५। ३ श॰ ३।१।२।१६ ४ श॰ १।३।१।१४। ५. नि॰ ७।१०। ६ तु॰ क॰ मघवा पद। इस का वैदिक वर्णन भी देखें। ७ देखो वेभाप॰ ११।३—४। तथा कात्यायन श्रौत सूत्र २।३।१३ और उस पर कर्कभाष्य। ८ यद्यपि अवे॰ ११।६।२४ में पुराण को वेदादि के साथ उच्छिष्ट से उत्पन्न माना है, तथापि अवे॰ ११।१०।७—

येत आसीद्भूमि पूर्वा यामद्धातय इद्विदु।

यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥

के अनुसार यहा पुराण वेद के सृष्टिविषयक सूक्तों का द्योतक है।

परमेष्ठिन विराजम्। गर्भो भूत्वा अमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्द॥'
अत इन्द्र का भाष्यकारों का अर्थ माननीय नहीं। इसी आधार पर उन का बृहस्पति-पद का अर्थ भी अमान्य है।

(iii) ब्राह्मण ग्रन्थों मे बृहस्पति को वाणी का स्वामी[1], ब्रह्मपति[2], ब्रह्मणस्पति[3] कहा गया है। ऋग्वेद[4] में आंगिरसों को ऋत (=वेद) का शासक, दिवस्पुत्र, असुर के वीर विप्र और यज्ञ का ज्ञाता कहा गया है। बृहस्पति आँगिरसों मे है। अन. हिन्दी अनुवाद।

पर्यदधात्—परि+√धा+लङ प्रथम पु० एक व०। पहनाते थे अर्थात् पहनात आए हैं। वैसे भी वैदिक भाषा में भूतकाल की क्रियाएं सब कालों का व्यक्त करती हैं। अमृतम्—न मृतम् (√म्रि+क्त) अमर, मरण रहित, अपरिवर्तित, अत नियत, निश्चित निर्धारित। ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त इस पद के कतिपय अर्थ इस प्रकार है—मृत्यु का वारक,[5] सर्व आयु[6], प्राण[7], आप[8], हिरण्य[9], आदित्य[10], अग्नि[11] और प्रजापति[12]। इन अर्थों की दृष्टि मे ही हिन्दी अनुवाद किया गया है। सच०—दृढ, नया। भाष्यकार अहत, कोरा। त्वा—त्वाम्। आयुषे आयुत्वाय—आयुपद षकारान्त भी और उकारान्त भी। दानों पद समानार्थक हैं, परन्तु यहां दोनों का एक साथ प्रयोग बताता है कि दोनों से पृथक् पृथक् भाव अभीष्ट हैं। अथवा आयुष्—आयु क अभीष्ट भाव को महत्त्व प्रदान करने के लिए भी यह पुनरुक्त मानी जा सकती है।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में आयु क अर्थ वरुण, अग्नि, सवत्सर, यज्ञ, अन्न, प्राण आदि दिए हैं[13]। वरुण नियमों और व्रतों का द्योतक है[14], अग्नि

---

१ श० १४।४।१।२२। २ तै० २।५।७।४। ३ तै० ३।११।४।२ ४ ऋ० १०।६७।२ ५ श० १०।२।६।६। ६ श० ६।५।१।१० ७ गो० २।१।१३ ८ तै० १।७।६।३ ६ तै० १।७।६।३ १० श० १०।२।६।१६ ११ श० १०।२।६।१७ १२. श० ६।३।१।१७। १३ देखो वैको० में आयुः पद। १४ ऋ० १।२५।१०।

अग्रणीत्व, दाहकत्व आदि का, सवत्सर काल का, यज्ञ विद्याग्रहण, तपश्चरण आदि शुभ कर्मो का, अन्न और प्राण शारीरिक स्वास्थ्य और शक्ति आदि के[1]। अत यहा ये सभी भाव अभिप्रेत हैं। **आयुत्वाय**—आयोर्भावः आयुत्वम्, तस्मै। **बलाय**—शारीरिक शक्ति। **वर्चसे**—ब्रह्मतेज। जयराम इन्द्रियशक्ति, ऐश्वर्य।

येनेन्द्राय मन्त्र का अर्थ

(III) समस्त मन्त्र का स० न० का अर्थ इस प्रकार है—हे बालक (येन) जिस विधि से (बृहस्पति) गुरु आचार्य ने (इन्द्राय) अपने शिष्य के लिए (अमृत वास) जो जला, फटा, कम चलने वाला न हो ऐसे वस्त्र का (पर्यदधात्) धारण कराया है (तेन) उस विधि से ही (त्वा) तुझे (परिदधामि) मैं सुन्दर वस्त्र पहनाता हू (आयुषे) स्वास्थ्य के लिए और (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिए (बलाय) देह मे शक्ति आने के लिए (वर्चसे) इन्द्रियों क तेज के लिए वा एश्वर्य के लिए।

(IV) श्री शुकदेव लिखते हैं कि वस्त्र पहन कर ब्रह्मचारी दो आचमन करे। पारस्कर का ऐसा विधान नहीं है।

१०. मेखलाम्—तगड़ी। जिस प्रकार आजकल धोती को धारण करने के लिए तगडो और पतलून आदि क धारण के लिए पेटी पहनी जाती है, उसी प्रकार प्राचीन समय मे मृगचर्म और वल्कलों को धारण करने के लिए मेखला पहनी जाती थी। ब्राह्मण आदि के लिए भिन्न भिन्न मेखलाए बताई गई हैं। इन का वर्णन आगे आयेगा। मेखला—मीयते प्रक्षिप्यते कायमध्यभागे। √मी+खल्। **बध्नीते**—√बन्ध्+लट् आत्मनेपद, प्रथम पु०। धातुपाठ मे यह धातु परस्मैपदी है। यहा मेखला ब्रह्मचारी को बाधी जाती है। यदि, जैसा भाष्यकारों ने माना है, यह मेखलाबन्धन

१. इन पदों की व्युत्पत्ति और ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थों के आधार पर व्याख्या।

आचार्य द्वारा किया गया माना जाये तो दो समस्याएं उपस्थित होती हैं—बध्नीते का फल कर्तृगामी नहीं है, प्रत्युत बालकगामी है । अतः यहां परस्मैपद होना चाहिये था[1] । दूसरे 'दुरुक्तम्' मन्त्र में 'मे' के स्थान पर 'ते' आना चाहिए था। भाष्यकार गदाधर लिखते हैं कि मेखलाबन्धन आचार्य करते हैं, मन्त्रपाठ यद्यपि पदप्रयोगों से ब्रह्मचारी द्वारा प्रतीत होता है तथापि पदार्थ (=क्रिया) प्रधान है, और मन्त्रपाठ गौण—प्रधानभूतश्च पदार्थः, गुणभूतश्च मन्त्रः। उन्होंने यह कारिका भी दी है—

> "बध्नीयात् त्रिगुणां रशनामिय दुरुक्तमुच्चरन् ।
> आचार्यस्यैव मन्त्रोऽयं न स्यादात्मनेपदात् ॥"

परन्तु 'बध्नीते' के आत्मनेपद से भाष्यकारों के निष्कर्ष के ठीक विपरीत भाव निकलना चाहिए—मेखलाबन्धन ब्रह्मचारी करता है, प्रेरणा आचार्य देता है। ऐसी अवस्था में मन्त्र का क्रिया से गौण मानने की आवश्यकता नहीं रहेगी। सूत्रकारों की क्रिया और उस में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ में एकता नितान्त वाञ्छनीय है। देखो वैभाप० ११।२—४।

११ वर्णम्—उ० ३।१० में इसे √वृ से नित् न प्रत्यय लगा कर बनाया है। दश० की टीका में इस का अर्थ 'यश' भी दिया है। यही अर्थ यहां ग्रहण किया है। स० च० ने 'वर्णभाव' अर्थ ग्रहण किया है। इस का आशय है—नित्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गुणों की प्राप्ति की कामना से मैं दीक्षित हुआ हूं। मेखला उस गुणग्रहणकामना को पवित्र करती है। विश्वनाथाचार्य ने इस का भाव ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण अर्थ किया है। मेखला इन तीनों वर्णों को पवित्र करती है। क्यों कि तीनों वर्ण व्रतधारण में मेखलाधारण करते हैं। परन्तु यह अर्थ मन्त्रकार को अभीष्ट रहा प्रतीत

---

१. देखो पा० १।३।७२, ७८, सिकौ० २१५८—६। पाणिनीय धातुपाठ में यह धातु परस्मैपद है।

नहीं होता क्यों कि उस की दृष्टि में प्रजाओं के वेद में वर्णित एक—विश, दो दैवी—मानुष, या, आर्य—दस्यु, या, शूद्र—आर्य आदि विभाग भी थे। उन विभागों की दृष्टि में वे ब्राह्मणादि तक ही अर्थ को सीमित न कर सके होंगे। **प्राणापानाभ्यां बलमादधाना**—शरीर में यद्यपि दस वायुओं की स्थिति मानी गई है, तो भी प्राण=श्वास से अन्दर जाने वाली और अपान शरीर से बाहर निकलने वाली वायुएं ही प्रमुख हैं। इन के ज्ञान में सम्पूर्ण प्राणविद्या निहित है। ब्राह्मणग्रन्थों में इन्हें अश्विनौ[1], अध्वर्यू[2], द्यावापृथिवी[3] आदि कहा गया है। इन दोनों के बलिष्ठ होने पर शरीर भी बलिष्ठ हो जाता है और उस के साथ बुद्धि भी। प्राण और अपान को वश में करने के हेतु ही प्राणायाम किया जाता है। **आदधाना**—आ+√धा+शानच्, स्त्री॰ प्र॰ एक व॰ **स्वसा**—विश्वनाथ—बहन। जयराम स्वसृवत् हितकारी। मच॰ ने इस पद में लुप्तोपमा मानकर 'बहन के तुल्य' अर्थ किया है। उ॰ २।६६ में इस की व्युत्पत्ति—सुष्ठु अस्यति दी गई है। अर्थात्—जो शैथिल्य, आलस्य आदि को अच्छी प्रकार दूर करती है वह 'स्वसा' है। निघ॰ २।५।१३ में इसे अगुलि का पर्याय माना है। अगुलि कर्म करती हैं, वे गतिशील हैं। इसी प्रकार के पद स्वसराणि को निघ॰ १।६।५ में अहर्नाम, ३।४।१० में गृहनाम और ४।२।२२ में पदनाम बताया गया है। पदनामों में सकलित पद गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थो के द्योतक हैं। देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ऑफ यास्क। अत वैदिक ऋषियों को 'स्वसा' का गति अर्थ अभीष्ट है। **देवी**—जयराम—दीप्तिदात्री (=प्रकाश देने वाली)। विश्वनाथ—दानादि गुणयुक्त। **सुभगा**—जयराम—सौभाग्य देने वाली। ऐश्वर्य प्रदान करने वाली, कल्याणकारिणी। भाग्य पूर्वजन्म के कर्मो का फल मात्र है। अतः अनुवाद में कर्मफल देने वाली अर्थ किया गया है। मेखला जड वस्तु है, उस में फल देने की शक्ति नहीं।

---

१. श॰ १२।६।१।१४, २ गो॰ १।२।१० ३ श॰ ४।३।१।२२। यहा पर प्राण के साथ उदान का पाठ है।

परन्तु वह कर्म की और प्रवृत्ति विशेष की सूचक है जो पूर्वजन्म के संस्कारों से प्रभावित हैं। अत ऐसा वर्णन किया गया है।

१२ युवा सुवासाः—ऋ० ३।८।४। दय० ने अपने भाष्य में तथा सत्यार्थ प्रकाश पृ० ५३ में इसे समावर्तित युवक के पक्ष में लगाया है। हरदत्त ने ब्रह्मचारी के पक्ष में ही लिया है। वस्तुत यह मन्त्र अनेक प्रकरणों में संगत हो सकता है और तदनुसार व्याख्यान में भेद किया जा सकता है। मूल पदों के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। इति वा—यह मन्त्र पारस्कर के मत में मौञ्जीबन्धन में वैकल्पिक है। युवा—इस का सामान्य अर्थ 'यौवनावस्था को प्राप्त, जवान' होता है। हरदत्त ने इस की व्युत्पत्ति—√यु मिश्रणे। मिश्रणमनुष्ठानम्। अनुष्ठाता क्रियाणां सामर्थ्याद् ब्रह्मचारिधर्माणां समिदाधानभिक्षाचर्यादीनाम्। की है। अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत के कर्मों का करने वाला। जयराम के मत में गुणों का इकट्ठा करनेवाला (यौतीति युवा)। अतः नया ब्रह्मचारी जो व्रत का पालन, गुणों और विद्या का ग्रहण करता है। सत्य० दृढ शरीर वाला। सुवासा—सु शोभनानि वासांसि यस्य सः। जयराम के मत में 'अहत=कोरा' वस्त्र ही शोभन होता है। हरदत्त के मत में शुद्ध-साफ वस्त्र। परिवीतः—परि + वि + √इ + क्त। चारों ओर से विशेष रूप से घिरा हुआ, व्याप्त। हरदत्त—कृष्णाजिन आदि से परिवेष्टित। जयराम—माला और आभूषण आदि से सजा हुआ। परन्तु अभी उस ने मेखला और कृष्णाजिन धारण नहीं की हैं। उस की वेशभूषा पूरी नहीं हुई है। अतः यहां पर 'विद्याप्राप्ति की भावना से भरा हुआ' अर्थ ही प्रकरणोचित प्रतीत होता है। आगात्—आ + √इ लुङ् प्रथम पु० एक व०। जयराम—मेखला धारण करने के लिए आचार्य के पास आया है। हरदत्त—ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुआ है। श्रेयान्—हरदत्त विद्या से श्रेष्ठ। जयराम—शुद्ध। सत्य०—लोगों का कल्याण करने वाला। कठोप० १।२।२ में श्रेय और प्रेय को पृथक् पृथक् माना है। धीर पुरुष श्रेय की कामना करते हैं। अभी ब्रह्मचारी न विद्या से श्रेष्ठ हो पाया है न कल्याणकर्ता। यद्यपि ये

भविष्य के प्रति कामना मानी जा सकती हैं तथापि कठोप० की परिभाषा में 'श्रेय के ज्ञान का अधिकारी' अर्थ प्रकरणोचित प्रतीत होता है। **जायमानः**—√जन्+शानच्। दस०—प्रसिद्ध हो कर। हरदत्त—ब्रह्मचारी के रूप मे उत्पन्न हुआ, क्यों कि स्मृति का वचन है—'तेषा मातुरग्रेऽधिजनन द्वितीयं मौञ्जीबन्धनम्।' अथर्ववेद के मत में उपनयन करते हुए आचार्य ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने गर्भ में धारण करता है। उपनयन प्रारम्भ होते ही यह गर्भ या जन्म प्रारम्भ हो जाता है। इसी को वेदमन्त्र ने शानच् प्रत्यय से व्यक्त है।—

"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिण कृणुते गर्भमन्तः।
त रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति त जात द्रष्टुमभिसयन्ति देवाः॥" अवे० ११।७।३

इसी से उपनीत व्यक्ति को द्विज या द्विजन्मा कहते हैं। ५वें मन्त्र मे ब्रह्मचारी को तप से भी उठता हुआ कहा है—

"पूर्वो जातो ब्रह्मणो घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्॥"

ये दोनों ही भाव प्रकरण में अभिप्रेत हैं। अत हिन्दी अनुवाद में ग्रहण किए गए हैं। **धीरासः**—वेद मे पुल्लिंग प्रथमा बहुवचन में देवा और देवास दो रूप होते हैं। धी+र (मतुप् के अर्थ मे)। प्रज्ञावान्, बुद्धिमान्। *जयराम—स्थिरप्रजा (स्थिरप्रज्ञाः?)। विश्वनाथ—पण्डिता।* क्षर्च०—बुद्धिपूर्वक कार्यकर्त्ता। कालिदास—विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषा न चेतासि त एव धीराः। ऋ० ४।३३।२ मे धीर का लक्षण विद्याग्रहण, बुद्धि आदि के लिए पुष्टि धारण करने वाला किया है—धीरास पुष्टिमवहन् मनायै (दस०—मन्तव्यायै विद्यायै—√मन् विचारना से)। ऋ० ४।३६।७ मे कवि और विपश्चितों को धीर कहा है—'धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि'। अत धीरों को वेदज्ञान की गरिमा से ही पहचाना जाता है। **कवय**—कौति शब्दयत्युपदिशति स कवि। मेधावी विद्वान्। क्रान्त-दर्शनो वा। (उ० ४।१३६ में दस० का भाष्य)। √कु+इ। तत्त्वदर्शी

विद्वान्। वेदभाष्य में दस०—अनूचाना विद्वास। ब्राह्मण ग्रन्थों में कवि को वेदोपदेशक, ऋषि, बहुश्रुत विद्वान् और आदित्य (ब्रह्मचारी) कहा है। ऋ० १।१६४।६ में कवियों का जानने वाला, विशिष्ट ज्ञानवान् (=चिकितुष) कहा है। ऋ० ६।३६।१ में कवि के गुण मन्द्र, दिव्य वह्नि (=धारक), विप्रमन्म और मधुवचन दिए गए हैं— 'मन्द्रस्य कवेर्दिव्यस्य वह्नेर्विप्रमन्मनो वचनस्य मध्वः॥'' स्वाध्य —दस० (वेदभाष्य)—अच्छी प्रकार विद्या का आधान करने वाले (सु+आ+√धा से)। सप्र०—अच्छे प्रकार ध्यानयुक्त (सु+आ+√ध्यै से)। जयराम—शोभन चित्त की वृत्ति वाले। हरदत्त—कल्याणचित्त। ऋ० १।७२।८ में ऋत के ज्ञाताओं को स्वाध्य कहा है। ऋ० १।१५१।१ में वाणियों में परा विद्या के जानने के इच्छुक और अध्यापन यज्ञ में कर्मों द्वारा ब्रह्मचारी के मन या प्राणों में ज्ञान उत्पन्न करने वाले 'स्वाध्य' कहे गये हैं—'मित्रं न शिम्या गोषु गव्यवः स्वाध्यो विदथे अप्सु जीजनन्। अत हिन्दी अनुवाद। मनसा—दस०—विज्ञान या अन्तःकरण से। जयराम—मनोवृत्ति से। विश्वनाथ—मनोव्यापारों से। देवयन्त —देव ब्रह्मचारिणं इच्छन्त इति। देव से नामधातु। लौकिक संस्कृत में नामधातु आत्मेच्छा में प्रयुक्त होते हैं। वेद में परेच्छा में भी प्रयोग पाया जाता है। तु० क०—छन्दसि परेच्छायामिति वक्तव्यम्। पा० ३।१।८ पर वार्तिक। जयराम—वेदार्थ शापन करते हुए। दस० सप्र०—विद्यावृद्धि की कामना युक्त। वेभा०—कामना करते हुए। हरदत्त—देवताओं के लिए यज्ञ करने के इच्छुक अर्थात् श्रौत और स्मार्त कर्मों में लगे हुए मन वाले। सच०—देवभाव की कामना करने वाले विद्वान्।

युवा सुवासा का विनियोग

(ii) दस० ने सवि० में इस मन्त्र के उच्चारण के साथ ब्रह्मचारी को आचार्य द्वारा दो कौपीन दो अंगोछे, एक उत्तरीय और एक कटिवस्त्र दिये जाने का विधान माना है। परन्तु पारस्कर का मत एसा नहीं है। वे इस मन्त्र को केवल मेखलाबन्धन में विकल्प रूप से उपस्थित करते हैं।

(iii) श्री शुकदेव लिखते हैं कि इन दोनों मन्त्रों को ब्रह्मचारी पढे। यह ठीक नहीं। अर्थ के अनुसार इयं दुरुक्तं आदि को बालक और युवा सुवासः को आचार्य पढे।

१३. तूष्णीं वा—उपरोक्त दोनों मन्त्रों में से किसी एक का उच्चारण किया जा सकता है। अथवा मेखलाबन्धन बिना किसी मन्त्र का उच्चारण किए ही किया जा सकता है।

१४. अत्रेति—यह सूत्र गुजराती प्रेस और प० शुकदेव के संस्करणों में नहीं है। इस के आगे के 'यज्ञोपवीतम्' आदि मन्त्र से 'दधेऽहमिति (१५–१७) तक कोष्ठकों मे उपलब्ध होता है। जयराम लिखते हैं कि पारस्कर ने इन दोनों कर्मों—यज्ञोपवीत धारण और अजिनप्रदान का विधान नहीं किया है। अतः परम्परा से प्रचलित होने से आचार के अविरोध के कारण इन दोनों कर्मों को अन्य शाखाओं के मन्त्रों से सम्पन्न करते हैं। तु० क०—

"यन्नाम्नातं स्वशाखायां परोक्तमविरोधि च।
विद्वद्भिस्तदनुष्ठेयः अग्निहोत्रादि कर्मवत् ॥" कात्याय० श्लोक ३०

यज्ञोपवीतम्—जयराम—यज्ञेन प्रजापतिना यज्ञाय वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतं रचितम्। यज्ञ या वैदिक कर्मों के लिए निर्मित। (√यज्+नङ्। उप+वि+√इ+क्त)। अतः यज्ञ के लिए दीक्षा का द्योतक चिह्न। वैदिक संस्कृत में यज्ञ का महत्त्व बड़ा भारी है। यह मानवजीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे फैला हुआ है। इसी लिए ऋग्वेद के यज्ञसूक्त में कहा है—'यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्ततः। (ऋ० १।१३०।१) यह ही स्वर्ग है और मानव द्वारा सम्पन्न होता है। (मन्त्र २)। ब्राह्मणग्रन्थों मे इस के अनेकविधि अर्थ और व्याख्यान किए गए हैं। यथा—प्राण, अध्वर (—हिंसा-रहित), नमः, भगः, ऋत की योनि, महिमा, महान् देव, बृहन् विपश्चित्। अर्यमा, वसु, स्वः, सुख. श्रेष्ठतम कर्म, विट्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, इन्द्र, विष्णु, देवों की आत्मा, अन्न, देवरथ, अग्नि, वाक्, वायु, संवत्सर, सविता, यजमान,

आत्मा, पुरुष, पशु भुवन की नाभि, अनुष्, आपस्, रेतः, विराट्, आहुति आदि। दय० ने अपने भाष्यों में इसी प्रकार के बहुविध अर्थ इस पद के किए हैं। संक्षेप में निज उत्तम कर्म में देवपूजा (—विद्वानों की सेवा, सत्कार, उन से ज्ञानप्राप्ति आदि), संगतिकरण (—दो पदार्थों, भावों, स्थितियों आदि का सम्मिश्रण) और दान न भाव पाए जाएं वही यज्ञ है। इस दृष्टि से अध्ययन, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन आदि यज्ञकर्म होते हैं। ये ही यहां अभिप्रेत हैं। अग्नि में आहुति डालना रूप यज्ञ उपरोक्त प्रकार के यज्ञों का क्रियात्मक ध्यान दिलाने वाली प्रतीक है जो सदैव मानव को परोपकार के लिए अपने जीवन का आहुत करने का सन्देश देती है। यजुर्वेद का अध्याय १८ वाँ देखें। ऐसे यज्ञ में दीक्षित हुए बिना राष्ट्र का समुचित वहन सम्भव नहीं। अतः प्रत्येक बालक को उस में उपनीत किया जाता था। इस युग में दय० और आर्यसमाज ने पुनः इस प्रणाली को प्रवृत्त किया है।

१५. परमम्—पर आत्मा मीयते मान्यते तेन वाक्यार्थदेशाधिकारित्वात् (जयराम.)—जिस से परम आत्मा का परिचय मिलता है। भाव यह है कि यज्ञोपवीत धारण करने पर बालक ब्रह्मज्ञान के उपदेश का अधिकारी हो जाता है। विश्वनाथ—असाधारण, अत्यधिक। पवित्रम्—शोधक, पावन। क्या कि यह मनुष्य को सत्कर्मों में प्रेरित करता है। अथवा, पवित्र कर्मों का प्रतीक होने से गौणवृत्ति से इस का पावनत्व है। प्रजापतेः—जयराम—ब्रह्मण। ब्राह्मणग्रन्थों में प्रजापति को यज्ञ भी कहा है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक समीचीन जान पड़ता है। सहजम्—सह जायते, तम्। जयराम—स्वभावशुद्ध। इस अर्थ में प्रजापति में लुप्तोपमा मानने पर अर्थ में विशेष सौंदर्य आ जाता है। प्रजापति का अर्थ 'यज्ञ' करने पर 'सहज' का स्वाभाविक अर्थ 'साथ उत्पन्न' किया जा सकेगा। पुरस्तात्—जयराम—पहले से ही उत्पन्न। विश्वनाथ—ब्रह्मा की उत्पत्ति के समय से उत्पन्न। आयुष्यम्—आयुषे हितम् आयुष्यम्। आयु। अग्र्यम्—अग्रे भवम्। प्रमुख। प्रतिमुञ्च—प्रति+√मुच्, लेना, पहनना। उत्तम पुरुष के स्थान

पर मध्यम पु० का प्रयाग हुआ है। शुभ्रम्—निर्मल करने वाला। बल—धर्मसामर्थ्यप्रद।

यज्ञोपवीत परमं मन्त्र का अर्थ

(ıı) इस मन्त्र का सन्काराचेद्रिका का अर्थ कुछ भिन्न है, परन्तु मिलता जुलता है। वह इस प्रकार है—

"हे बालक (यज्ञोपवीतम्) "यज्ञाय यज्ञकर्मणे—वेदोक्तकर्माधिकारायेति वा उपवीतम्—उपरिवीतम्—परिहितम्" वेदोक्त कर्म में अधिकारी बनने के लिये जो कन्धे के ऊपर रक्खा जाय इस "ब्रह्मसूत्र" को और जो (परमम्) परः आत्मा, मीयते—ज्ञायते अनेन, परमात्मा के ज्ञानप्राप्ति का सूचक है (पवित्रम्) शुद्धि के ज्ञान की सूचना करने वाला (यत्, प्रजापते, सहजम्) जो ईश्वर से स्वभावसिद्ध उपदिष्ट है। (पुरस्तात्) पूर्व काल से चला आता है (आयुष्यम्) आयु के लिए हितकारी (अग्र्यम) मुख्य है, ऐसे इस "ब्रह्म सूत्र" को मैं आज (प्रतिमुञ्च) बाधता हू (पुरुषव्यत्ययश्छान्दस) (शुभ्र यज्ञोपवीतम्) यह निर्मलता का बोधक यज्ञोपवीत (बलम्) बल देने वाला और (तेज.) तेज देने वाला ईश्वर करे कि (अस्तु) होवे। हे ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीतम्, असि) तू यज्ञोपवीत है (त्वा) तुझे (यज्ञस्य) यज्ञकार्य के लिए ही (ग्रहण करता हू) और मै स्वय आज (यज्ञोपवीतेन) यज्ञोपवीत से (उपनह्यामि) बधता हूँ।" पृ० ३६५।

श्री शुकदेव ने यहा भी दो आचमनों का विधान किया है।

१६ अथाजिनम्—जैसा ऊपर लिखा जा चुका है यह विधि पारस्कर द्वारा प्रोक्त नहीं है। अजिनम्—अजति गच्छति क्षिपति वा तत्। उ० २।४८ दस० की टीका। 'चीता, शेर और हाथी आदि का और विशेष कर काले हिरन का रोंए दार चमड़ा।" (सशकौको०)।

(ıı) अजिनदान के समय पढे जाने के लिए तुरन्त आगे दिये मन्त्र के उत्तरार्द्ध—'वसनम्······अजिन दधेहम्' से स्पष्ट है कि यह अजिन वस्त्र

रूप में प्रयोग करने के लिए दी जा रही है, पारस्कर वास.परिधान पहले ही सूत्र ८-६ में करा चुके हैं। अतः यह अजिनदान पूर्वोक्त प्रयोजन से व्यर्थ है। विश्वनाथ के मत में यह अजिन यज्ञोपवीत के पश्चात् (अर्थात्—ऊपर) धारण की जाती है।

१७. मित्रस्येति—मिते दुःखात् त्रायते असौ मित्रः। वेद में देवतावाचक मित्रपद पुंल्लिंग है। उ० ४।१६४ में इस की व्युत्पत्ति 'मिनोति मान्य करोति' दी गई है। सुहृद्-वाचक मित्रपद नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ—'सत्र का मित्र, सत्य का जनयिता और स्वामी, ब्रह्म, क्षत्रपति, अग्नि, प्राण, लोकरक्षक, वायु, रागव, दिन, जलहीन ओषधियां, अपने आप गिरी वृक्षों की शखाएं, पयः, अर्धमास, (=कृष्ण और शुक्ल पक्ष) आदि दिए हैं[1]।

(ii) यजुर्वेद २४।३६ में एणी का सम्बन्ध सर्पों से बताया है। सर्प के अर्थ देव[2] और लोक[3] हैं। मित्र लोकों का रक्षक है। दूसरी ओर य० २४।८ में एनी को मित्रसम्बन्धी बताया है। अतः अजिन को मित्र की चक्षु के समान वर्णित किया गया है। चक्षुः—इस का लुप्तोपमा भी लिया जा सकता है और अजिन का समानाधिकरण विशेषण भी। धरुणम्—धारयतीति धरुणम्। √धृ+उनन्। धारण करने वाला। वस्त्र शरीर की गर्मी-सर्दी से रक्षा करने के कारण 'धरुण' कहलाता है। तेजः—तेजस्वि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अथवा इसे अतिशयोक्ति मान कर 'वसनम्' का विशेषण भी माना जा सकता है। स्थविरम्—तिष्ठतीति स्थविरम्। √स्था+किरच्। ठैरने वाला, दृढ, पक्का। समिद्धम्—सम्+√इन्ध्+क्त। प्रदीप्त। अनाहनस्यम्—आ+√हन्=आहनम्, तत् आत्मन इच्छतीति आहनस्यम्। न आहनस्यम् अनाहनस्यम्। श्री म० मो० विलियम्ज ने इस के अर्थ पवित्र, शुद्ध, शिष्ट दिए हैं। अजिन ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के व्रत

१. वैको० मित्रपद। २. तै० २।२।६।२ ३ श० ७।४।१।२५

का स्मरण दिलाने के कारण पवित्र मानी गई है। जरिष्णु—√ जॄ + इष्णुच्। जीर्ण होने के स्वभाव वाला। अर्थात् चिरकाल स्थायी। परि दधे—वैदिक भाषा मे प्रधान वाक्यों मे उपसर्ग और क्रिया का प्रयोग स्वतन्त्र पदों के रूप में होता है। अत यहा दोनों एक दूसरे से पृथक् भी हैं और बीच मे दो पद भी आए हुए हैं। वाजि—√ वज् (जाना)+घञ् = वाज। वाज+इनि=वाजिन्। नपु० द्वितीया एक व०। वाज के अर्थ[1] अन्न, वीर्य, ओषधिया, पशु, स्वर्ग लोक, ज्ञान, प्राप्ति आदि होते हैं। अत वाजि—ज्ञान और शक्ति सम्पन्न। उस से ज्ञान और शक्ति की प्रतीक।

१८. दण्डं प्रयच्छति—दण्डदान का विधान पारस्कर ने अन्य आचार्यो के समान किया है। दण्ड—पद √दम् + ड—दाम्यन्त्युपशाम्यन्त्यनेन स दण्डः। उ० १।११४। शान्त करने वाला। इसे √दण्ड् +घञ् से भी बनाया जा सकता है। यह न्याय और अनुशासन का प्रतीक है। महाभारत मे दण्डनीति का युधिष्ठिर और अर्जुन के सवाद के रूप मे एक सुन्दर व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है। धर्म, तप, व्रत, आदि सब का रक्षा दण्ड से होती है। सामान्य दृष्टि से भी आरण्य जीवन में ब्रह्मचारी को रक्षा के लिए हर समय अपने पास डण्डा रखना आवश्यक था।

(ii) दण्ड देते समय आचार्य कुछ नहीं बोलता है।

(iii) दण्ड की लकडी और मान के विषय में आगे सूत्र० ८६—९० में पारस्कराचार्य ने स्वय विवरण प्रस्तुत किया है।

२० वैहायसः—विशेषण ऋमति गच्छति, हाययति गमयतीति वा इति विहायाः। (देखो श्रकोसु० ३।२।२; और २।५।३२) तस्य अयमिति वैहायस। वि+√हय्+असुन्। उस से अण् प्रत्यय। विशेष रूप से गति शील। डण्डा स्वय तो गतिशील नहीं है, परन्तु प्रयोक्ता द्वारा गतिमान् कर दिया जाता है। इस मे दण्ड के सब पर प्रभुत्वशाली होने का भाव लक्षित

१. देखो वैको० मे वाजपद।

हो रहा है। अधि—सप्तमी और प्राधान्य का द्योतक है। प्रकरण में यह पद दण्ड की सब पदार्थों में श्रेष्ठता और शक्तिमत्ता का द्योतक है। भूम्याम् —भवति इति भूमि। अकोमु० २।१।२। होने वाले, विद्यमान, सत्ताधारी पदार्थ, स्थिति मात्र आदि। पुनः—भाष्यकार जयराम लिखते हैं—'पुन र्ग्रहणात् सोमदीक्षाया या दण्डा ग्राह्य तमप्याददे इत्याशसनम्" अर्थात्—जो दण्डा सोमदीक्षा में ग्रहण किया जाता है उस को भी ग्रहण करता हू यह भावना 'पुन शब्द के प्रयोग से प्राप्त होती है। परन्तु अगले सूत्र 'दीक्षावदेक०' से यह सुव्यक्त है कि पारस्कराचार्य यहा पर ग्रहण किये जाने वाले दण्डे को सोमदीक्षा के दण्डे से सम्बन्ध को प्रशस्त नहीं मानते हैं। अतः यहा पर 'येनेन्द्राय बृहस्पति' आदि मन्त्र के समान पूर्व काल के ब्रह्मचारियों की परिपाटी की ओर सङ्केत मानना उचित प्रतीत होता है। ब्रह्मवर्चसाय— जयराम ने इस का अर्थ 'याजनाध्यापनोत्कर्षतेजसे' किया है।

२१ दीक्षावदिति—कुछ आचार्यों का विचार है कि जिस प्रकार सोमयाग मे दीक्षा लेने वाला दण्डे को चुपचाप ग्रहण कर के कात्यायनश्रौत सूत्रपठित—"उच्छ्रयस्व वनस्पते ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस आस्य यज्ञस्योद् ऋच" (य० ४।१०, का० य० ४।१३) इस मन्त्र को पढ़ कर ऊपर उठाता है, उसी प्रकार यहा भी चुपचाप, बिना 'यो मे दण्ड आदि मन्त्र को पढे दण्डा ग्रहण करे और 'उच्छ्रयस्व वनस्पते' आदि मन्त्र से ऊँचा उठाए[1]।

(ii) इन आचार्यों की युक्ति यह है कि श्रुति का कहना है कि 'दीर्घसत्र

---

१. शुकदेव वर्मा की टीका में ओ३म् सुसस्या कृषीस्कृधि। य० अ० ४ म० १०। इस मन्त्र को पढता हुआ रेखा कर 'ओ३म् उच्छ्रयस्व वनस्पत •• •• इस मन्त्र को पढता हुआ रेखा पर दण्ड के मूल को खड़ा कर उसे दाहिने हाथ में ग्रहण करे।' —यह विधान दिया है। तु० क०—भूमौ चोल्लिखति सुसस्या इति सुखछम्मितमौदुम्बर दण्डं प्रयच्छति उच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयति। त दक्षिणेनाधत्ते॥ का० औ० ७।६४–६७।

वा एष उपैति यो ब्रह्मचर्यमुपैति ।' अर्थात् जो ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करता है वह दीर्घसत्र में दीक्षित होता है। भाष्यकारों का कहना है कि यहां सोमयाग और ब्रह्मचर्यव्रत दोनों में दण्डधारण किए जाने के कारण ही ब्रह्मचर्यव्रत का दीर्घसत्र से साम्य बताया गया है। अगर ऐसा ही है तो सोमयाग की दीक्षा के समान दण्ड धारण न करना चाहिए, बल्कि 'यो मे दण्डः' आदि मन्त्र के साथ ग्रहण करना चाहिए। भर्तृयज्ञ, कर्क और जयराम के मत में यहां पर दीर्घसत्र का कथन इस लिए किया है कि ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि भी बहुत लम्बी होती है। गदाधर लिखते हैं कि दीक्षा के समान दण्डग्रहण के पक्ष में वासुदेव, कारिकाकार और हरिहर हैं।

(iii) कात्यायन श्रौतसूत्र के **'उच्छ्रयस्व'** आदि मन्त्र का अर्थ यह है—**[वनस्पते]** हे दण्ड, **[ऊर्ध्वः]** (मेरे उठाने पर तुम) ऊंचे **[उच्छ्रयस्व]** उठो। **[मा]** मुझे (आचार्य, शास्त्र आदि के दण्ड का स्मरण करा के) **[अंहसः]** पापों से (और दुष्टों पर प्रहार कर के) विपत्तियों से **[पाहि]** बचाओ। **[आ]** सब ओर से **[अस्य]** इस **[यज्ञस्य]** यज्ञ (के समान मुझे) **[उद्दचः]** तेजस्वी बना दो।

(iv) **वनस्पते**—ब्राह्मणग्रन्थों में इस के अर्थ[1] अग्नि, प्राण, पयोभाजन दिए हैं। ऋवे० ८।७।१६ में इसे ओषधियों का राजा कहा है। **वन**[2] √वन् से बनता है, जिस के अर्थ 'प्रतिष्ठा करना, पूजन करना, सहायता करना, काम में लगना, खोज करना, मांगना, जीतना, वश में करना, अनुग्रह करना आदि हैं। पति √पा रक्षा करना से निष्पन्न होता है। अतः वनस्पते का प्रयोग यहां साभिप्राय है। कमनीय, सहायक, सम्मानित करने वाला, विजयी आदि भाव यहां अभीष्ट हैं। वेदमन्त्रों में 'वनस्पति' के वर्णन भी ध्यान देने योग्य हैं।

१. देखो वैको० में वनस्पति-पद। २. तु० क० वानरपद—वनस्येदं वान, तद्राति इति वानरः—कमनीय गुणों का धारक। अकोसु० २।५।३ भी देखें।

जल से अंजलि भरना और उस का रहस्य

२२. अथास्येति—जलों से अपनी अञ्जलि भर कर उस के जल को ब्रह्मचारी की अञ्जलि में छोड़ता है। ब्राह्मणों में 'आपः' के अर्थ 'सब कामनाओं के प्रापक, तत पुरुष से उत्पन्न, प्राण, अमृत, शान्ति, ओषधीना रसः, सत्य में प्रतिष्ठित, श्रद्धा, मेध्य, अन्न, रक्षोघ्नी, वज्र, वीर्य, अर्क, द्यौ, यज्ञ, रेतस्, पशव', सर्वे देवा', देवाना प्रिय धाम, शूद्रों का मद, योषा' दिए हैं। इस अञ्जलिपूरण क्रिया में इन अर्थों के अनुरूप भाव अभिप्रेत हैं। इस क्रिया द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को शुद्ध और सत्य भाव से ब्रह्मचारी को श्रद्धान्वित सत्य का अभिलाषी आदि समझ कर सम्पूर्ण ज्ञान दे कर उसे सब कामनाओं का प्राप्त करने में समर्थ, अमृत, शान्ति, सप्राण, रसयुक्त (तु० क० अवे० ५।१६।१—११) सत में प्रतिष्ठित, श्रद्धावान्, मेध्य अन्नवान्, रक्षोहा, वज्रवत्, वीर्यवान् आदि बनाने को प्रतिज्ञा करता है। वह ब्रह्मचारी का अपना समस्त ज्ञान आदि उसी प्रकार सम्पादित करेगा जिस प्रकार जल एक अञ्जलि से दूसरी में चला जाता है। इस क्रिया में 'पुत्रात् शिष्यात् वा पराजयेत' का भाव भी लक्षित होना प्रतीत होता है।

(ii) सच० का विचार है कि यहा पर आचार्य यह भावना प्रकट करता है कि ब्रह्मचारी की अञ्जलि कभी भिक्षान्न से खाली न रहे और आचार्य भिक्षा में प्राप्त अन्न को सहर्ष ब्रह्मचारियों को देगा। यह भाव भी अच्छा है परन्तु सार्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं है।

२३. आपो हि ष्ठेति—इन तीन मन्त्रों के अर्थ ये हैं—

आपो हि ष्ठा (य० ११।५०)—[हि] निश्चय से [आपः] जल [मयोभुवः] सुखकर [स्थ] हैं। [ता] वे [न] हमें [ऊर्जे] अन्न (और) [महे] महान् [रणाय] आनन्ददायक [चक्षसे] ज्ञान के लिए [दधातन] धारण करें ॥१॥

(ii) भाव यह है कि जल शान्ति, सत्य, पावनता, अन्न यज्ञ और ज्ञान आदि के प्रतीक हैं। उन से हम अन्न, ज्ञान और सुख प्राप्त करने में गतिशील होने की प्रेरणा लेते रहें।

यो वः शिवतमः (य० ११।५१) का अर्थ

(iii) [वः] (हे जलो) आप का [यः] जो [शिवतमः] परम कल्याणकारी [रस] रस (=सार) है, [इह] यहा [न] हम को [तस्य] उस (रस) का [उशती] कामना करती हुई (अर्थात्—प्रेममयी) [मातर] माताओं के समान [भाजयत] भागी बनाओ ॥२॥

तस्मा अरं गमाम (य० ११।५२) का अर्थ—

(iv) [यस्य] जिस (अज्ञान, पाप और अभाव आदि) के [क्षयाय] नाश करने के लिए (आप हमें) [जिन्वथ] गतिशील करते हैं [तस्मै] उस (अज्ञान आदि के नाश) के लिए (हम) [व.] आप को [अरम् गमाम] पूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं। [च] और [आप·] जल [न.] हम को [जनयथ] (ज्ञान आदि से सम्पन्न) कर दें ।।३।।

(v) **महे**—महते । महान्, भारी पुष्कल । **रणाय**—रमणीय, आनन्ददायक । **चक्षसे**—√चक्ष् + असुन् । देखने के लिए, अत ज्ञान के लिए । **रसः**—वस्तु का सार ही रस कहलाता है । **भाजयत**—√भज् से णिजन्त लोट् मध्यम पुरुष बहु व० । भागी बनाओ, प्राप्तकराओ, अधिकारी बनाओ । **उशतीः**—√वश् + शतृ + ङीप् + स्त्री॰ प्रथमा बहुव० । वैदिक रूप । चाहती हुई, अत स्निग्ध । **क्षयाय**—निवास और नाश दोनों अर्थो में इस की योजना की जा सकती है । दस० और सच० ने निवास अर्थ लिया है । सा० ने नाश । **जिन्वथ**—लौकिक भाषा मे यह तृप्त्यर्थ म आता है । निघ० २।१४।८६ म यह गतिकर्मा है और निघ० ४।३।१०२ में पदनाम है । अत इस के गति, ज्ञान और प्राप्ति—अर्थ होते है[1] । निको० भी देखे । **जनयथ**—सायण आदि ने इस का अर्थ प्रजा से समृद्ध करना

१. देखो हमारा लेख—दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ऑफ यास्क, तथा वेभाप० ३०।२–४६ ।

लिया है। परन्तु यह प्रकरण में उतना उपयुक्त नहीं है जितना हिन्दी अनुवाद का अर्थ।

२४ सूर्यमुदीक्षयति—सूर्य का दर्शन कराता है। सूर्य को चराचर की आत्मा माना है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[1]।' वह देवों का विचित्र अनीक है, और मित्र, वरुण और अग्नि का चक्षु है। —'चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः[2]।' ब्राह्मणग्रन्थों में सूर्य के अर्थ आदित्य, बृहत्, इन्द्र, पूषा, सविता, धाता, ब्रह्मणस्पति, पिता, भर्ता, गोपा, नृपत्, यम, परोरजा, वाजपेय आदि दिए हैं। सूर्य का दर्शन इस प्रकार के गुणों के ग्रहण करने की भावना धारण करने तथा चिरायु की कामना के लिए कराया जाता है।

तच्चक्षुर्देवहितं (य० ३६।२४) का अर्थ

२५. तच्चक्षुरिति—इस मन्त्र का अर्थ यह है—[देवहितम्] विद्वानों को (आरोग्य प्रदान आदि और अनुभूति देने के कारण) हितकर [तत्] वह (मित्र, वरुण और अग्नि अथवा लोक[3] की) [शुक्रम्] स्वच्छ, तेजस्वी, शुभ्र [चक्षु] (देखने का साधन होने से) आंख (के सदृश) [पुरस्तात्] पूर्व दिशा में [उच्चरत्] उदित है। (उस की सहायता से अथवा उस को हम) [शतम्] सौ [शरद] वर्षों तक [पश्येम] देखते रहें [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [जीवेम] जीवित रहें, [शतम्] सौ [शरद] वर्षों तक [शृणुयाम] सुनते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [प्रब्रवाम] बोलते रहें, [शतम्] सौ [शरदः] वर्षों तक [अदीनाः] स्वतन्त्र और समृद्धिसम्पन्न [स्याम] रहें [च] और [शतात्] सौ [शरदः] वर्षों से भी [भूयः] अधिक (देखते, जीते, सुनते, बोलते और अदीन रहें)।

---

१ ऋ० १।११५।१ २ वही। ३. ब्राह्मणों में मित्र आदि को 'लोक' भी बताया गया है। देखो श० ६।५।४।१४, ता १४।२।४, श० १२। ६।२।१२ और श० १४।६।१।१४।

(ii) सूर्य ब्रह्म की शक्ति से संचालित होने के कारण उस का प्रतीक है। सूर्य-पद स्वयं ब्रह्म का भी द्योतक है। अतः दस० ने पञ्चमहायज्ञविधि में इस का अर्थ ब्रह्मपरक किया है। सा०, उवट और महीधर ने सूर्यपरक लगाया है। उवट ने देवहितम् का अर्थ 'देवताओं द्वारा स्थापित' किया है। इस प्रकरण में इसे सूर्यपरक लगाना ही उचित है। हाँ, उस के साथ-ही-साथ ब्रह्मपरक अर्थ की योजना भी आवश्यक है। तब ही इस क्रिया का पूर्ण अभिप्राय सिद्ध होता है। अतः दस० का अर्थ यहां उद्धृत किया जाता है—

(iii) "जो ब्रह्म सब का द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक तथा सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता और सब जगत् का करने वाला है उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें, जीवें, सुनें, उसी ब्रह्म का उपदेश करें, और उस की कृपा से किसी के आधीन न रहें। उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें, सुनावें और स्वतन्त्र रहें अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्धमन और आनन्द सहित हमारी आत्मा सदा रहे।"

८७. मम व्रते मन्त्र का संवि० में दस० का अर्थ यह है—"हे शिष्य बालक तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्र मन हो प्रीति से सुन कर उस के अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति, परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे। इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य! आप के हृदय को मैं अपने कर्म अर्थात् उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूँ मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे। आप मेरी वाणी को एकाग्र हो के सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रक्खे।" पृ० ८५

(ii) व्रते—व्रत का अर्थ नियम, शासन आदि भी होता है। वही यहां अभिप्रेत है। दस० ने य० ४।११, और १६।३६ में यही अर्थ लिया है **ते हृदयं दधामि**—जब तक बालकों का आचार्य के नियमों के प्रति आदर

भाव न हो, तब तक वे उन का पालन सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। **चित्तम्**—√चित् जानना से। इस का अर्थ 'मन, हृदय' भी किया जाता है। परन्तु यह भाव प्रथम पाद में आ चुका है। इस समस्त संस्कार में ज्ञान ही प्रधान विषय है। अत यहां पर 'ज्ञान' अर्थ ही लिया गया है। **नियुनक्तु**—भाव यह है कि शिक्षाकाल मे तुम निरन्तर मुझ से शिक्षा ग्रहण करते रहो, उस में प्रमाद और व्यवधान न हों।

२८. **आथास्य**—पा० भे०। सामान्यत 'अथ' का प्रारम्भ मे प्रयोग होता है। इस दृष्टि से यह पाठ ठीक नहीं है। इसे आ और अथ की सन्धि भी माना जा सकता है। इस पदच्छेद में 'आ' की अर्थ मे कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। इसे 'गृहीत्वा' के साथ ही लगाया जा सकता है। सूत्र० ३० में भी यही स्थिति है। वहा पर 'आ' को 'आइ' से सम्बद्ध करना होगा। **हस्तं गृहीत्वा**—इस से आचार्य की ब्रह्मचारी के प्रति आत्मीयता प्रकट होती है। **को नामासि**—क नामा असि। नाम अस्य अस्तीति नामा। कौन नामवाले हो—किस नाम के हो—क्या नाम है। नाम का मानव के मस्तिष्क पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। नाम पूछने से परिचय बढ़ता है और उस नाम के अर्थ का भाव अंकित होता है। 'क' सुख का भी द्योतक है और प्रजापति का भी। दोनों ही अर्थों को संकेतित करने के लिए इस प्रकार की रचना की गई है—तुम सुखमय प्रजापति के सदृश किस नाम वाले हो।

२९. **असावहम् भोः**—इस के अन्त में ब्रह्मचारी अपने नाम का उच्चारण करे।

३१. **इन्द्रः**—जयराम इसे √इदि परमैश्वर्ये से व्युत्पन्न कर इस का अर्थ 'प्रजापति' करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अर्थ 'सूर्य, आदित्य, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, राजन्य, क्षत्र, अशनि, स्तनयित्नु ब्रह्म, प्रजापति, वीर्य, वृषा, रेत, उद्गाता, अहोमुक्, अश्व आदि दिए हैं। यह ऋग्वेद के धर्म में प्रमुख देवता है। इसे विभिन्न प्रकार से व्युत्पन्न किया

गया है। ऋ० १।१३६।६ में इन्द्र 'अग्नि का विशेषण है। पुनरुक्त ऋगशों में इस का तादात्म्य अग्नि, इन्दु, सोम और विष्णु से पाया जाता है। देखो वेभाप० ४।१४६–१५०, परिशिष्ट ७।७–१०,१३। अतः यहां 'इन्द्र का प्रजापति अर्थ समीचीन जान पड़ता है। वैए० मे इन्द्रपद भी देखें।

अग्नि —भाष्यकारों को अग्नि का अर्थ करने मे समस्या रही प्रतीत होती है। सम्भवत इसी कारण उन्हों ने इस का कोई अर्थ नहीं दिया। जब इन्द्र का अर्थ प्रजापति कर दिया गया और बालक को उस का ब्रह्मचारी बताया गया तब 'अग्नि' को प्रथम आचार्य कहने से स्पष्ट कर दिया गया कि यहां अग्नि और इन्द्र का अर्थ एक ही है—प्रजापति। इन्द्र ऐश्वर्य आदि का द्योतक है, अग्नि अग्रणीत्व, अज्ञाननिरोधक, पापनाशक आदि का। इस पद क ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थ रुद्र, अर्क, पशव शिर, देवों की आत्मा, आत्मा, वाचाना पति, प्रजाओं का प्रजनयिता, पृथिवी, सम्वत्सर, वाक्, तेज, रक्षोहा, तप, मन, प्राण, ब्रह्म, देवाना गोपा, ऋत, भर्ग, यम, विराट् आदि दिये हैं। दस० ने इस के भौतिक और आध्यात्मिक—दो पक्ष माने हैं। दूसरे पक्ष में इस का अर्थ 'परमात्मा' किया है। इसे ऋग्वेद मे 'एक सत्' भी कहा है (ऋ० १।१६४।४६)। ब्राह्मणों मे ऋग्वेद की उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है। ऋक्, साम और यजु को वाक् कहा गया है। अग्नि वाक् भी है। अत. यह वेदज्ञान का भी द्योतक है। वैसे भी निघ० ५।१।१ में इसे पदनामों मे पढ़ कर इस का 'ज्ञान'—अर्थ यास्कमुनि ने प्रतिपादित किया है।

आचार्य —"जो सांगोपांग वेदों के शब्द अर्थ सम्बन्ध और क्रिया को जानने हारा छलकपट रहित, अतिप्रेम से विद्या का दाता, परोपकारी, तन मन धन से सब को सुख बढ़ाने मे जो तत्पर, महाशय, पक्षपात किसी का न करे और सत्योपदेष्टा सब का हितैषी धर्मात्मा जितेन्द्रिय होवे।" दस० सनि० पृ० ८० (पाटि०)। ऋभाभू० मे लिखते हैं—"आचार्य उस को कहते हैं कि जा असत्याचार को छुड़ा के सत्याचार का और अनर्थो को छुड़ा के अर्थो का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।" पृ० ३०४।

भाष्यकार हरिहर ने आचार्य का यम के अनुसार यह लक्षण दिया है—

> 'सत्यवाक् धृतिमान् दक्ष सर्वभूतदयापर ।
> आस्तिको वदनिरत शुचिराचार्य उच्यते ॥
> वेदाध्ययनसपन्नो वृत्तिमान् विजितेद्रिय. ।
> न याजयेद् वृत्तिहीन वृणुयाच्च न त गुरुम् ॥"

मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण यह है—

> 'उपनीय तु य शिष्य वदमध्यापयेद् द्विज ।
> सकल्प सरहस्य च तमाचार्य प्रचक्षते ॥ २।१४०।

परन्तु शूद्रक और कालिदास के *समय तक इस के ये अर्थ* बदल चुके थे और किसी भी विषय में पारंगत व्यक्ति को आचार्य कहा जाने लगा था। यहा पर आचार्य का प्राचीन अर्थ ही अभिप्रेत है।

३२ भूतेभ्य —√भू होना+क्त, ४ थी *बहु०। सत्ताधारियों के* लिए। जो कुछ भी उत्पन्न हो चुका है—चाहे भूत काल में हो चाहे वर्तमान काल में वह सब 'भूत' कहलाता है। अत. पृथिवी आदि लोक और उन में *विद्यमान समस्त पदार्थ भूत कहलाते हैं। प्रजापति, प्रजा,* वायु आदि तत्त्व सब कुछ भूत हैं। इस मे आधुनिक काल में प्रचलित भूतप्रेत की भावना नहीं है। इस प्रकार की भावना वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती ज्ञात नहीं है। *मृत व्यक्तियों की भूत सज्ञा तो है, परन्तु वे मनुष्य को दुःख देने वाले के* रूप में नहीं है। जैसा गदाधर ने *लिखा है यहा 'भूतेभ्य' का विस्तार* प्रजापति आदि आगामी मन्त्र (सूत्र० ३३) में वर्णित पदार्थ आदि हैं। **परिददाति**—परि+√दा का अर्थ सम्यक् रूप से देना है। पदार्थों के लिए देने का भाव *पदार्थों का उपयोग करना है।*

३३ *प्रजापतये*—प्रजाना पति । प्रजाओं का पालक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के *अर्थ अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाचस्पति, संवत्सर, यज्ञ,* अश्वमध, विश्वजित् सविता, प्राण, अन्न, वायु प्रणेता, भूत, बभ्रु, हिरण्यगर्भ,

ब्रह्मा, सोम, चन्द्रमा, दक्ष, मनु, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम आदि दिए हैं। इन अर्थो मे से सभी उपयुक्त अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। अन्य अर्थों के लिये देखो वैको०। **देवाय**—देव शब्द √दिव् से बनता है जिस के अर्थ क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गति हैं। जिस जिस पदार्थ, भाव और स्थिति में इन में से एक या अनेक अर्थ सगत होते हों वह वह पदार्थ आदि देव या देवता कहलाते हैं। विस्तार के लिये देखो वेभाप० ६।३१–४२ तथा हमारा लेख—महर्षि दयानन्द सरस्वती और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में सकलित)। **सवित्रे**—शब्दार्थ—उत्पादक। √सु+तृच्। ब्राह्मणग्रन्थों में सविता के अर्थ प्रसविता देवाना प्रसविता, आदित्य, सूर्य, अग्नि, प्रजापति, वरुण, विद्युत्, स्तनयित्नु, वायु, चन्द्रमा, यज्ञ, अभ्र, वेदा, अह, पुरुष, पशु, प्राण, मन, यकृत्, राष्ट्रपति, हिरण्यपाणि आदि दिए हैं। **द्यावा पृथिवीभ्याम्**—द्युलोक और पृथिवीलोक। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के प्राण और उदान, देवताओं के हविर्धान अर्थ भी मिलते हैं। **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**—जैसा 'देव' पद के ऊपर के व्याख्यान से स्पष्ट होगा इस पद का अर्थ ब्रह्माण्डस्थ समस्त पदार्थ होता है। ब्राह्मणग्रन्थो में इस के अर्थ 'समस्त विद्वान्, सूर्य की किरणें, प्राण, ऋतुएं, श्रोत्र, दिशाएं, विट्, प्रजा, पशु, अन्न, गौ आदि मिलते हैं तथा वहा इन्हें अनन्त कहा है। **अरिष्ट्यै**—न रिष्टि अरिष्टि, तस्यै। √रिष् हिंसायाम् से। रिष्टि—हिंसाप्राप्त स्थिति, दुःख, अमगल। अरिष्टि—सुख, कल्याण।

३४. **प्रदक्षिणम्**—प्रगत दक्षिणम् इति। दक्षिण की ओर की हुई (अग्नि)। इसे परीत्य का क्रियाविशेषण भी माना जा सकता है। भाव यह है कि प्रदक्षिणा कर के अग्निकुण्ड के पश्चिम में और आचार्य के उत्तरपूर्व की ओर मुख कर के बैठे। आचार्य दक्षिण की ओर बैठता है। **अग्निम्**—यज्ञ कुण्ड मे जलती हुई अग्नि। पवित्र वस्तुओं को दाहिनी ओर रखते हुए उन के चारों ओर घूमना (=परिक्रमा करना) कल्याणकर समझा जाता है। **परीत्य**—परि+√ई+ल्यप्।

३५. अन्वारब्ध—अनु+आ+√रभ्+क्त। भाष्यकारों ने इसे प्रथमा एक व० मान कर 'ब्रह्मा से आरम्भ कराए गए कर्म वाला आचार्य (जयराम) अथवा ब्रह्मचारी द्वारा आरम्भ कराए गए कर्म वाला (आचार्य) (विश्वनाथ), ब्रह्मा से छुए हुए घृत (की आहुतियां) (शुकदेव)' अर्थ किए गए हैं। अब तक अन्य क्रियाएं चालू थीं। यज्ञ बन्द था। आहुति देने के लिए यज्ञकर्म प्रारम्भ होना आवश्यक था। अतः इस पद को सप्तमी एक व० मान कर 'यज्ञे' का अध्याहार करने पर अर्थ प्रकरणोचित हो जाता है। आज्याहुतीः—दश० ने २२ आहुतियों का विधान किया है। विश्वनाथ का विवरण—'आघारावाज्यभागौ महाव्याहृतयः सर्वप्रायश्चित्त प्रायश्चित्त स्विष्टकृच्च' है। प्राशनान्ते—भाष्यकारों ने संस्रवप्राशन का वर्णन किया है। महीधर ने संस्रव का अर्थ 'विलीन आज्य' किया है। दश० ने होम में छोड़े हुए घृत आदि पदार्थ समझा है (य० २।१८)। अब यज्ञशेष। संशास्ति—ब्रह्मचर्य के नियमों का उपदेश करते हैं। दश० ने सवि० पृ० ६२-६३ में इन सूत्रों के साथ कुछ अन्य सूत्र भी दिए हैं।

३७ अशान—√अश् से लोट् मध्यम पु० एक व०। खाओ, अर्थात् पीओ।

(ii) श्री शुकदेव ने छान्दोग्य ब्रा० उ० प्र० ५ ख० २ म० २—'स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति। तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति।' को उद्धृत करते हुए लिखा है कि आरम्भ और अन्त में भोजन को आचमन कर के वस्त्रवत् वेष्टित कर देना चाहिए क्यों कि उस के प्रश्न पर इन्द्रियों ने प्राण से कहा था कि जल ही उस के वस्त्र होंगे।

३८ कर्म—ब्रह्मचर्यन्त और ज्ञानोपार्जन के लिए उपयुक्त कर्म। सच०—दुष्ट कर्म छोड़ धर्म किया कर।

३९. दिवा—दिन में सोने से आयु का ह्रास, आलस्य की वृद्धि, पठन में व्यवधान आदि अनेकों दोष पाए जाते हैं।

४१. समिधम्—भाव यह है कि प्रतिदिन यज्ञ क्रिया करो और उस से अनुभूति लो।

सावित्री का उपदेश

दस० आदि के मत में यहा से आगे वेदारम्भ संस्कार है।

४३. सावित्रीम्—सवितृ देवता है जिस का ऐसी ऋचा। सामान्यत गुरु द्वारा शिष्य को सिखाए जाने वाले गायत्री मन्त्र को ही सावित्री' कहते हैं।

उपदेश के योग्य ब्रह्मचारी के गुण

उत्तरतोऽग्नेः—प्रारम्भ मे बालक पश्चिम की ओर पूर्वाभिमुख बैठा था। अब वह उत्तर का ओर आ कर बैठा है। **प्रत्यङ्मुखाय**—अब उस का मुख पश्चिम को ओर है। **उपविष्टाय**—उप+ √विश् + क्त। सामान्यत. खड़े हुए बालक को उपदेश ग्रहण करने में पर्याप्त असुविधा होती है। फिर भी आगे सूत्र० ४४ में 'खड़े हुए को भी उपदेश देने का वर्णन है। **उपसन्नाय**—उप+√सद् + क्त + चतुर्थी एक व०। समीप आए हुए। शुकदेव—प्रसन्नचित्त। **समीक्षिताय**—सम् + √ईक्ष् + क्त + चतुर्थी एक व० पु०। परीक्षित, परखे हुए। **समीक्षमाणाय** —सम् + √ईक्ष् + शानच् + चतुर्थी एक व० पु०। अच्छी प्रकार देखते हुए। इस के दो भाव हो सकते हैं—१. शान्त चित्त हो कर शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के मुख की ओर देखने वाले २. सुने हुए उपदेश या पाठ पर तर्क वितर्क द्वारा विचार करने वाले। हिन्दी अनुवाद मे पहला अर्थ लिया गया है, परन्तु दूसरा अर्थ प्रकरण मे अधिक संगत होता है। तु० क० "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।' बृआउ०। तथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा।"

(ii) प्राचीन भारतीय संस्कृति में विद्यार्थी मे श्रद्धा, शान्ति और ब्रह्मचर्य आदि गुणों का होना परम आवश्यक माना गया है—

१—क्रियावन्त. श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।

तेषामेवैषा ब्रह्मविद्या वदेत शिरोव्रत विधिवद् यैस्तु चीर्णम्॥ मुउ० ३।२।१०

तथा—तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। मु० उ० १।२।१३।

२–नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वे० उ० ६।२२-२३

३–असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्।
❀ ❀ ❀ ❀ ❀
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥ नि० २।४

श्री शुकदेव ने यहां गुरु के पैर छूने का विधान माना है। पारस्कर को यह विधि मान्य प्रतीत नहीं होती।

४४ दक्षिणतः—अग्नि के दक्षिण में। यह कुछ आचार्यों का मत है।

४५ पच्छः—पद्+शस्। पादं पादमिति पच्छः, पदशो वा। पहले एक एक पाद (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम्) पढ़ाए। अर्द्धर्चशः—ऋचः अर्धमिति अर्धर्चम्। अर्द्धर्चम् अर्द्धर्चमिति अर्द्धर्चशः। आधी आधी ऋचा (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि) कर के। सर्वां च—तीसरी बार में सम्पूर्ण मन्त्र (ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥) को एक साथ आचार्य के अनुसरण पर उच्चारण करे। यहां पर प्रणव (=ओ३म्) और व्याहृतियों (भूः, भुवः स्वः) के साथ मन्त्र पढ़ा जाना अभीष्ट है। अनुवर्तयन् अनु+√वृत्+णिच्+शतृ+पु० प्रथमा एक व०।

सावित्री के उपदेश का कालपरिमाण—

४६ षाण्मास्ये—षडेव मासाः षाण्मास्यम्, तस्मिन्। षण्मास्ये पाठ में वृद्ध्यभाव को छान्दस मानना पड़ेगा।

(ii) हरिहर भाष्यकार के विचार मे काल की यह अवधि क्षत्रिय और वैश्य बालकों के लिए है। जो गुरुशुश्रूषा आदि गुणों में जितना कम होगा उतना ही समय अधिक लगेगा। परन्तु यहा पर गुरु की ज्ञानगरिमा और शिष्य की योग्यता और ग्रहणशक्ति ही इस कालविभाग का करण प्रतीत होते हैं।

(iii) पं० शुकदेव का विचार है कि इन कालों में बालक को ब्रह्मचर्य का उपदेश कर के गायत्री सिखाए। इस मे वे बालक में योग्यता उत्पन्न कर के उपदेश देना चाहते हैं।

४७ सद्यः—ब्राह्मण बनने योग्य ब्रह्मचारी के गुण अधिक होने अनिवार्य हैं। अत वह तीव्रबुद्धि और वेदज्ञान का पिपासु होने से गायत्री के शिक्षण को शीघ्र ग्रहण कर सकेगा। गायत्री का अध्यापन अर्थ सहित हो अभीष्ट है। गायत्रीम्—ऋषि, देवता और छन्द तथा स्वरों के परिज्ञान के साथ गायत्री। वैदिक वाड्मय में गायत्री की बड़ी महिमा है। ब्राह्मण ग्रन्थों में गायत्री के अर्थ—प्राणों का रक्षक, पृथिवी, प्राण, अग्नि, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस्, तेज, ज्योति, वीर्य, शिर, मुख, प्राची दिक्, यज्ञ, पुरुष आदि दिये हैं। य० २८।२४–३४ में गायत्र एक दार्शनिक परिभाषा है। य० १०।११ में गायत्री को प्राची दिशा मे रक्षक बताया है। य० १४।१० में यह 'पचाविर्वय' का द्योतक है। ऋ० १०।१३०।४ मे इस की उत्पत्ति अग्नि से मानी गई है। अत जो वेद में वर्णित अग्नि के गुणों से सम्पन्न हो उसे गायत्री का ज्ञान तुरन्त ही सकता है। यह भाव 'अग्नेयो वै ब्राह्मणः' (तै० २।७।३।१) में व्यक्त किया गया है। अग्नि का विशेष गुण ज्ञानशीलता है। यह गुण अग्नि के विशेषणों—कविक्रतु, जातवेदम्, अगिरः, विश्ववेदस्, कवि, ऋषि, कण्वतम, चिकित्वान्, चेकितान, चेतिष्ठ, प्रकेत, प्रचेता, प्रजानन् और बृहस्पति' आदि में परिलक्षित होता है। १

गायत्री मन्त्र और उस का दस० का अर्थ

(ii) गायत्री मन्त्र यह है—ओ३म् भूर्भुव स्व.। तत्सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो न प्रचोदयात्॥

(III) इस का सविस्तार अर्थ द०स० ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास और पञ्चमहायज्ञविधि मे दिया है। ऋ० ३।६२।१०, य० ३६।३ में भी इस का अर्थ मिलता है। यहा पर संस्कारविधि का अर्थ सशक्त और सुगमतर होने से दिया जाता है।

(IV) (ओ३म्) यह मुख्य परमेश्वर का निज नाम है जिस नाम के साथ अन्य सब नाम लग जाते हैं। (भूः) जो प्राण का भी प्राण, (भुव.) सब दुःखों से छुड़ाने हारा, (स्वः) स्वय सुखस्वरूप और अपने उपासकों को सब सुख की प्राप्ति कराने हारा है उस (सवितुः) सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले, सूर्यादि प्रकाशकों के भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्य के दाता, (देवस्य) कामना करने योग्य, सर्वत्र विजय कराने हारे परमात्मा का जो (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ ग्रहण और ध्यान करने योग्य, (भर्गः) सब क्लेशों को भस्म करने हारा, पवित्र, शुद्ध स्वरूप है (तत्) उस को हम लोग (धीमहि) धारण करें (यः) यह जो परमात्मा (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को उत्तम गुण कर्म स्वभावों में (प्रचोदयात्) प्रेरणा करे।

आधुनिक शैली पर गायत्री का अर्थ

(V) आधुनिक अर्थप्रणाली में एक पद का एक ही रूढिगत अर्थ ग्रहण किया जाता है। परन्तु वैदिक शैली इस से नितान्त भिन्न है। देखो हमारा ग्रन्थ 'वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन।' उपरोक्त अर्थ वैदिक शैली पर है। आधुनिक शैली पर ग्रिफिथ महोदय का अनुवाद इस प्रकार है—'हमें सवितृ देव की वह उत्तम महिमा प्राप्त हो जाए जिस से वह हमारी प्रार्थनाओं को प्रगति दे सके।'

(VI) ओ३म्—यह प्रणव भी कहलाता है। उपनिषदों और गीता में इसे ईश्वर विषयक समस्त ज्ञान का सार कहा है। यह परमात्मा का उत्कृष्ट नाम माना जाता है। इसे √अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेश श्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिंगनहिंसादानभागवृद्धिषु से व्युत्पन्न किया जाता है। इस का विशेष विस्तार स०प्र० १ म समुल्लास में देखें। भूः—

भूरिति वै प्राण—य प्राणयति चराचर जगत् स स्वयम्भूरीश्वर । सब जगत् के जीवन का आधार, प्राणों से भी प्रिय ईश्वर। **भुवः**—भुवरित्यपान—य सर्व दुःखमपानयति सोऽपान । सब दुःखों से रहित, जीवों को दुःखों से छुडाने वाला। **स्वः**—स्वरिति व्यान—यो विविध जगद् व्यानयति व्याप्नोति स व्यानः। नानाविध जगत् में व्यापक। **सवितुः**—सुनोति उत्पादयति सर्व जगत्। सु धातु प्रसव और ऐश्वर्य में आती है। यह पद सूर्य का भी द्योतक है। मध्यकालीन और आधुनिक विद्वान् इस का सूर्य ही अर्थ करते हैं। **वरेण्यम्**—वर्तुमर्हम्। स्वीकार्य, श्रेष्ठ। कोलब्रुक—पूजनीय । विल्सन—कमनीय। वेदार्थरत्न—परमोत्कृष्ट । लैंगलोइ—उदार। **भर्गः**—√भ्रस्ज्+घञ्। भूनने वाला, शुद्ध करने वाला। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस का अर्थ पृथिवी, ऋग्वेद, होता, अग्नि वसु, याम्, वसन्त, गायत्री, प्राची आदित्य, चन्द्रमा, वीर्य और त्रिवृत् दिये हैं। इस मन्त्र में गो० १।१।३२ में भर्ग का अर्थ 'अन्न' दिया गया है। आधुनिकों के अर्थों मे कोलब्रुक—प्रकाश, वेदार्थरत्न—तेज, सामश्रमी—शक्ति, ग्रिफिथ—महिमा, ल्यूड्विग—चमक, प्रमुख हैं। **देवस्य**—दीव्यति दीप्यते वा स देव । सुखदायक, कमनीय। यह √दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु से व्युत्पन्न होता है। कोलब्रुक ने इस का अर्थ दिव्य, शासक वेदार्थरत्न ने जाज्वल्यमान ग्रिफिथ ने देव और ल्यूड्विग ने देवगण किया है। इस पद के अर्थों के विवेचन के लिये देखो हमारा लेख—महर्षिदयानन्द और देवता शब्द का अर्थ (ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख में संग्रहीत)। **धियः**—निघ० मे इसे बुद्धि और कर्म का पर्यायवाची बताया गया है। विद्वानों ने इन दोनों ही अर्थों को अपनाया है। वेदार्थरत्न ने भावनाएं, भक्ति, लैंग्लोयो ने प्रार्थनाएं अर्थ किये हैं।

गायत्री मन्त्र का महत्त्व

(vii) इस मन्त्र मे बुद्धि और कर्मों की शुद्धि और सत्य मार्ग पर गति के लिए प्रार्थना की गई है। शुद्ध बुद्धि और श्रेष्ठ कर्म ही मानव की

ऐहिक और पारलौकिक उन्नतियों—अभ्युदय और निःश्रेयस के निष्पन्न करने वाले हैं। इसी कारण इस मन्त्र की विशेष महिमा है। इस मन्त्र के ऋष्यादि विश्वामित्र, सविता और गायत्री हैं। इन पदों के अर्थों के अनुसार अन्य अर्थ भी इस मन्त्र के अभिप्रेत हैं। उन सब की कल्पना और विस्तार यहा सम्भव नहीं। उपरोक्त गायत्री के उपदेश की अवधियों के निर्धारण में इस मन्त्र के अनेकविध अर्थ भी कारण रहे हो सकते हैं।

(VIII) श्रुतिः—श्रूयते इति श्रुतिः। √श्रु श्रवणे+क्तिन्। सामान्यत इस का अर्थ परम्परा से सुन कर कण्ठ किए जाने वाले ग्रन्थ किया जाता है। इन में प्रमुख रूप से वेद और सामान्य रूप से ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आते हैं। यदि इस का अर्थ श्रूयते ज्ञायते अनेनेति श्रुतिः किया जाए तो अर्थ अधिक संगत हो सकेगा और ब्राह्मणों पर भी ठीक-ठीक लागू हो सकेगा। यहा पर तैत्तिरीय ब्राह्मण की ओर निर्देश है।

त्रिष्टुभ् छन्द का सवितृ देवता का मन्त्र

४८. त्रिष्टुभं राजन्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र इस प्रकार है—

"देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा॥" य० ६।१

(II) य० ५।३६ भी 'देव सवित' से प्रारम्भ होता है, परन्तु उस का छन्द त्रिष्टुभ् न होने से वह अभिप्रेत नहीं है।

(III) भर्तृयज्ञ इस के स्थान पर इस मन्त्र का विधान मानते हैं—

"ताँ सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाँ सहस्रधारां पयसा महीं गाम्[१]॥" य० १७।७४

---

१. प० शुकदेव ने मानवगृह्यसूत्र १।२।३ दिया है जिस में त्रैष्टुभ मन्त्र आदेवो याति (यातु?—ऋ० ७।४५।१) माना है।

देव सवितः प्रसुव मन्त्र का अर्थ

(IV) **देव सवितः**—जयराम और उवट ने इस का ऋषि बृहस्पति दिया है। महीधर और दयानन्द सरस्वती ने इन्द्राबृहस्पती। इस का देवता सविता और छन्द त्रिष्टुभ् (दया०—स्वराडार्षी त्रिष्टुभ्) है। यह मन्त्र ४० ११।७ और ३०।१ में भी पाया जाता है। वहां पर 'वाजम्' के स्थान पर 'वाचम्' का प्रयोग है। पुनरुक्त अंशों से अर्थग्रहण की शैली पर यहां **वाजम्** का अर्थ वाचम् हो जाता है। तै० १।३।२।५ ने 'वाग्वै वाजस्य प्रसव' कह कर इस अर्थ की पुष्टि की है। उपरोक्त पिछले दो मन्त्रों में स्वाहा का पाठ भी नहीं है। प्रकृत मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—

(V) हे (देव) [समस्त सुखों के] दाता प्रकाशस्वरूप **(सवितः)** सकल जगत् और ऐश्वर्य आदि के उत्पादक परमात्मन्, **(यज्ञम्)** (अध्ययन रूप मेरे) श्रेष्ठ कर्म को **(प्रसुव)** प्रगति दें। **(यज्ञपतिम्)** [अध्ययन यज्ञ के] यजमान [मुझ ब्रह्मचारी] को **(भगाय)** [विद्याचित] ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **(प्र सुव)** गतिशील करते रहें। **(दिव्यः)** प्रकाशमान [सत्वगुणों को देने वाला] **(गन्धर्वः)** जगत् का धारक [और रक्षक] **(केतपूः)** [मनुष्यों के चित्तों में वर्तमान] ज्ञान का परिशोधक परमेश्वर **(केतम्)** [हमारे] ज्ञान को **(पुनातु)** पवित्र करें। **(वाचस्पतिः)** प्राणों के रक्षक प्रजापति **(नः)** हमारे **(वाजम्)** बल या वाणी को **(स्वदतु)** आनन्दकर बनाएं। **(स्वाहा)** [मेरी] वाणी शुभ हो।

(VI) **गन्धर्वः**—गां जगत् धरतीति। मेघदूत की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० १५३ की पाटि० ३ भी देखें। **केतपूः**—केत चित्तस्थ ज्ञान पुनाति शोधयतीति। **केतम्**—√कित् (ज्ञाने)+घञ्। ज्ञान, बुद्धि। शतपथ ब्राह्मण में केतः अन्न का वाचक भी है। **वाचस्पतिः**—ब्राह्मणों में इस के अर्थ प्राण और प्रजापति भी दिए हैं। **वाजम्**—√वज गतौ से। इस के अर्थ 'अन्न, वीर्य, पशु, स्वर्गलोक और ओषधि' आदि पाए जाते हैं। वाजिन् आदि पदों में इस का बल-अर्थ सुस्पष्ट है। **स्वदतु**—√स्वद् से। स्वाद

ले, आनन्द ले और आनन्दयुक्त करे। अन्तर्हितग्यर्थ धातु है। स्वाहा—सु+आह से निष्पन्न होता है। उत्तम कथन। दस० ने अपने भाष्यों में इस के अनेकविध अर्थ दिए हैं।

(VII) भर्तृयज्ञ द्वारा उद्धृत 'तां सवितुः' मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—(अहम्) मैं (ब्रह्मचारी) [वरेण्यस्य] श्रेष्ठ पूजनीय [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक परमेश्वर की [ताम्] उस (सुविदित) [चित्राम्] विभिन्न प्रकार (के फल देने) वाली [विश्वजन्याम्] सब का कल्याण करने वाली [सुमतिम्] शोभन बुद्धि को [आवृणे] धारण करता हूँ [याम्] जिस को (पा कर) [कण्व] विद्वान् (क्षत्रिय जन) [अस्य] इस (सविता—परमेश्वर की दी हुई) [पयसा] अन्न जल आदि से [प्रपीनाम्] प्रवृद्ध हुई [सहस्रधाराम्] हजारों प्रकारों के (पदार्थों को) धारण करने वाली [मह्रीम्] महान विस्तृत [गाम्] भूमि को [अदुहत्] दोहते रहे हैं।

(VIII) विश्वजन्याम्—विश्वेभ्य सर्वेभ्य जनेभ्य हिताम्। विश्व+जन+यत्। सुमतिम्—यथार्थ विषय वाली पदार्थो का यथावत् ज्ञान कराने वाली बुद्धि। कण्वः—निघ० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है माधवभट्ट के भाष्य में इसे इसी अर्थ में लिया गया है। विकल्प में ऋषि विशेष का नाम भी माना है। इसी भाष्य में इस का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्ति से आरम्भ होता है। वेमाप० ३०।५—७ में दिखाया गया है कि यह संहिताओं आदि में मेधावी अर्थ का द्योतक है। यह गत्यर्थक या शब्दार्थक या निमीलनार्थक √कण् से अथवा √कण्व् वध करना से बनता है। प्रपीनाम्—प्रकृष्टरूपेण पीना पुष्टाम्। बढ़ी हुई। सहस्रधाराम्—सहस्र-सख्यानर्थान् धरति ताम्। अदुहत्—वेद में भूतकाल की क्रियाओं के अर्थ भी बहुधा लट् लकार में किए जाते हैं।

(IX) इसी प्रकार का भाग—भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्। महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥ एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम। सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥ एषा ते कुलपा

राजन् तामु ते परि दद्मसि । ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः शमोप्यात् ॥ अवे० १।१४।१—२ में पाया जाता है । विस्तार के लिए देखो हमारा लेख —ए न्यू इन्टरप्रैटेशन ऑफ अवे० १।१४ ।

(x) ये दोनों मन्त्र क्षत्रिय बनने के इच्छुक और योग्य बालक के लिए माने गये हैं । अत ऐसे बालकों की भावनाओं के अनुरूप ही इन मन्त्रों के अर्थ अभीष्ट हैं और ऊपर दिए भी गए हैं ।

जगती छन्द वाला सविता देवता का मन्त्र

४६. जगती वैश्यस्य—जयराम के मत में यह मन्त्र अधोदत्त है—

"विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥"
ऋ० ५।८१।२; य० १२।३

(ii) मर्तृयज्ञ ने यह मन्त्र माना है—

"युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चित ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितु. परिष्टुति ॥"
य० ५।१४; ऋ० ५।८१।१

(iii) विश्वा रूपाणि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—[कविः] क्रान्तदर्शन, क्रान्तप्रज्ञ और सर्वज्ञ (परमेश्वर) [विश्वा] सम्पूर्ण [रूपाणि] पदार्थों के स्वरूप को [प्रति मुञ्चते] प्रकट करता है । (वह) [द्विपदे] दो पैरों वाले प्राणियों (मनुष्य आदि) (और) [चतुष्पदे] चार पैरों वाले (पशु आदि) के लिये [भद्रम्] कल्याण [प्रासावीद्] करता है । [वरेण्यः] पूजनीय [सविता] सर्वोत्पादक परमेश्वर ने (सब प्राणियों के लिए) [नाकम्] समस्त दुःखों से रहित (सुखों) को [वि अख्यत्] प्रकाशित किया है । [उषस] उषाओं के समान (आलस्य और दारिद्र्य आदि की दाहक) गतिशीलों के [प्रयाणम्] गमन के [अनु] पश्चात् [विराजति] (समृद्धि) चमक जाती है ॥

(iv) नाकम्—क सुखम्। न विद्यते क सुख यस्मिन् तत् अकम्। न अक दुःख विद्यते यस्मिन् तत् नाकम्। उपसः—दस० ने उ० ४।२३४ में इस की व्युत्पत्ति 'ओपति दहतीति उप · उषा या दी है। ऋग्वेद में 'उषा' सतत गतिशील है। यह प्रति दिन अपने पूर्व म र्ग पर आती है। वह मघोनी = धनयुक्त और धन देने वाली है। देखो ऋ० (३।६१।३-४ आदि)। प्रयाणम्—गमन, चलना, चला जाना। भाव यह है कि व्यापार आदि कर्मों के करने से धन की वृद्धि होती है।

(v) भर्तृयज्ञ द्वारा प्रदत्त 'युञ्जते मन उत' आदि मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

[होत्रा] यज्ञशील (विप्राः) (व्यापार में कुशल) बुद्धिमान् वैश्य [विप्रस्य] विशेष रूप से फल प्राप्त कराने वाले [बृहतः] महान् [विपश्चित] (वाणिज्य रूपी) यज्ञ (के कर्म म) [मन] (अपने) मनों का [युञ्जते] युक्त करते हैं [उत] और [धियः] कर्मों का [युञ्जते] (उसी में) संलग्न करते हैं। [इत्] निश्चय से (यह) [देवस्य] दिव्य [सवितुः] सकल जगत् के उत्पादक और परमैश्वर्य के सृजक परमेश्वर की [मही] महान् [परिष्टुतिः] महिमा (है)। [वयुनावित्] (व्यापारिक उत्तम) कर्मों का जिज्ञासु (एकः) कर्मशील (मैं सविता की इस महिमा को) [विदधे] (पूर्ण रूप से) धारण कर सकूं।

(vi) विप्राः—निघ० में यह मेधाविनामों में पढ़ा गया है। ऋग्वेद के अनुसार बुद्धि और कर्म से ही मनुष्य 'विप्र' बनता है—"उपह्वरे गिरीणा सगथे च नदीनम्। धिया विप्रो अजायत॥" ऋ० ८।६।२८। विप्रस्य—महीधर ने इस का विग्रह—*विशेषेण प्राति पूरयति फलमिति विप्रस्तस्य।* √प्रा पूर्तौ से। दस० ने भी इसी व्युत्पत्ति को अपनाया है। विपश्चितः—तु० क० श० ३।५।३।१२—यज्ञो वै बृहन् विपश्चित्। य० ५।१४ में महीधर-भाष्य भी देखें। यज्ञ का अर्थ अतिव्यापक होने से यहां पर प्रकरणोचित 'वाणिज्य रूपी यज्ञ कर्म' अर्थ किया गया है। होत्राः—√हु दानादनयोः से। यह धातु 'यज्ञ करने' के अर्थ में सुविदित है। अत यज्ञ करने वाले।

दधे—√धा से लट् उत्तम पु० एक व० आत्मनेपद। यहा भाव लोट् लकार मे अभीष्ट है। **वयुनावित्**—वयुन का अर्थ कर्म है। कर्मों को जानने वाला। अभी ब्रह्मचारी कर्मज्ञ नहीं हुआ है। वह व्यापारिक कर्मों को जानना चाहता है। अत यहा इच्छार्थ अभीष्ट है। **मही**—महती। वैदिक रूप। **परिष्टुतिः**—परि+स्तुत। सब ओर से स्तुति। अत यश, महिमा। **एकः**—एति गच्छतीति एक। √इ+कन्। उ० ३।४३। गतिशील, कर्मठ।

सब के लिये गायत्री का उपदेश

५० पृथक् पृथक् गुणों के अभिलाषियों के लिये पृथक् पृथक् मन्त्रों का विधान किया जा चुका है। सब मन्त्रों का देवता सविता और उन का विषय सद्बुद्धि की प्रार्थना है। भेद केवल छन्द का है। छन्दों के वाचक पदों के अर्थों[1] मे भी एक सीमा पर एकता का सूत्र परिलक्षित होता है। इस प्रकार वर्णों में मूलत कोई भेद नहीं रहता है। अत सब को गायत्री मन्त्र का ही उपदेश किया जा सकता है। इस विकल्प मे पिछले ३ सूत्रों में वर्णित विधि से पूर्व प्रचलित प्रथा का अवशेष भी लक्षित होता है।

समिधाधान

५१. **अत्र**—यहा। कर्क और जयराम इस का अर्थ 'अग्नि मे' करते हैं। हरिहर के मत में यह 'सावित्री मन्त्र के उपदेश के पश्चात् अत्र' का द्योतक है और विश्वनाथ के मत में 'दोपहर की सन्ध्या के बाद में' का। **समित्**—समिध्यते दीप्यते अग्निरनया इति। सम्+√इध् चमकना से। प्रदीप्त करने वाली। भाव यह है कि जिस प्रकार समिधा अग्नि में पड़ कर उसे प्रदीप्त कर देती है उसी प्रकार गुरु के सावित्री और ज्ञान के उपदेश रूपी समिधा से तुम भी ससार मे चमक उठो। तु० क० (१) 'प्राणा वै

१. छन्दों के वाचक पद मन्त्रों के अर्थों के प्रकाशक होते हैं। अतः उन के भेद से अर्थ में भेद हो जाता है। देखो—सुधीर कुमार गुप्त, सीयर्स औफ दी ॠग्वेद, देयर मैसेज एण्ड फिलौसौफी।

समिधः । प्राणा ह्येन समिन्धते । श० ६।२।३।४४ (२) यदेन समयच्छत् तत्समिध समित्त्वम् । तै० २।१।३।८ और (३) समिधो यजति वसन्तमेव वसन्ते वा इद सर्व समिध्यते । कौ० ३।४। ब्राह्मणों में समिध् के अर्थ अस्थि, गर्भ, वसन्त और प्राण मिलते हैं ।

(ii) इस समिधा के आधान के लिये न तो यहा पर पारस्कराचार्य ने कोई मन्त्र प्रस्तुत किया है, न भाष्यकारों ने ही। आगे० सूत्र० ५४ में भी समिधाधान का विधान और ५५ में उस समय बोले जाने वाला मन्त्र है। अत या तो समिधाधान का प्रकृत स्थल पर विधान करने वाला सूत्र पुनरुक्ति होने और मन्त्रहीन क्रिया का विधायक होने से प्रक्षिप्त है, अथवा यहा पर दस० के सवि० ने वर्णन के अनुसार 'अय त इध्म आत्मा' समिधाग्नि दुवस्यत, सुसमिद्धाय शोचिषे तथा 'तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो० मन्त्रों से समिधाधान अभीष्ट है। यह भी सम्भव है कि अब तक अग्नि का कुछ मन्द पड़ जाना स्वाभाविक था। अत इस स्थल पर सामान्यरूप से बिना मन्त्र पढ़े यज्ञवेदी में अग्नि में समिधाए डाल दी जाए। उपरोक्त तीनों मन्त्रों का यहा विनियोग आचार्य पारस्कर द्वारा विहित नहीं है। अत उन का अर्थ यहा नहीं दिया गया है।

अग्नि का परिसमूहन और उस का भाव

५२. पाणिना—भाष्यकारों का विचार है कि यहा पर 'पाणिना' में एक वचन के प्रयोग से एक हाथ से ही क्रिया का विधान अभीष्ट है, दोनों हाथों से नहीं। कई क्रियाओं में अग्नि का सधुक्षण दोनों हाथों से किया जाता है, परन्तु यहा नहीं।

(ii) 'पाणि' शब्द 'पण स्तुतिव्यवहारे च' से बनता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह पद केवल स्तुत्यर्थक 'पण्' धातु से सिद्ध होता है। परन्तु यह स्थिति ठीक प्रतीत नहीं होती। दयानन्द सरस्वती जी ने अपने वेदभाष्यों और उ० ४।१३३ के भाष्य में इसे व्यवहारार्थक भी माना है। यास्क का भी यही मत है (देखो महर्षि दयानन्द और देवताशब्द का अर्थ

१३–१८) । अतः पाणिनाऽग्निं परिसमूहति' का आन्तरिक भाव यह हुआ— 'अपने व्यवहार से ब्रह्मचारी वेदज्ञान, अध्यात्मज्ञान और यज्ञकर्म रूप अग्नि को एकत्रित कर प्रदीप्त करता रहे ।' **परिसमूहति**—परि+सम्+√ऊह्+लट् प्रथम पु० एक व० । भाष्यकारों ने इस का अर्थ १. 'संधुक्षण—तेज करना, प्रचण्ड करना, जगाना' किया है । आपटे के संस्कृत अंग्रेजी कोष में २. 'चारों ओर जल से छिड़कना' विको० में '३. इकट्ठा करना, ४. जमा करना', सशब्दकौ० में '५. एकत्र करना, ६ यज्ञाग्नि में समिधा डालना, ७. यज्ञ में अग्नि के चारों ओर गिरे हुए तृण आदि को आग में डालना, ८. यज्ञाग्नि के चारों ओर जल से मार्जन करना' किये हैं । यहा पर सूस० ५१ की दृष्टि में अर्थ संख्या २, ६ और ८ सभव नहीं । तीव्र अग्नि को जल से छिड़कना उस के वेग को मन्द करने के लिये होता है । समिधाएं डालते ही जलसेचन अनावश्यक है । वैसे भी इस का विधान आगे सूस० ५४ में किया गया है । 'अदितेऽनुमन्यस्व' आदि से जलप्रसेचन का पूरा विधान न होने से वह भी अभिप्रेत नहीं है । अर्थ स० ७ मे 'परिसमूहति' के साथ कर्म और 'अग्नि' मे सप्तमी विभक्ति आनी चाहिए थी । अतः प्रकरण मे शेष अर्थ ही अभीष्ट हैं । सच० ने 'इकट्ठा करना' अर्थ ग्रहण किया है ।

५३. सुश्रवः—शोभन श्रवो यस्य स । सम्बोधन एक व० । श्रव निघ० २।७।४ व मे अन्न का और २।१०।२६ में धन का वाचक माना गया है । विको० ने 'तीव्र गति और धारा' अर्थ भी दिए हैं । उत्तम धन, कीर्ति और कर्मों वाला । **सौश्रवसम्**—सुश्रवाश्चासौ सौश्रवस तम् । सुश्रवस् और सौश्रवस—दोनों का एक ही अर्थ है । जयराम लिखते हैं कि "मेरे गुरु को सुश्रवस् बनाओ । उन का शिष्य होने से मैं 'सौश्रवस' हो ही जाऊंगा ।" यह भाव ठीक नहीं क्यों कि इस में गुरु को पहले से असुश्रवस् समझने की भावना अवगत होती है । **निधिपाः, निधिपः**—निधिं कोष पाति रक्षतीति । **वेदस्य**—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । ब्राह्मणों मे 'ब्रह्म, सविता, ये लोक, वाक् और त्रयीविद्या' को 'वेद' कहा है । 'यत्, भूर्भुव. स्व,

सत्य' आदि को त्रयीविद्या नाम दिया गया है। इन सब की रक्षा की भावना गौण रूप से और ऋग्यजुःसामाथर्ववेदों की प्रमुख रूप से अभिप्रेत है। **मनुष्याणाम्**—मनुष्यों में, अथवा मनुष्यों के लिए निर्मित (वेद का)। जयराम 'और मनुष्यों का मा रक्षक' अर्थ लेते हैं। **देवानाम्**—जयराम—दीव्यन्ति प्रकाशयन्त इति देवा अग्नानि इन्द्रादयो वा। शरीर के अंग अथवा इन्द्र आदि देवता। परन्तु प्रकरण में 'विद्वान् अथवा सूर्य आदि भौतिक पदार्थ' अर्थ ही सगत होते हैं। **यज्ञस्य**—जयराम—वेद, विष्णु।

(ii) **अग्ने** सुश्रवः०—इस मन्त्र के उत्तरार्ध का संस्कारचन्द्रिका का अर्थ यह है—"हे (अग्ने) भौतिक अग्ने! (देवानाम्) जल आदि देवताओं के बीच में (त्वम्) तू (यज्ञस्य) यज्ञ हवनादि क्रिया और शिल्प विद्या आदि के (निधिपा) कोष का रक्षक (असि) है (एवम्, अहम्) ऐसे ही मैं (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के बीच में (वेदस्य) वेदविद्याज्ञान सम्बन्धी सब विद्या के (निधिपा) कोश का स्वामी, ईश्वर करे कि (भूयासम्) होऊँ।" पृ० ४३३।

अग्निपरिसमूहन में विनियुक्त मन्त्र

(iii) हरिहर आचार्य लिखते हैं कि सूम० ५२ के अग्निसमूहन में पांच मन्त्रों का प्रयोग होता है और कुछ आचार्यों के मत में तीन मन्त्रों का। वे तीन मन्त्र सूम० ५३ में (१) 'अग्ने···मा कुरु,' (२) 'यथा त्वमग्ने सुश्रव ··· सौश्रवसं कुरु' और (३) 'यथात्वमग्ने देवानाम्······ भूयासम्'। जो आचार्य पांच मन्त्र मानते हैं वे इस मन्त्र के भाग ऐसा करते प्रतीत होते हैं—१. अग्ने···कुरु। २. यथा···सुश्रवा असि। ३ एव······ सौश्रवसं कुरु। ४. यथा त्वमग्ने···निधिपा असि। ५. एवमह···भूयासम्।

५४. **प्रदक्षिणम्**—अर्थात् प्रदक्षिणा करते हुए। **पर्युक्ष्य**—परि+√उक्ष्+ल्यप्। सींच कर, छिड़क कर। इस से अग्नि का वेग कुछ कम हो जाता है। यह क्रिया शान्ति की प्रतीक है। ब्रह्मचारी ज्ञान और शक्ति से

प्रदीप्त हो कर भी शान्तचित्त रहे। समिधम्—गदाधर आचार्य सूत्र० ५१ में भी तीन समिधाओं का प्रक्षेप मानते हैं।

५५ आहार्षम्—आ+√हृ+लुङ् प्रथम पु० एक व०। आहृ—लाना, देना। जातवेदसे—मच०—ज्ञान देने वाला ईश्वर। गदाधर—जातान् जातान् वेत्तीति जातवेदास्तस्मै। समस्त उत्पन्न पदार्थ आदि को जानने वाला। ब्राह्मणों मे यह पद 'प्राण, वायु, समस्त उत्पन्न वस्तुएं' का वाचक माना गया है। ऋ० ३।२६।७ में अग्नि जन्म से ही 'जातवेदस्' है। वेद में यह 'अग्नि' के विशेषण के रूप में आया है। नि० ७।१६ में कहा गया है कि उत्पन्न वस्तुओं को जानने वाला, जिस का उत्पन्न प्राणी जानते हैं, समस्त पदार्थों में विद्यमान, जातवित्त जातधन, जातविद्य या जातप्रज्ञान होने से ही जातवेदा होता है। दस० ने इसे 'परमात्मा' का वाचक माना है। अग्ने—यह सम्बोधन प्रयोग की शैली मात्र है। यहां प्रथमान्त रूप ही अभीष्ट है, सम्बोधन नहीं। मेधया—मेधते सगच्छते सर्वमस्याम्। अष्टाध्या० १।५।२। √मेधृ सगमे+अ। यहां पर धातुपाठ में 'मिदृ मेदृ मेधाहिंसनयोः। मेधृ सगमे च। (मिथृ मेथृ मेधाहिंसयोरित्येके। मिधृ मेधृ इत्यन्ये।)' पाठ है। यहां पर कोष्ठकों में प्रदत्त अश सिकौ० (बालमनोरमा) में नहीं हैं। इस में 'मेधृ' पाठ अनावश्यक है, क्यों कि यह धातु पहले ही पढ़ी जा चुकी है। शेष में 'च' के प्रयोग से पहली धातुओं के अर्थ मेधा और हिंसन भी सगत होते हैं। अत. मेधृ के अर्थ मेधा, हिंसन और सगम होते हैं। मेधा में अज्ञान की हिंसा और ज्ञान का सगम (=प्राप्ति, मेल) होता है। गदाधर—अतीतादिधारणवती बुद्धि। प्रजया—सामान्यत. इस का अर्थ सन्तान होता है। ब्रह्मचारी वीर्यरक्षा का व्रत ले रहा है, सन्तानोत्पत्ति का नहीं। अत. यह अर्थ प्रकरण में असगत है। ब्राह्मणग्रन्थों ने इस के अर्थ 'विश्वज्योति, इष', भूतानि, बर्हि, शाल्म्, उक्थानि' भी दिए हैं। अत. यहां पर विश्व ज्योति, अन्न आदि अर्थ अभिप्रेत हैं। पशुभिः—पशुओं—गाय, बैल, घोड़े आदि से। यद्यपि गुरुकुल में इन तीनों पशुओं का परम उपयोग था और वे

यहां पाले जाते थे, परन्तु वे ब्रह्मचारी के अपने धन नहीं होते थे। अतः यह अर्थ भी प्रकरण में विशेष सगत नहीं।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में 'पशवः' के अर्थ—'अग्नि, सविता, दैवी विश, गव्य, घृतश्च्युत, हवि, श्री, यश, शान्ति, रस, पुष्टि, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तनू, प्राण, वाज, अन्न, धान, गृह, आत्मा, यज्ञ, छन्दांसि और वपु' आदि दिए गए हैं। इन में से दैवी विश् (तु० क० दैवी सम्पत्—गीता १६।१-३), शान्ति, पुष्टि, यज्ञ आदि सामान्य रूप से और 'प्रजापति' की कल्याणी तनू' विशेष रूप से संगत होते हैं। कठोपनिषद् १।२।१-२ में सांसारिक सुखों को प्रेय और पारलौकिक या पारमार्थिक सुख को श्रेय कहा है। यही प्रजापति की कल्याणी तनू है। अतः पशुभि' का अर्थ कल्याण और शान्ति लिया जा सकता है। य०४०। ११, १४ के अनुसार दोनों ही प्रकार के सुखों की प्राप्ति ही वास्तविक कल्याण प्रदान करती है। प्रकृत मन्त्र में आयु आदि से प्रेय और पशुभि से श्रेय की कामना की गई है।

(iii) जीवपुत्र —जीवन्त पुत्रा यस्य सः। दीर्घजीवी पुत्रों वाला। इस पद का संहिताओं में प्रयोग इसी अर्थ की ओर संकेत करता है—तु०क० 'जीवपुत्रा पतिलोके वि राज प्रजा पश्यन्ती सुमनस्यमाना' ॥ तै० २।११।३। त इमा दम्पती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद्वासयात पर्यग्निधानात् ॥ अथर्व १२।२।३५। वयं जीवा जीवपुत्रा अनागस ॥ ऋ० १०।३६।६। 'जीव' पद ऋ० १।६८।२ में अग्नि का विशेषण है। जो 'जानदा' है, ऋ० १।११३।१६ में 'असु' का विशेषण है। ऋ० ५।४४।१ में मेधावी विद्वान् का द्योतक प्रतीत होता है (देखो दयानन्दभाष्य)। अथर्व० १६।७०।१ में यह सूर्य, इन्द्र और देवताओं का विशेषण है। अथर्व० १४।२।४४ में यह निष्पाप यशस्वी पुत्रक के लिए प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः यह पद संहिताओं में जीव, प्राणिमात्र और जाग्रत के अर्थ में आया है। अतः भाष्यकारों के उपरोक्त अर्थ के साथ जीवपुत्र का अर्थ—गतिशील, बुद्धिमान् और यश के समुन्नायक (तु० क० स जातो यन जातेन याति यशः समुन्नतिम्) का पुत्र अर्थात् परम

गतिशील, बुद्धिमान् और यशस्वी' किया जा सकता है। इस की पुष्टि ब्रह्मचारी की 'मेधावी, यशस्वी, तेजस्वी, ब्रह्मवर्चसी, अन्नाद और अनिराकरिष्णु' होने की प्रार्थना से होती है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के सदृश होना चाहता है। **अनिराकरिष्णुः**—जयराम—गुरु द्वारा बताये गये धर्म आदि को न भूलने वाला। सत्य० किसी का तिरस्कार न करने वाला। यह पद न निराकरिष्णु (निर्+आ+√कृ+इष्णुच्) से बनता है। निराकरण के अर्थ मशकौको० में '(१) शमन, (२) निवारण, (३) खण्डन, (४) देश निर्वासन, (५) तिरस्कार, (६) मुख्य यज्ञीय कर्मों की अवहेलना' दिये गये हैं। इन में छठा और तीसरा अर्थ भी उपरोक्त अर्थों के साथ प्रकरण में उपयोगी हैं। **ब्रह्मवर्चसी**—सत्य०—ब्रह्मसम्बन्धी तेज वाला अर्थात् आत्मिक बल वाला। जयराम—याजनादितेजोयुक्त। प्रकरण में ब्रह्म का वेद अर्थ अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। अत 'वेदज्ञान के तेज से युक्त'। **अन्नादः**—अन्नमत्तीत्यन्नाद। समस्त भोग्य पदार्थ 'अन्न' होते हैं क्योंकि 'भोगना' 'खाने' के भाव का ही विस्तार है इसी लिए ब्राह्मणों में 'अन्न' के अर्थ 'शान्ति, पशु, श्री प्राण, वाच, सप्त सस्यक, दधि मधु घृत, समस्त भूतों की आत्मा और रेत.' आ द दिए गए हैं। 'अन्न' को यहां 'वैश्वदेव' भी कहा गया है। देखो वैको० पृ० ३०—३१। अत यहां 'समस्त भोग्य पदार्थों का भोक्ता' अर्थ अभिप्रेत है। **स्वाहा** गदाधर—सुहुतमस्तु। यह सु+आ+आह से बना है—सब ओर से सुन्दर कथन। इस मन्त्र में कुछ प्रार्थनाएं हैं। यहां पर उन प्रार्थनाओं की सफलता की कामना व्यक्त की गइ है। वेदभाष्यों में स्वा० दयानन्द सरस्वती के अर्थ और वैदिक कोष में स्वाहाकार के अर्थ भी अवलोकनीय हैं। मेघदूत ४७ की प्रमोदिनी टिप्पणियों के पृ० ८१ पर पादटिप्पणी भी देखें।

५६. दूसरी और तीसरी समिधाओं को डालते समय मन्त्र स० ५५ को प्रत्येक बार पढ़ना होता है।

५७. **एषा ते**—समिधाधान में 'अग्नये समिधमाहार्षम्' के स्थानपर

'एषा ते' मन्त्र से समिधा दे। अथवा 'अग्नये समिधम्' और 'एषा ते' दोनों मन्त्रों को मिला कर पढ़े।

एषा ते मन्त्र और उस का अर्थ

(ii) 'एषा ते' मन्त्र यह है—

"एषा ते अग्ने समित् तया वर्द्धस्व चाच प्यायस्व।
वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि।
अग्ने वाजजिद् वाजन्त्वा ससृवाँ᳭ स वाजजित सम्मार्ज्मि॥ य० २।१४

(iii) इस का अर्थ यह है—

[अग्ने] हे अग्नि [एषा] यह [समित्] समिधा [ते] तुम्हारे लिए (है)। [तया] उस से [वर्धस्व] प्रदीप्त हो [च च] और [आप्यायस्व] (मुझ ब्रह्मचारी को) बढ़ाओ। [च] और [वयम्] हम [वर्धिषीमहि] वृद्धि को प्राप्त करें [च] और [आ] सब ओर से [प्यासिषीमहि] (दूसरों को) बढ़ा सकें। [अग्ने] हे अग्नि [वाजजित्] ज्ञानसम्पन्न हुआ (मैं) [वाजम्] शक्तियुत [ससृवांसम्] गतिशील [वाजजितम्] अन्न आदि के उत्पादक [त्वा] तुम को [सम्मार्ज्मि] प्रदीप्त करता हू।

समिधाधान का भाव

(iv) भाव यह है कि जिस प्रकार अग्नि समिधा से प्रदीप्त होती है उसी प्रकार मैं ज्ञान से चमक कर लोक का कल्याण कर सकू। विविध पदार्थों के ज्ञान के लिए शक्ति, गति और उत्पादन के परम साधन अग्नि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर प्रयोग कर सकू।

(v) समिधाधान के दोनों मन्त्रों में अग्नि परमेश्वर की प्रतीक है। परमेश्वर ही ब्रह्मचारी की समस्त कामनाओं को पूरा कर सकता है। भौतिक अग्नि नहीं। प्यायस्व—√प्याय्+लोट् मध्यम पु० एक व०। बढ़ाना। वर्धिषीमहि—√वृध् बढ़ना+आशीर्लिङ् उत्तम पु० बहु व०। प्यासि

पीमहि—यह √'प्यै' से आशीर्लिङ् का रूप है। **वाजजित्**—वाज के अर्थ पहले दिए जा चुके हैं। जित् जीतने वाला। अतः समर्थ, सम्पन्न। अग्नि के पक्ष में—अन्न आदि के अभाव को जीतने वाला = अन्न आदि से समृद्ध करने वाला, अतः अन्न आदि का उत्पादक। **ससृवांसम्**—√सृ जाना क्वसु + पुल्लिंग द्वितीया एक व०। गतिशील। **सम्मार्ज्मि**—साफ करता हूं, प्रदीप्त करता हूं।

जलसेचन

५८ **पूर्ववत्**—पहले के समान, जैसा ऊपर सूत्र० ५२ और ५४ में बताया है। इस परिसमूहन (= अग्नि को एकत्र कर प्रज्वलित करना) और पर्युक्षण (अग्नि को जल से छिड़कना) के एक साथ वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञ पर यज्ञवेदी के चारों ओर 'अदितेऽनुमन्यस्व (पूर्व में)' 'अनुमतेऽनुमन्यस्व (पश्चिम में)' 'सरस्वत्यनुमन्यस्व (उत्तर में)' और "देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ (चारों ओर)" से जलप्रसेचन अभीष्ट हो, अग्नि पर जलसिंचन नहीं। गदाधर के लेख 'पर्युक्षणं अग्ने सर्वतो जलासेकः' का भी यही भाव है। क्यों कि अग्नि को प्रदीप्त करते ही उसे शान्त करना कुछ कम समझ में आता है। आध्यात्मिक दृष्टि से परिसमूहन और जलप्रसेचन के एक साथ करने से 'बढ़े हुए उन्नत पुरुष को उन्नति के साथ साथ शान्ति को धारण करना परम आवश्यक है' यह भाव निकलता है। इस जलप्रसेचन का विधान स्वा० दयानन्द सरस्वती ने संस्कारविधि में किया है।

हाथ तपा कर अंगों के स्पर्श का लक्ष्य

५९. **प्रताप्य**—प्र + √तप् + ल्यप्। **विमृष्टे**—वि + √मृश् + लट् प्रथम पु० एक व०। मलता है। इस कार्य को करने से यज्ञाग्नि से उठती हुई आहुतियों में डाले हुए द्रव्यों के परमाणुओं से समृद्ध और अनेक प्रकार के गुणों से युक्त वायुओं का विशेष संपर्क प्राप्त होता है और वह चित्त को

प्रसन्न और मुख को कान्तिमय कर देता है। यज्ञ में जो पदार्थ डाले जाते हैं वे सुगन्धयुक्त और पौष्टिक तो होते ही हैं साथ ही विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के उत्पादक भी होते हैं। विस्तार के लिये डा० सत्यप्रकाश की पुस्तक 'अग्निहोत्र' देखें। यहां पर लोक में हाथों पर आहुतियों के पश्चात् जल में डाली हुई घृत की बूंदों को मलने की प्रथा देखने में आती है।

६०. तनूपाः—तनूं पातीति तनूपाः। ऐ० २।४ के अनुसार प्राण 'तनूनपात्' है क्योंकि वह शरीर की रक्षा करता है। श० १।५।४२ में 'रेतस् (=वीर्य)' को 'तनूनपात्' कहा है। शरीर की स्थिति वीर्य से ही होती है। 'तनूनपात्' 'अग्नि' का प्रसिद्ध नाम है। उधर अग्नि के अर्थों में 'प्राण' और 'रेतस्' भी मिलते हैं। अतः प्राण और रेतस् की प्रतीक अग्नि से शरीर की रक्षा की प्रार्थना की गई है। आयुर्दाः—आयुः ददातीति। ईयते प्राप्यते यत्तदायुः। जीवनं वा। (दसउ० २।११८) अथवा, एति प्राप्नोति सर्वानित्यायु-र्जीवनकालः (दसउ० १।२)। दोनों स्थलों पर दोनों ही व्याख्यान संभव हैं, केवल प्रत्यय का भेद है। आयु पद गतिशील काल का द्योतक है। इसी लिए इस के अर्थों में 'सवत्सर, यज्ञ, लोक और अग्नि का भी ग्रहण किया गया है। अग्नि गतिप्रदान करती है। सूर्य और चन्द्र के रूप में वह समय (=सवत्सर) का विधान करती है—तु० क० 'ये द्वे काल विधत्त'।' अभिज्ञानशाकुन्तल १।१। वर्चोदाः—अग्नि वर्चस्=तेज का कोश है, यह सुज्ञात है। तन्वाः—तनौ। शरीर का अर्थात् शरीर में। ऊनम्—कमी। आपृण—आ+√पृण् प्रसन्न करना, शान्त करना+लोट् मध्यम पु० एक व०। (कमी को) शान्त कर दो, (कमी को पूरा कर के) प्रसन्न करो। अत अनुवाद में 'पूरा करो' अर्थ दिया गया है। इसे √पृ पूरा करना से भी लिया जा सकता है।

(ii) वेद में अग्नि को अंगिरा कहा है। ऋ० १०।६७।२ में आंगि-रस ऋत के प्रशंसक, सरलता के धारक, द्युपुत्र, असुर के वीर, विद्वत्सद्प्राप्त और यज्ञ के तेज को श्रेष्ठ मानने वाले, ऋ० ३।५३।७ में धनदायक और

आयुवर्धक, ऋ० ६।६५।५ में गो (=वाणी=ज्ञान) के वशज और य० ३४।१७ में पदज्ञ और साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले कहे गए हैं। ऐसे व्यक्ति ही राष्ट्र को और समाज को प्राण और आयु देते हैं और उन की कमी दूर करते हैं। अत यहा पर व्यञ्जनावृत्ति से ब्रह्मचारी और उपस्थित विद्वानों और सामान्य जनता को अपने अपने अनुरूप भावनाए ग्रहण करने का सकेत है।

६१. **देवी**—देव पद का स्त्रीलिंग रूप। ऊपर सूत्र० ३३ में देवपद देखें। **सरस्वती**—सामान्यत यह 'विद्या' की देवी मानी जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ वाक्, जिह्वा, गौ, अमावास्या, योषा, पुष्टि आदि पाये जाते हैं। ऋग्वेद में सरस्वती को पावक, ज्ञान सम्पन्न, सूनृतों की प्रेरक, बुद्धियों को चिताने वाली कहा है—

'पावका न सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञ वष्टु धियावसु॥
चोदयित्री सुनृताना चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञ दधे सरस्वती॥
महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति'[1]॥''

अत वैदिक सम्प्रदाय मे यह विद्या, ज्ञान और यज्ञकर्म आदि की द्योतक है (ऋ० ६।६१, १०।१४१।५ आदि भी देखें)। **अश्विनौ**—ये युगल देवता हैं। ऋग्वेद मे ये इन्द्र, अग्नि और साम के पश्चात् आते हैं। इन सूक्तों में बहुत से चमत्कारों का वर्णन पाया जाता है। इन के वास्तविक स्वरूप के विषय में विद्वानों ने बड़ा विचार किया है। वस्तुत कोई एक अर्थ या दृश्य आदि इन के समस्त मन्त्रों की सगति नहीं लगा सकता है। इसी दृष्टि से ब्राह्मणग्रन्थों में इस पद के अनेक अर्थ दिए गए हैं। शतपथब्राह्मण ४।१।५।१६ मे अग्नि और आदित्य से युक्त पृथिवी और द्युलोक को पुष्करस्रजौ अश्विनौ कहा है। इस पद के अन्य अर्थो मे श्रोत्र, नासिका, अध्वर्यू, देव भिषज् भी आते हैं। श्रीमैक्डोनल इन्हें प्रकाश के देवता मानते हैं और इस

१. ऋ० १।३।१०—१२

पद की व्युत्पत्ति 'अश्व + इन्'—घोड़े वाला देते हैं। यास्क (नि० १२।१) के कथनानुसार कुछ आचार्य इन्हें अहोरात्र कुछ सूर्याचन्द्रमसौ और कुछ पुण्य कर्म करने वाले दो राजा मानते हैं। प्रकरण में इन में से कोई अर्थ सगत नहीं होता है। द्यावापृथिवी आदि जड़ वस्तुएं चेतन ब्रह्मचारी को मेधा प्रदान करने में समर्थ प्रतीत नहीं होतीं। अध्वर्यु के अर्थ मन[1] चक्षु[2] और प्राण, उदान[3] दिए गए हैं। मन और चक्षु ज्ञानेन्द्रिय हैं। वे विषयों का साक्षात्कार कर मानव के ज्ञान और उस के द्वारा मेधा को बढ़ाते हैं। भाव यह है कि मन और चक्षु से विषयों का ज्ञान यथार्थ हो और वह ब्रह्मचारी के स्वभाव पर गहरा प्रभाव डाल सके।

(iii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अश्विनौ के अनेकविध अर्थों में 'अध्यापक और उपदेशक' अर्थ भी दिया है। प्रकरण में यही अर्थ सब से अधिक सगत है। उपनयन के समय यदि बालक अध्यापक और उपदेशक से ज्ञान और स्मरणशक्ति बढ़ाने के उपायों—योग आदि के निरन्तर उपदेश की प्रार्थना करे तो उपयुक्त ही है। अश्विन् शब्द √अश् व्याप्तौ से बनता है और अध्यापक तथा उपदेशक का वाचक बन जाता है।

(iv) हठयोग के षट्कमल और कुण्डलिनी के सिद्धान्तों की दृष्टि में अश्विनौ को प्राण और अपान भी माना जा सकता है। दस० ने 'इमं मे गंगे यमुने' आदि मन्त्रों में हठयोग का दर्शन किया है। देखो ऋभाभू० पृ० ३०६। पुष्करस्रजौ—श० ७।४।१।१३ के अनुसार आस् के रस को ऊपर कर के उस को पुरस्तात् रक्षक बनाना पुष्कर' है। अपस् के अर्थ 'प्राण, अमृत, शान्ति, प्रतिष्ठा, श्रद्धा, यज्ञ, सर्वे देवाः' आदि हैं। उधर पुष्करपर्णम् (पुष्कर का पत्ता) के अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् भी हैं। अत पुष्करस्रजौ का अर्थ प्रतिष्ठा और वाक् से समृद्ध व्यक्ति हैं। सच० का 'कमल की मालाओं से सजे हुए' अर्थ बहुत शोभन नहीं है।

१ श० १।५।१।२१ २ कौ० १७।७ ३ श० ५।५।१।११

६२. अगान्यालभ्य जपति—यह अगस्पर्श पारस्करीय नहीं है, परन्तु इन सूत्रों में यह अश परिशिष्ट रूप में ग्रहण किया गया है और इसी लिये कोष्ठकों मे रक्खा गया है। पारस्करीय शाखा मे यह कब से स्वीकृत हुआ यह जानना सभव नहीं जान पड़ता। अन्य सूत्रकारों ने इस का विधान माना है। दस० ने यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य दिया है। यथा ॐ 'वाक् म आप्यायताम्। ॐ प्राणश्च म आप्यायताम्। ॐ चक्षुश्च म आप्यायताम्। ॐ श्रोत्र च म आप्यायताम्। ॐ यशो बल च म आप्यायताम्॥ जयराम ने भी 'तत्र वाक् न म आप्यायतामिति क्रिया विपरिणाम कुर्यात्' लिख कर दस० के समान प्रत्येक इन्द्रिय के लिए पृथक् पृथक् वाक्य की योजना का विधान माना है।

(ii) आलभ्य—आ + √लभ् + ल्यप्। चारों ओर से प्राप्त कर के = स्पर्श कर के। इस धातु क अर्थ में कालान्तर में परिवर्तन हो गया और आ + √लभ् हिंसा अर्थ मे प्रयुक्त होने लगा। तु० क० सुरभितनया लम्भना रन्तिदेवस्य कीर्तिम्। मेघ० १।४६। इस अर्थपरिवर्तन के कारण अभय पशुओं का वध कर उन्हें यज्ञों में डालना प्रारम्भ हुआ। वैदिक विषयों और तत्सम्बन्धी स्थलों पर आ + √लभ् का पूर्वोक्त मूल अर्थ ही लगाना उचित प्रतीत होता है। जपति—तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन के इस सूत्र के अनुसार किसी विषय के भाव या अर्थ को मन मे विचारना, धारण करना ही जप है। अत मन ही मन (—उपाशु या मौन रूप मे) किसी विषय या मन्त्र आदि का पुन पुन उच्चारण करना जप नहीं है। यहा पर 'वाक् च म आप्यायन्ताम्' आदि के जप मे क्रिया के साथ 'वाक्' आदि की वृद्धि की भावना भी मन में धारण करनी अभीष्ट है।

तिलक लगाना

६३ त्र्यायुषमिति—भाष्यकारों के मत मे 'प्रतिमन्त्रम्' का अर्थ 'त्र्यायुषम्' के चार पाद हैं। प्रत्येक पाद से एक एक क्रिया करे। 'त्र्यायुष जमदग्नेः' से ललाट पर, 'कश्यपस्य त्र्यायुषम्' से ग्रीवा में, 'यद्देवेषु त्र्यायुषम्'

से दाहिने कन्धे पर (अथवा दोनों बाहुओं के मूल में-शुकदेव) और तनो अस्तु त्र्यायुषम्, से हृदय पर राख से त्रिपुण्ड्र तिलक लगाए। परन्तु यदि विधान कर्त्ता का यही अभिप्राय होता तो वे 'प्रतिपादम्' पद का प्रयोग करते। अत सम्भव है कि उन्हें यहां चार मन्त्र अभिप्रेत हों। जिन की परम्परा अब विस्मृत हो गई है। इन में से दो काण्व यजुर्वेद संहिता में प्राप्त 'यन धाता बृहस्पते रिन्द्रस्य चायुषेऽवपत्। तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातव जीवनाय॥ दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे। सुप्रजास्त्वाय चाक्षो अथो जीव शरद शतम्'॥ (३।७५-७६) और एक माध्यंदिन यजुर्वेद संहिता का ३।६३- 'शिवा नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिं सी। निवर्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय॥' हो सकते हैं। कर्क आदि सभी भाष्यकारों का विचार है कि **अगालम्भन और त्र्यायुषतिलक करण पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है** और इसी लिए उन्हों ने इस का विधान नहीं किया है। इस विधि में ये दोनों प्रयोग परम्परा से शिष्टों में प्रचलित होने से अन्य ग्रन्थों से ले कर यहां सम्मिलित कर दिए गए हैं।

त्र्यायुष जमदग्ने॰ का अर्थ

(ii) इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—

[जमदग्ने] परम गतिशील जनों का [त्र्यायुषम्] विद्या, बुद्धि, और धर्माचरण से प्राप्त शुद्धि, बल और पराक्रम का गुण [कश्यपस्य] क्रान्तदर्शी अध्यापकों का [त्र्यायुषम्] श्रवण मनन और निदिध्यासन का गुण और [यत्] जो [देवेषु] विद्वानों का [त्र्यायुषम्] चार आश्रमों, चार वर्णों और परोपकार का गुण (है) [तत्] वह [त्र्यायुषम्] तीन प्रकार का गुण [नः] मुझे [अस्तु] प्राप्त हो जाए।

(iii) देवेषु—शतपथब्राह्मण में विद्वानों को 'देव' कहा गया है। त्र्यायुषम्—आयु की व्युत्पत्ति √इ धातु से दी जा चुकी है। जो प्राप्त हो वह आयु है। अत यह गुण का वाचक है। देखो य॰ ३।६२ में दय॰

का भाष्य। त्रिविध गुण का व्याख्यान प्रत्येक स्थल पर 'देव' 'जमदग्नि' और 'कश्यप' के अर्थो के अनुरूप करना होगा। विद्वान् आश्रमों और वर्णों के धर्मों का पालन कर के अपने को उन्नत कर राष्ट्र और मानव जाति का उपकार करते हैं—तु० क० यदि दिव्योऽसि सूजरसोऽसि ॥ ऋवे० ५।१६।२।

जमदग्ने:—शतपथ ब्राह्मण में ससार के द्रष्टा और मनन करने वाले का जमदग्नि ऋषि कहा है। वहा इस का अर्थ प्रजापति भी किया गया है। यास्क ने इस का व्याख्यान 'प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा' किया है। 'प्रजमित' के स्थान पर दय० ने 'प्रजवित (य० ३।६२ का भाष्य) और डा० पतहसिंह ने प्रयमित' (वैए० २६४) पढा है। तीनों पद क्रमश √जम् भक्षण करना, √जव् जाना (निघ० २।१४।१०५), √यम् उपरमे (वश मे करना आदि) से बनते हैं। अतः दुर्गुणों का नाशक प्रगतिशील सयमी यज्ञमय पुरुष। ऐसा व्यक्ति ही राष्ट्र का चक्षु होता है। इस लिए उस का गुण 'विद्या बुद्धि और धर्माचरण से विशिष्ट शुद्धि बल और पराक्रम होता है।

(iv) **कश्यपस्य**—तैत्तिरीय आरण्यक में 'कश्यप पश्यको भवति' कह कर इसे √दृश् से व्युत्पन्न किया है। देखने वाला, अत क्रान्तदर्शी। प्रकरण ब्रह्मचर्यव्रतधारण का है। अत यहा 'अध्यापक' का बोध ही अभिप्रेत है। कश्यप प्रजापति और आदित्य का भी नाम है। इस पद के प्रयोग से 'प्रजापति के सदृश, अखण्ड, सत्य ज्ञान वाला, क्रान्तदर्शी अध्यापक' भाव द्योतित किया गया है। वैए० २२८, दस० य० ३।६२ का भाष्य, ऋभाभू० पृ० ३७१। श्रवण मनन और निदिध्यासन से ही मनुष्य 'कश्यप या क्रान्त द्रष्टा बन सकता है।

येन धाता मन्त्र का अर्थ—

(ii) [धाता] ईश्वर ने [येन] जिस (वेदज्ञान) से [बृहस्पते] वेदज्ञान के पारगत [च] और [इन्द्रस्य] परमैश्वर्यशाली ब्रह्मचारियों को [आयुषे] गुणप्राप्ति के लिए [अवपत्] प्रवृत्त किया है (श०—बोया है)

[तेन] उस [ब्रह्मणा] वेदज्ञान से [ते] तुम्हारी [जीवनाय] आयु को [जीवातवे] गतिशील बनाने के लिए [वपामि] धारण करता हू।

(vi) यह काण्वसंहिता का मन्त्र है और माध्यन्दिन में उपलब्ध नहीं होता है। अवपत्—√वप् बोना से लङ् लकार प्रथम पु० एक व०। बोना, स्थापित करना, जमाना, धारण करना, धारण कराना। अतः हिन्दी अनुवाद। तु०क०—'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।' प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ईश्वर ने वेदों का प्रकाश सृष्टि के आरम्भ में मानव के कल्याण के लिए दिया था। जीवातवे—जीने के लिए। यह√जीव् से तुमर्थ में वैदिक रूप है। जीवनाय—जीवन के लिए। दोनों पदों के प्रयोग से अर्थ में पुनरुक्ति आ जाती है। अत जीवातवे का गत्यर्थ में लिया गया है। प्राणधारण गति ही है। जीवन=जल=रस=अमृत—इस प्रकार जीवनाय का अर्थ 'रस और अमृत की प्राप्ति के लिए' भी किया जा सकता है।

(vii) दीर्घायुत्वाय मन्त्र का अर्थ

[अथो] और [असौ] यह (मैं) [दीर्घायुत्वाय] चिर काल व्यापी जीवन [बलाय] बल [वर्चसे] तेज [च] और [सुप्रजास्त्वाय] कल्याण कारिणी विश्वख्याति की प्राप्ति के लिए [शतम्] सैकड़ों [शरदः] वर्ष [जीव] जी सकू॥

(viii) सुप्रजास्त्वाय—प्रजा के अर्थ के लिए ऊपर सूत्र० ५५ की टिप्पणियां देखें। शतम्—इसे उपलक्षण लेना उचित होगा। तु० क०—भूयश्च शरदः शतात्। त्र्यायुष जमदग्ने मन्त्र के भाष्य में दय० ने तीन सौ और उस से भी अधिक दिन के जीवन की कल्पना की है। असौ, जीव—इन दोनों में पुरुष का व्यत्यय अभीष्ट है। प्रकरण के अनुसार इन को उत्तम पुरुष में लिया गया है।

(ix) शिवो नामासि मन्त्र का अर्थ

[ते] तुम्हारा [नाम] नाम [स्वधितिः] अपने ज्ञान से धारण (अथवा—

प्रसन्न) करने वाला [पिता] रक्षक (और) [शिवः] कल्याणकारी [असि] है। [नमः] (मेरा) अध्ययन-यज्ञ [ते] तुम्हारे लिए [अस्तु] हो। [मा] मुझे [मा हिंसीः] पीडित न करो (अर्थात्—दुर्बोध न हो)। [आयुषे] गतिशील जीवन [अन्नाद्याय] ज्ञान और शान्ति आदि भोगों के उपभोग [प्रजननाय] (खोजों द्वारा) नई-नई सृष्टि [रायस्पोषाय] विद्या आदि धन की समृद्धि रूप महिमा [सुप्रजास्त्वाय] कल्याणकारिणी विश्वज्योति (और) [सुवीर्याय] कल्याणकारिणी दाहक शक्ति (की प्राप्ति) के लिए [निवर्तयामि] पूर्ण रूप से (ब्रह्मचर्य व्रत का प्रतीक रूप त्रिपुण्ड्र तिलक) लगाता हू।

(x) **नाम**—√नम् से। पर्यवसान, स्वरूप की पूर्णता। **शिवः**—श० ६।३।३।१५ में इसे √शम् शान्त करना से, पपाउ० १।१५३ में √शी सोना से (तु० क० दस० भाष्य) और सशकौका० में √शो से व्युत्पन्न किया गया है। इसे 'शि' से 'वन्' लगा कर भी व्युत्पन्न किया जा सकता है। कतिपय विद्वान् इस पद को अनार्य भाषाओं से आया हुआ मानते हैं। पौराणिक शिव को भी वे अनार्य देवता मानते हैं। परन्तु संहिताओं में इस पद के प्रचुर प्रयोग, शिवपूजा का बीज त्र्यम्बक = नारिकेल में होने से[1] यह विचार समीचीन नहीं मालूम पड़ता। **असि**—अस्ति। पुरुषव्यत्यय। **स्वधितिः**—निघ० ३।२०।१६ में इसे वज्रनामों में पढा गया है। भाष्यकारों ने सामान्यत यही अर्थ ग्रहण किया है। दस० ने ऋ० १।१६२।६ में स्वेन धृतौ (द्विवचन) और ऋ० १।१६२।१८ मे विद्युत् अर्थ किए हैं। ऋ० ६।६६।६ में स्वधितिर्वनानाम् का प्रयोग गीता के 'वेदाना सामवेदोऽस्मि' (१०।२२) के समान हुआ है। अत यहा यह किसी वृक्ष (अश्वत्थ?) (तु० क० अश्वत्थ. सर्ववृक्षाणाम्—गी० १०।२६) का वाचक है। ऋ० १०।६२।१५ मे इसे इन्द्र का विशेषण मानना समीचीन प्रतीत होता है। ऋ० ३।२।१०, ३।८।६, और ५।७।८ में यह 'ज्ञान—वेदज्ञान' का वाचक प्रतीत होता है।

१. देखो कोकोनट इज दी ओरिजिन ऑफ शिवकल्ट, एस० के० गुप्त, आइओका० १६४८ (सत्तेप)।

(xi) पदपाठकारों ने इस का स्वरूप स्वऽधिति माना है। धिति शब्द √धि धारण करना अथवा √धिन्व् प्रसन्न करना से व्युत्पन्न होता है। (देखो विकी० पृ० ५१६ स्तम्भ २, धित और धिति पद)। अत इस पद का प्रकरण की दृष्टि में अपने ज्ञान से धारण और प्रसन्न करने वाला अर्थ किया गया है। *अन्य अर्थ प्रकरण में पशु-से प्रतीत होते हैं।* **नमः**—इस का अर्थ 'नमस्ते', 'प्रणाम' भी किया जा सकता है। श० २।४।२।२४, ७।४।१।३० में इस का अर्थ 'यज्ञ' दिया गया है। अत यहा अध्यापन-यज्ञ अर्थ ग्रहण किया गया है। **हिंसी**—दुर्बोध वस्तु पीडित करने वाली होती है। भाव यह है कि मेरा अध्ययन का परिश्रम सफल हो। यह पद √हिंस् से लुङ् मध्यम पु० एक व० का रूप है। 'मा' के प्रयोग के कारण 'अट्' का लोप हो गया है। **निवर्तयामि**—मन्त्र का विनियोग त्रिपुण्ड्र लगाने में किया गया है। अत अनुवाद में यही भाव ग्रहण किया गया है।

त्रिपुण्ड्र लगाना अनावश्यक

(xi) त्रिपुण्ड्र के यज्ञोपवीत के समान ही तीन ऋणों आदि का द्योतक चिह्न माना गया है। यदि इस का लक्ष्य यज्ञोपवीत के लक्ष्य से अभिन्न है तो यह कर्म अनावश्यक है। सम्भवत इसी कारण पारस्कराचार्य ने इस का विधान नहीं किया है। वैसे भी यह क्रिया वैदिक प्रतीत नहीं होता। **अन्नाद्याय**—ता०१३।६ में अन्न का 'वाज' और ए०५।२७ में 'शान्तिः' कहा गया है। अत्तु याग्यमाद्यम्—भक्षण, उपभोग क योग्य। **प्रजननाय**—उत्पन्न करने क लिए। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य काल में पुत्र आदि उत्पन्न नहीं करता है। अत हिन्दी अनुवाद। **रायस्पोषाय**—ब्रह्मचारी का धन विद्या है। उसी की पुष्टि या समृद्धि अभीष्ट है। श० ३।५।२।१२ में 'भूमा' (महिमा) को 'रायस्पोष' कहा गया है। **सुवीर्याय**—कल्याणकारी वीर्य=शक्ति क लिए। तै० १।७।२।२ में 'अग्नि' को वीर्य कहा है। अत. उस में 'दाहक' का भाव निहित है। अत हिन्दी अनुवाद।

अभिवादन

६४. यहा भाष्यकारों ने अभिवादन का भी विधान माना है। मूल में उस का कोई निर्देश नहीं है।

भिक्षा मागने की रीति

६५-६७—भवत्पूर्वाम् – भाव यह है कि ब्रह्मवर्चस् का इच्छुक भिक्षा मागते समय 'भवान्/भवती भिक्षा ददातु' कहे, क्षात्र तेज का इच्छुक 'भिक्षा भवान्/भवती ददातु' और वैश्यगुणों मे कौशल का अभिलाषी 'भिक्षा ददातु भवान्/भवती' का प्रयोग करे। यहा पर भाष्यकारों ने भवति भिक्षा देहि, भिक्षा भवति देहि और भिक्षा देहि भवति का सम्बोधन बताया है। गदाधराचार्य के मत में भिक्षा अपने वर्ण के कुलों से ही मागनी चाहिए। सभवतः वे मानते हैं कि उपरोक्त सम्बोधन से प्रत्येक गृहस्थ ब्रह्मचारी के वर्ण को जान कर अपने वर्ण के ब्रह्मचारी को भिक्षा दे देगा। परन्तु वर्णों का ऐसा दृढ़ वर्गीकरण पीछे का है, वैदिक काल का नहीं है। अत ये प्रयोग ब्रह्मचारी की विद्याविशेष के ही द्योतक माने जा सकते हैं।

६८-६९ तिस्र.—माता आदि माग पूर्ण करने वाली तीन, छै, बारह या (आवश्यकतानुसार) अनेक ऐसी स्त्रियों से भिक्षा मागे जो देने में इकार न करें क्योंकि इकार से बालक के मन में क्षोभ होता है। दस० ने माता, पिता, बहन भाई, मामा, मौसी, चाची आदि से भिक्षा मागना बताया है।

७० माता कभी भिक्षा के लिये इकार नहीं करती। अत उस से ही सब से पहले मागा जाता है।

७१. निवेदयित्वा—मागने पर मिली समस्त भिक्षा को आचार्य को दे कर, उस द्वारा दिए भाग से क्षुधाशान्ति कर वाणी को सयम में रक्खे, कम और सयत पद बोले अथवा मौन रहे (?)। तुम० ७२ की दृष्टि में यहा

मौन रहना अभीष्ट प्रतीत होता है। कर्काचार्य इस मौन को वैकल्पिक समझते हैं।

वनस्पतियों में जीव

७२. अहिंसन्—नञ्+√हिंस्+शतृ+पु० प्रथमा एक व०। हिंसा न करते हुए। अर्थात् बिना काटे हुए। प्राचीन भारतीयों के मत में वृक्ष आदि में भी जीव होता है—तु० क०—मनु० १।४६

"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥"

वेद में भी वनस्पति का चेतन अग्नि से तादात्म्य कर के इस भावना का सूत्रपात किया गया प्रतीत होता है। (देखो ऋ० १०।११०।१० आदि)। अतः काटने से वृक्षों को पीड़ा पहुचती है। ब्रह्मचारी अहिंसाप्रमुख यम-नियम आदि का व्रत लेता है। अतः वह वृक्षों का भी कष्ट नहीं पहुचा सकता है। ऐसी परिस्थिति में सूख कर निर्जीव हो गई शाखा आदि को लाना ही यहां अभीष्ट है। **अरण्यात्**—समिधाए जगल से बीन कर लानी हैं, बस्ती में से माग कर नहीं। बस्ती में से मागने में गृहस्थों पर अनावश्यक भार, ब्रह्मचारी में अत्यधिक परनिर्भरता की भावना, जगल में जाने से वहां का व्यायाम और शुद्ध वायु से वञ्चित रहना आदि दोष हैं। अरण्य[1] √ऋ से व्युत्पन्न होने के कारण ज्ञान का द्योतक है। अतः अरण्य से समिदाहरण में व्यञ्जना से यह अर्थ भी उपलब्ध होता है। **समिधम्**—समिध् से द्वितीया एक व०। **समिधः**—पा० मे०। यह बहुवचन का रूप है। **तस्मिन्**—उसी पूर्व की अग्नि में जिस के समक्ष यज्ञोपवीत धारण की क्रियाए की गई थीं। **पूर्ववत्**—पहले के समान परिसमूहन, पर्युक्षण और समिदाधान कर के *प्रज्वलित अग्नि में* यहां के लेखानुसार समिधा दें। अब ब्रह्मचारी बोल सकता है। **आधाय**—आ+√धा+ल्यप्। प० सुखदेव ने यहां उपनयन की दक्षिणा में एक गाय

---

१. देखो वेमाप० ७।२।

का विधान माना है (—गो० गृ० सू० २।१०।५०) जो नितान्त अप्रासंगिक और अवैदिक है। दक्षिणा ब्रह्मचर्यकाल की समाप्ति पर देने की परिपाटी लक्षित होती है। देखो रघु और कौत्स का आख्यान।

उपनयन के समय किए जाने वाले उपदेशों का प्रयोजन

७३ ये विधान स्वास्थ्य, वीर्यरक्षा[1] तथा क्रियाशीलता की दृष्टि से किए गये हैं। दस० ने संस्कारविधि में इस अवसर पर दिये जाने वाले और भी उपदेश संकलित किए हैं।

७४ ये विधान शरीररक्षा, चरित्र में भद्रता और ज्ञान की प्राप्ति की दृष्टि से किए गए हैं। दण्डधारण से अपनी और अन्यों की रक्षा सम्भव होती है। अग्निपरिचरण[2] (=हवन) से शारीरिक और आत्मिक शुद्धि होती है। गुरुसेवा से ज्ञान मिलता है—'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया वा'। वस्तुतः ज्ञानप्राप्ति में तीनों ही आवश्यक हैं। भिक्षा से अपना और गुरु का तथा अन्यों का निर्वाह होता है। ये दैनिक कृत्य हैं।

७५. ये विधान चरित्रनिर्माण के लिए किए गए हैं। दुर्गुणों से बचना मनुष्य का प्रमुख कर्तव्य है। मानव की प्रवृत्ति निम्नगामी है। ये सब कर्म निम्न हैं। बालक की प्रवृत्ति को उच्च बनाने के लिए इन सब से उसे बचाना आवश्यक है यद्यपि गुरुकुल में आचार्य इन का अभाव उत्पन्न कर सकता है। परन्तु बालक मन मे भिक्षाकाल मे और एकान्त समय मे इन कर्मों का चिन्तन और आचरण कर सकता है। अत ये उपदेश दिए गए हैं। स्वामी शिवानन्द की पुस्तक 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' में इन उपदेशों की विस्तृत व्याख्या की गई है। मधु—शराब। मांस—यहा पर पशुओं आदि का

---

१. प० सुखदेव ने 'अक्षारलवण' का अर्थ 'सेंधा नमक' किया है।
२. प० सुखदेव ने इस का भाव यह लिखा है—'जिस अग्नि को स्थापन कर आचार्य उपनयन संस्कार का आरम्भ किए हों उस को सुरक्षित रक्खे और साय प्रात उसी अग्नि में समिध की आहुति प्रदान करे।'

उन के वध द्वारा प्राप्त मास अभिप्रेत है, ब्राह्मणग्रन्थों के उत्तम भोजन या पदार्थ नहीं। वेद मे मासभक्षण को बहुत निकृष्ट दृष्टि से देखा गया है। तु० क० 'कृतान्ताय गोघातम्' (य० ३०।१८) तथा 'यो नो रस दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वाना यो गवा यस्तनूनाम्। रिपुः स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयता तन्वा तना च' ॥ ऋ० ७।१०४।१०। मास रजोगुण और तमोगुण का बढ़ाने वाला होने से वर्ज्य माना गया है। मज्जन—भाष्यकारों ने 'हृददेवतीर्थस्नान' का निषेध माना है। शरीररक्षा की दृष्टि से गहरे, तेज धार वाले, मगर आदि से व्याप्त जल में स्नान का और अतिशय स्नान का निषेध ही अभिप्रेत प्रतीत होता है। उपर्यासन—चारपाई आदि। इस के निषेध का प्रयोजन विलासमय जीवन से बचाना प्रतीत होता है। स्त्रीगमन—इस के द्वारा आठ प्रकार के मैथुनों का निषेध अभिप्रेत है। इस का निषेध वीर्यरक्षा के लिए है। स्त्रियों के फेर में पड़ कर मनुष्य उदात्त लक्ष्यों में विफल हो जाता है। इसी लिए उसे नरक का द्वार कहा गया है। सामान्यतः अधिकाश स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा तमोगुणी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। कन्याओं के लिए पुरुषगमन वर्जित है। उन के लिए उन्हें पथभ्रष्ट और आसक्ति उत्पन्न करने के कारण पुरुष नरक के द्वार हैं। अनृत—झूठ बोलने से पाप में प्रवृत्ति होती है। अदत्तादान—जो वस्तु अपनी नहीं है और दूसरे ने दी नहीं है उस का लेना चोरी कहलाता है। चोरी से अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। वह मनुष्य में विकृत वासना उत्पन्न कर उसे कुमार्गगामी कर देती है। इस से बचाने की भावना से ही योगदर्शन में 'अस्तेय' का यमों में रक्खा है। इस उपदेश में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाच योगशास्त्र के यमों का मास, अनृत, अदत्तादान और स्त्रीगमन का निषेध कर विधान किया है।

ब्रह्मचर्यव्रत की अवधि

७६. अष्टचत्वारिंशद्वर्षाणि—जयरामाचार्य के मत में ४८ वर्ष में चारों वेदों का अध्ययन रूप एक ही व्रत अभिप्रेत है। उस में सारे वेदों के मन्त्रों

से आहुति दे कर हवन किया जाता है। प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष की अवधि के निर्धारण में अपने (अधीत ?) वेद की आहुतिया दी जाती हैं। यावद्ग्रहणम् में एक, दो या सब वेदों का अध्ययन अभिप्रेत है।

(ii) स्वामी दयानन्द सरस्वती ने छान्दोग्योपनिषद् ३।१६ की व्याख्या करते हुए ब्रह्मचारियों के तीन विभाग माने हैं[1]—१. वसु—२४ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर वेद पढ़ने वाले २. रुद्र—४४ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले और ३. आदित्य—४८ वर्ष की आयु तक इसी प्रकार पढ़ने वाले। पारस्कर के विधान में बालक जल्दी से जल्दी ८ वर्ष का वेद पढ़ना प्रारम्भ करता है। इस प्रकार वेदाध्ययन के लिए इस विभाजन में अधिक से अधिक ४० वर्ष माने गये हैं। इस अवस्था में प्रत्येक वेद के लिये १० वर्ष का समय बनता है। सूम० ७७ में विकल्प में प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का समय बता कर उपरोक्त अवधि को बढ़ाया है, अन्यथा यह सूत्र अनावश्यक था। सूम० ७८ में इस अवधि को और भी बढ़ाया है। प्रथम विधान परम मेधावियों के लिए है, शेष दो विधान अल्पतर और अल्पतम मेधा वालों के लिए हैं। ये अवधियां ब्राह्मण के गुण धारण करने के इच्छुक में तो लागू होती हैं, परन्तु शेष दो—क्षत्रियगुणकामी और वैश्यगुणाभिलाषी में नहीं, क्यों कि उन का उपनयन आठ वर्ष की आयु में नहीं होता है प्रत्युत ११ और १२ वर्ष की अवस्था में होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वेदाध्ययन सब वर्णों के लिए अनिवार्य होने से आठ वर्ष की आयु में सब के लिए ही प्रारम्भ हो जाता हो और जो क्षत्रिय और वैश्य गुणों के भी अभिलाषी होते थे उन की इन गुणों से सम्बन्धित शिक्षा पारस्कराचार्य की निर्धारित आयुओं पर प्रारम्भ होती रही हो। कालान्तर में इस प्रणाली में विकार आया और क्षत्रिय और वैश्य के गुणों के अभिलाषियों का वेदाध्यन

---

१. इन ऋषि ने अपने वेदभाष्यों में भी अनेक बार वसु, रुद्र और आदित्य के ये ही अर्थ ग्रहण किए हैं। देखो ऋ० १।४५।१, ६४, ३; ११४, १ आदि।

बड़ी आयु में प्रारम्भ होने लगा। इन दोनों वर्णों के गुरोच्छुओं के लिए वेदाध्ययन की अवधि अल्पकालीन होने और व्यवसायिक शिक्षा के समक्ष लौकिक दृष्टि से गौण स्थान प्राप्त करने के कारण शनै शनै वेदाध्ययन इन दोनों वर्णों में से उठ गया। ब्राह्मणेतर वर्णों के शूद्रपदवाच्य पद के प्रकाण्ड ज्ञाता ब्राह्मणों के लिए एक समस्या बन जाने स्वाभाविक थे। इन दोनों में अनेकों अवसरों पर सघर्ष हुए होंगे। इस स्थिति को समाप्त करने के लिए शिक्षा के लिए उत्तरदायी ब्राह्मणों ने अन्य वर्णों के वेदाध्ययन को क्रमश घटा कर कालान्तर में उसे निःशेष कर दिया होगा। उत्तरवैदिक काल में वर्णव्यवस्था का आधार जन्मगत हो जाने से वेदाध्ययन के आयोजित इस ह्रास की प्रगति बढ जानी स्वाभाविक थी। पहले सब को ब्राह्मण मान कर उपनयन किए जाने की उपरोक्त कल्पना श० ११।५।४ से पुष्ट होती है। इस ब्राह्मण में केवल ब्राह्मण के उपनयन का विधान है, अन्य वर्णों का नहीं। शतपथ २।५।२।६ और ३।६।२।३ से ज्ञात होता है कि उस काल में मानव जाति का एक वर्गीकरण क्षत्रिय और विश् ही थे। अत. उस काल में ब्राह्मण आदि पद जातिवाचक न हो कर गुणवाचक थे। (ऋवे० १०।८।३७ में ब्राह्मणपद का प्रयोग भी देखें।) ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मण पद समस्त मानव जाति का द्योतक रहा होगा और उस के लिए विहित नियम सब पर समान रूप में लागू होते रहे होंगे।

(iii) वेदब्रह्मचर्यम्—वेदाय ब्रह्मचर्यम्। वेद पढ़ने के लिए ब्रह्मचर्य व्रत।

वस्त्रों और मेखला के भेद का कारण

७९. शाप०[1]—यजुर्वेद में बहुत से पशुओं को विभिन्न देवताओं से

---

१ प० सुखदेव ने आश्वलायन गृह्य सूत्र १।१९।९—"यदि वासांसि वसीरन्—काषाय ब्राह्मणो माञ्जिष्ठ क्षत्रियो हारिद्रं वैश्य" के आधार पर ब्राह्मण के लिए गेरुए, क्षत्रिय के लिए मजीठे और वैश्य के लिए पीले वस्त्रों का विधान माना है।

सम्बद्ध कर के उन के गुणों का वर्णन किया गया है यह भिन्न बात है कि हम उस वर्णन को ठीक-ठीक न समझ पायें। परन्तु शाण और क्षौम आदि के गुणों का कोई वर्णन उपलब्ध प्रतीत नहीं होता। फिर भी उन के गुणों के ज्ञान के आधार पर ही ये सूत्र बने होंगे। इन के परिधान में इन वस्तुओं के गुणों का ध्यान इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहा होगा जितना विद्यार्थी के अध्ययन के विषय का द्योतन। आजकल भी कला, विज्ञान और वाणिज्य आदि के स्नातकों, प्रत्यक्स्नातकों तथा गवेषकों की उपाधियों के लिये विभिन्न वस्त्रों का परिधान निर्धारित है। उत्तरीय और मेखला के भेदों के विधान के भी ये ही कारण हैं।

८० ऐणेयम्—कृष्णसार मृग का (चर्म)। य० २४।३६ में एणी का सम्बन्ध सपा से बताया गया है। श० ७।४।१।२५ में सत्र के साथ गतिशील होने के कारण लोकों को, तै० २।२।६।१२ में देवों को सर्प कहा गया है। कौ० २७।४ में गौः, वाक् और पृथिवी को सार्पराज्ञी कहा गया है। इन गुणों के आधान को ध्यान में रख कर ही एणी के चर्म का परिधान ब्राह्मण के लिए निर्धारित किया गया होगा। परन्तु यह सुस्पष्ट है कि इन परिधानों की प्राप्ति के लिए बहुत से पशुओं का वध आवश्यक रहा होगा। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्यसूक्त में इस प्रकार का विधान नहीं है। हो सकता है प्रारम्भ में 'ऐणेय' आदि पद गुणों के द्योतक रहे हों, फिर एणी आदि के बालों और तत्पश्चात् उन के चर्म का प्रयोग किया जाने लगा हो। यह स्थिति अज (=अजन्मा, बकरी) के प्रयोग में सुस्पष्ट है।

(ii) य० २४।८ में 'एन्य' को 'मैत्र' कहा है। 'एणेय' को 'एनी' का रूप भी माना जा सकता है यद्यपि 'एणी' पद की उपस्थिति में ऐसा मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। मित्र के अर्थों में सत्र का मित्र, सत्य का उत्पादक, ब्रह्म, क्षत्र क्षत्रपति, घोरसस्पर्श अग्नि, प्राण, वायु, अह, शुक्ल और कृष्ण पक्ष आदि मिलते हैं।

८१ रौरवम्[1]—रुरो इदमिति रौरवम्। य० २४।३६ में रुरु को रौद्र=रुद्र सम्बन्धी कहा गया है। वैदिक कोष में ब्राह्मणग्रन्थों से रुद्र के अर्थ मे रुलाने वाला, अग्नि, पशुओं का पति, स्विष्टकृत्, देवों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ घोर प्राण, मह आदि दिये हैं। रुद्र के रूपों में भव, ईशान, उग्र, अशनि आदि भी हैं। त्र्यम्बक=नारिकेल[2] से उस का पाचक गुण लक्षित होता है। क्षत्रिय में इसी प्रकार के गुण अभीष्ट हैं।

८२ आजम्—अजस्य अजाया वा इदमिति आजम्। य० २४।३२ में 'अज' (बकरा) का सम्बन्ध 'पूषा' से बताया गया है। ब्राह्मणों में पूषा के अर्थ शूद्रवर्ण, पाचक पृथिवी, वायु पुष्टि, सूर्य अग्नि, अन्न, पशु, रेवती नक्षत्र, विशां विट्पति, प्रजनन, भागा का अधिपति, एश्वर्य का आदाता, ऐश्वर्य का अधिपति, वृषा, देवाना भागदुघ, अदन्तक आदि दिये गये हैं। गव्यम्—गो इद गव्यम्। गाय का। गो+यत्। यजुर्वेद के पशुप्रकरण में अकेले गो' पद का प्रयोग नहीं मिला है। इस के पर्यायवाची 'धेनु' का सम्बन्ध य० २४।१३ में अतिच्छन्दस् से बताया गया है। अतिच्छन्दस् के

१ रुरु का लाल रग का बताया गया है (प० सुरदेव का अनुवाद) सशफ़ौको० ने इसे काला हिरन बताया है। यह विश्वेदेवों के एक गण का नाम भी है। ब्राह्मणग्रन्थों में विश्वेदेवा' के अर्थ 'समस्त देवता, सूर्य की किरणें, प्राण, ऋतुएं, इन्द्राग्नी, श्रोत्र दिशाएं उपद्रव, प्रजापति के पुत्र वैश्य, विश् पशु, अश्व, गौ, अन्न सब कुछ' आदि दिये गये हैं। इस से क्षत्रिय में तेज, प्राणसारता सब पर शासन सब प्रकार के गुण, एश्वर्य, गतिशीलता, जागरूकता व्याप्ति, उग्रता, प्रजापालन आदि गुणों के धारण की भावना प्रकाशित की गई है। वह अपने आप को वैश्य ही समझे। उस से भिन्न नहीं, क्यों कि विश्—समस्त प्रजा—वैश्य है। इस मूलभूत एकता की उपेक्षा से ही आर्य जाति में ऊंच नीच की भावना उत्पन्न हो कर अनर्थ हुआ है। २ देखो कोकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वद) इन दी ओरिजन ऑफ शिवकल्ट, आइओका० १६४८ (स०)।

अर्थ 'उदर, ऋक्, छन्दों का रस, लोक और वर्म्म आदि दिए गए हैं। 'गो' शब्द से मिलते हुए 'गोमृग' का सम्बन्ध य० २४।१ और २४।३० में प्रजापति और वायु से तथा गवय का य० २४।२८ में बृहस्पति से सम्बन्ध बताया गया है। प्रजापति के अर्थ 'प्रजापालक, अग्नि, इन्द्र, हृदय, मन, वाक्, वाक्पति, सवत्सर, यज्ञ, अश्वमेध, विश्वजित्, सविता, प्राण, अन्न, वायु, प्रणेता, भूत, बन्धु, ब्रह्मा, चन्द्रमा, सोम, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, व्योम, सुपर्ण गरुत्मान् मूधा, सदस्य उद्गाता, उद्गीथ, अथर्वा, सत्य, गार्हपत्य, आत्मा, पुरुष, यजमान, पितर, प्रजनन, सब का धारक, विप्र, क्षत्र, चित्पति, ये लोक, यह सब कुछ, अतुलनीय, देवों मे अन्नाद और वीर्यवान्, अमृत, पूर्ण' आदि, वायु के अर्थ पवन, सब का विवेचक, कामनायुक्त, अनुवत्सर, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पवित्र, इन्द्र, मित्र, यम, यन्ता जातवेदस्, सब कुछ का करने वाला, तेज, पूषा, तार्क्ष्य तीनो लोकों में वर्तमान, सविता, सोम, विश्वकर्मा, चन्द्रमा, प्राण, उग्र पुरोहित, मह, यज्ञ वाक्, देवों की आत्मा, शान्ति और बृहस्पति के अर्थ वाणी का पति, वाणियों का उत्पादक, वायु, प्राण, अपान, चक्षु, द्युम्न (=धन), ब्रह्म, देवों का ब्रह्मा, देवों का उद्गाता, देवों का पुरोहित आदि मिलते हैं। अतः यहा पर पोषक, समृद्धिजनक, शान्ति, यात्रा आदि के गुण अभीष्ट हैं।

सब वर्णों की एकता

(ii) उपरोक्त देवताओ के वाचक अर्थो से एक बात अनायास ही स्पष्ट हो जाती है कि सब वर्णों में अधिकाश गुण समान ही अभिप्रेत हैं। उन में मूलभूत एकता है। उन में भेद किसी एक वा अधिक गुणों की ओर प्रवृत्ति के कारण ही किया जाता है। ऐसी परिस्थिति मे ब्राह्मण आदि पद केवल गुणवाचक ठैरते हैं, जातिविशेषों के द्योतक नहीं। मानवों मे जो वर्गकिरण उन के कर्म या व्यवसाय के आधार पर होता था वह ही मूलतः उन का वर्ण रहा हो सकता है।

८३. असति—√अस्+शतृ+सप्तमी एक वचन, नपुसक०। अपने-अपने वर्ण के लिए नियत चर्मों के अभाव में। प्रधानत्वात्—यहा

पर हेतु में पञ्चमी है। 'गव्य' व सब ग्रन्थिनों में प्रमुख होने के कारण। इस की प्रमुखता इस के विषय में दिए गए ऊपर के वर्णन से सुस्पष्ट है। इस से सम्बन्धित देवताओं के अर्थों से प्रकाशित गुण सब वर्णों में घट जाते हैं। अतः ऐणेय, रौरव और याज चर्मों के न होने पर 'गव्य' चर्म का प्रयोग किया जा सकता है। यहां पर पारस्कर आचार्य को 'गो' का अर्थ पशुमात्र भी अभिप्रेत हो सकता है गाय मात्र नहीं। भाष्यकारों ने यह अर्थ भी दिया है कि देवों ने पुरुष के चर्म का गाय पर रख कर उसे पुरुषप्रधान बना दिया है। तु० क०—पुरुषप्रधानत्वात् गव्यस्य चर्मणः। पुरुषप्रधान हि गव्य चर्म श्रुतौ पठ्यते। तेऽपच्छाय पुरुष गव्येता त्वचमदधुरिति। —कर्कभाष्य।

८४—८८ सच० में मेखलाधारण के लाभों में आन्तों के उतरने से रक्षा और शरीर में चुस्ती लाना दिए हैं। पारस्कराचार्य ने ब्राह्मण की मेखला मूंज की, क्षत्रिय की धनुर्ज्या की और वैश्य की मूर्वा की बताई है। सशकौका० न क्षत्रिय की मेखला मूर्वा की मानी है। वहां धनुर्ज्या का मूर्वानिर्मित माना गया है। महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मण की मेखला मुञ्ज वा दर्भ की, क्षत्रिय की धनुष्सदृश तृण वा वल्कल की और वैश्य की ऊन वा सन की मानी है। (सवि० पृ० ६१ पाटि०)। सच० म इन घासों के गुण आयुर्वेद के आधार पर दिए हैं। मुञ्ज को मधुर, कषाय, शीतल, त्रिदोषनाशक और वृष्य, दर्भ का त्रिदोषनाशक, मधुर, कषैला और शीतल बताया है। सन का खट्टा, कषैला, मलगर्भ, रुधिर को गिराने वाला, वमन लाने वाला, वात और कफ का शामक तथा तीव्र अंगों के टूटने को दूर करने वाला कहा गया है। मूर्वा के गुण भी इसी प्रकार से आयुर्वेद के ग्रन्थों से जाने जा सकते हैं। ओषधियों को खाने लगाने और पहनने से रोगों को दूर करने में जो सहायता मिलती है वह सुप्रसिद्ध। इसी दृष्टि से ये मेखलायें धारण की जाती थीं। उपरोक्त घासों के गुणों और ब्राह्मण आदि के कर्मों का सम्बन्ध ज्ञातव्य है।

(ii) मौञ्जी—मुञ्जस्य इयं मौञ्जी। मौर्वी—मूर्वाया इयमिति मौर्वी। प० सुखदेव–कास की। भाष्यकारों ने इसे 'मुञ्ज' से व्युत्पन्न किया है। धनुर्ज्या—भाष्यकारों ने इसे तान्त की (=स्नायुमयी) या बाँस की (वंशमयी) माना है। दम० ने इसे धनुष् नामक घास बताया है।

८७ कुशेति—कुश अश्मन्तक[1] और बल्व[2] की घासों के नाम हैं। बहुधा कुश और दर्भ को एक ही माना जाता है। ये तीनों क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के गुणों के अभिलाषियों के लिये हैं (हरिहराचार्य)।

दण्डधारण का प्रयोजन और उस के भेद का विवेचन

८८—९०—सत्य० में दण्डधारण के लाभ शरीररक्षा, मेरुदण्ड को सीधा रखना दिए हैं। पलाश आदि के दण्डों का विधान उन के गुणों की दृष्टि से किया गया है। सत्य० ने इन के गुण अभिनवनिघण्टु के आधार पर इस प्रकार दिये हैं—पलाश दीपन, बलकर्त्ता, दस्तावर, गरम कषैला चरपरा कड़वा, स्निग्ध व्रण गले और गुदा के रोगों का नाशक टूटी हड्डी को जोड़ने वाला, वातादि दोषों, संग्रहणी, रक्तातिसार और कृमियों का नाशक है। **बिल्व** (या बेल) कषाय, कड़वी ग्राही, रूक्ष, अग्निवर्धक, पित्तकारक, वात और कफ नाशक, बलकारक, लघु उष्ण और पाचक होता है। **उदुम्बर** या गूलर शीतल, रूक्ष, भारी, मधुर, कषैला, वर्णकारक, कफ, पित्त और रुधिर के विकारों को दूर करने वाला, व्रत का शोधक और रोपक होता है। इस प्रकार इन वृक्षों के दण्डों का धारण कतिपय रोगों का प्रतिरोधक है। सत्य० का कहना है कि इस दण्डधारण से वनस्पतियों के प्रयोग का ज्ञानसंग्रह भी होता है, परन्तु यह लाभ प्रत्यक्ष नहीं है। विभिन्न वर्णों के लिए विभिन्न वृक्षों के दण्डों का विधान उन के गुणों से समता की दृष्टि से किया जाना स्वाभाविक था। उपरोक्त आयुर्वेदिक गुणवर्णनों से यह साम्य सुव्यक्त नहीं

१.–२ प० सुखदेव ने श्मन्तक पाठ रख कर बेरहुट अर्थ और बल्व का अर्थ कास किया है।

होता। ऐसा प्रतीत होता है कि मौञ्जी, धनुर्ज्या और मौर्वी तथा पलाश, बैल्व और औदुम्बर पदों का ऐतरेय आदि के समान अग्नि, रुद्र और पूषा आदि देवताओं से सम्बन्ध है। उसी के आधार पर ये विधान किए गये हो सकते हैं। ये प्रस्तावित सम्बन्ध मृग्य हैं।

६१. *पलाश आदि के गुणों में साम्य होने के कारण कोई भी वर्ण किसी भी वृक्ष का दण्ड धारण कर सकता है।*

(ii) अजिन, मेखला और दण्ड के ये वैकल्पिक सूत्र गृह्यसूत्रों से पहले के काल में समस्त वर्णों की एकता और सब के लिए एक जैसे विधान की सत्ता के द्योतक हैं। इन सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि ऐतरेय आदि का प्रयोग वर्णभाव की दृष्टि से नहीं किया गया है।

वर्णों के लिए दण्डों के विभिन्न माप का कारण

९२. दण्डों के माप का यह विधान पारस्कर आचार्य को अभिमत नहीं है। यह इस में पीछे से मिलाया गया है। सब० ने इस मापभेद को वर्णभेद का द्योतक माना है। वस्तुतः केश-पद उ० ५।३३ में √क्लिश् से व्युत्पन्न हुआ है। अतः इस के द्वारा कष्टों के सहन करने—तप करने का लक्ष्य सामने रक्खा है[1]। ललाट तक दण्ड के विधान से शारीरिक बल को बुद्धि के अधीन रखने का सन्देश दिया गया है। घ्राण—नासिका प्राण और अपान की प्रतीक है। इस माप में ब्रह्मचारी को राष्ट्र के प्राण बनने का निर्देश किया गया है। वैश्य ही विश्—प्रजा—राष्ट्र के प्राण हैं। वे ही विश्वे देवा, और मरुत् हैं, सब के मित्र भी। प्राण भी विश्वेदेवा हैं।

(ii) इस मापविधान में एक और भाव भी हो सकता है। योगचूडामण्युपनिषद् ३५ में लिखा है कि कुण्डलिनी का जागृत करने से मनुष्य वेदज्ञाता होता है—

---

१. *ध्यान रहे कि जहां ब्राह्मण को तपस्वी माना गया है, वहां* य० ३०।५ में शूद्र ही का सम्बन्ध तप से बताया है, ब्राह्मण को नहीं।

"कुण्डलिन्या समुद्भता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्ता वेत्ति स वेदवित् ॥"

अत इस मापविधान मे कुण्डलिनी को जाग्रत कर शरीर मे कण्ठप्रदेश में स्थित विशुद्धचक्र, भ्रू वों के बीच में स्थित आज्ञाचक्र और शिर मे स्थित उड्यानचक्र[1] । (=सहस्रदलकमल) के भेदन की ओर लक्ष्य किया हो सकता है। हरिहराचार्य ने दण्डों के मान को केशों के मूल, भ्रूमध्य और ओष्ठों तक बता कर इसी सुझाव की ओर सकेत किया हो सकता है।

९३ आहूतः—आ+√ह्वे+क्त। बुलाया हुआ। उत्थाय—उद्+√स्था+ल्यप्।

९४ शयानम्—√शी+शानच्+पु० द्वितीया एक व०। आसीनम्—√आस्+शानच्+पु० द्वितीया एक व०।

स्नातक की कीर्ति

९५ अमुत्र—परलोक मे विष्णु लोक में जहां भूरिशृङ्ग, और अय गौएं=विद्याए रहती हैं—यत्र गावो भूरिशृगा अयास (ऋ० १।१५४।६)। स्वर्गस्थान, मोक्षस्थान। भाव यह है कि ऐसा ब्रह्मचारी इस लोक में रहता हुआ भी स्वर्ग क सुखों का उपभोग करता है। कुछ, विद्वान् इस मे मरने पर मुक्ति का कल्पना करते हैं। परन्तु, मुक्ति इतनी सरल नहीं है। यहा पर 'अमुत्र वसति' की पुनरावृत्ति विषय की महिमा पर बल देने के लिये की गई है। स्नातक—विद्या या व्रत समाप्त कर के गृहस्थाश्रम मे आने वाला विद्यार्थी।

स्नातकों के भेद

९६ त्रयः—इन तीनों का व्याख्यान अगले सूत्रों मे दिया है। इन में विद्याव्रत स्नातक श्रेष्ठ है, शेष दो समान माने गए हैं—तु० क० तेषामुत्तम श्रेष्ठस्तुल्यौ पूर्वौ (गोभिलगृह्यसूत्र ३।५।२३—सुखदेव सस्करण)।

---

१ योगशिखोपनिषत् ४।१०-१२।

९७ वेदम्—एक या अधिक वद का अध्ययन। असमाप्य व्रतम् —ब्रह्मचर्यव्रतपालन करने की अवधि को पूरा किए बिना ही। भाव यह है कि यद्यपि ब्रह्मचर्यव्रत तो अभी पूरा नहीं हुआ है अर्थात् अभी २४, ४४ या ४८ वर्ष की आयु नहीं हुई है, परन्तु वद का जितना अध्ययन अभीष्ट था वह पूरा कर लिया। अत ब्रह्मचारी आरक दिन गुरुकुल म न रह कर व्रत *की अवधि को अपूर्ण छोड़ कर संसार में जीवन बिताने चला आता है।*

९८ यहा पर व्रत की अवधि तो पूरी बीत जाती है, परन्तु वद का अभीष्ट अध्ययन पूरा नहीं होता, फिर भी ब्रह्मचारी ससार म प्रविष्ट हो जाता है।

९९ यहा वदाध्ययन और ब्रह्मचर्य पालन की अवधि दोनों ही पूरी कर क ब्रह्मचारी घर को लौटता है। समावर्तत—सम्+आ+√वृत्+लट् *प्रथम पु० एक व०।* लौटता है गृहस्थ बनन क लिए गुरुकुल छोड़ कर लौटता है।

उपनयन की चरम सीमा

१००—१०३—उपनयन की क्षिप्रतम या निम्नतम सीमा का निर्देश तो किया जा चुका है। तो भी परिस्थितियों क कारण यदि किसी का उपनयन उस काल में न हो सके तो ब्राह्मण का उपनयन १६ वर्ष तक, क्षत्रिय का २२ वर्ष तक और वैश्य का २४ वर्ष की आयु तक कराया जा सकता है। इस क पश्चात् उन्हें उपनयन का अधिकार नहीं रहता और वे गायत्री क उदेश से वञ्चित हो जाते हैं। सावित्री के उपदेश के बिना व वदाध्ययन के अधिकारी नहीं बनते हैं। पतितसावित्रीका — पतिता अधिकार भावात् सुता सावित्री येभ्यस्ते। मनु ने इस अवधि को केशान्त *संस्कार का काल माना है। (२।६५)। म० २।३८ भी देखें।*

१०४ इस म पतित सावित्रिकों को उपनयन, अध्यापन, याजन और व्यवहार से वञ्चित किया गया है। यह व्यवहार कुछ दिन पूर्व हिन्दू समाज में प्रचलित जातिच्युत और धर्मच्युत करने की प्रथा के अनुरूप है।

मनु के काल में ऐसे लोगों को व्रात्य कहा जाता था (देखो मनु०२।३६)। इतना कठोर व्यवहार करने पर भी उन्हें व्रात्यस्तोम नामक यज्ञ कर के पुनः सभ्य (=आर्य) समाज में स्थान पाने का अधिकार दिया गया था। कालान्तर मे इस अधिकार का प्रयोग स्वच्छा से न करने वाले या न करने के लिए अन्यों द्वारा विवश किए हुए लोग ही पतित—आधुनिक शूद्र बने होंगे। यदि ऐसा हो तो विचारणीय यह है कि ये व्रात्य से शूद्र कैसे कहलाए जाने लगे।

(11) **उपनयेयु** — उप+√नी+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। **अध्यापयेयु**—अधि+√इ+णिच्+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। **याजयेयु** —√यज्+णिच्+विधिलिङ्। प्रथम पु० बहु व०। **व्यवहरेयुः**—वि+अव+√हृ+विधिलिङ् प्रथम पु० बहु व०। इस का भाव विवाह शादी आदि धार्मिक और सामाजिक कर्म हैं।

१०५ **कालातिक्रमे**—कालस्यातिक्रम। उपरोक्त चरम अवधि के बीत जाने पर। जयराम और हरिहर भाष्यकारों ने इस का अर्थ गर्भाधान आदि समस्त संस्कारों के निश्चित समय का पालन न करना समझा है। परन्तु यहा पर समस्त प्रकरण उपनयन संस्कार का ही है। अतः उतना ही भाव अभीष्ट है, भाष्यकारों का विस्तृत अर्थ नहीं। **नियतवत्**—भाष्यकारों के मत में इस का भाव यह है—नित्य कर्मों के न करने के पाप से छुटकारा पाने के लिए श्रौत सूत्रों में विहित स्मार्त अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करे। इस प्रायश्चित्त के करने पर संस्कारों का पुन अधिकार प्राप्त हो जाता है। श्री हरिहराचार्य लिखते हैं कि यहा काल का अतिक्रमण केवल उपनयन विषयक ही नहीं है, प्रत्युत अन्य कर्मों का अतिक्रमण करने पर भी यही अनादिष्ट सर्वप्रायश्चित्त करना होता है, इस का कारण यह है कि गृह्यसूत्रकार ने अन्य किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया है। इस का अर्थ यह भी किया जा सकता है—नियत = नियमों के पालक—संयमी के समान आचरण करे। जैसा संयमी विद्वान् आचरण करे या उपदेश करे वैसा ही आचरण आदि करें। हिन्दी अनुवाद भाष्यकारों के आधार पर किया गया है।

१०६. त्रिपुरुषम्—त्रीन् पुरुषान् यावत् इति त्रिपुरुषम् । तीन पीढ़ियां—पिता, पुत्र, और पौत्र—जिन की सावित्री के उपदेश को प्राप्त नहीं कर सकी हैं। अपत्ये—जिन की तीन पीढ़ियों में उपनयन संस्कार नहीं हुआ है उन की सन्तान। चौथी पीढ़ी और उस के आगे। **संस्कारो नाध्यापनं च**—इस में 'न' का सम्बन्ध मध्य में स्थित दीपक के समान संस्कारः और अध्यापनम्—दोनों से है। हरिहर आचार्य के विचार में 'न' का सम्बन्ध केवल अध्यापनम् से है। अतः वे मानते हैं कि उपनयन तो किया जा सकता है। परन्तु अध्यापन नहीं—'त्रिपुरुषं त्रीन् पुरुषान् यावत् ये पतितसावित्रीकाः पितृपौत्रास्तेषामपत्ये पुनः संस्कारः उपनयनं भवति न पुनश्चतुर्थादीनां तेषां च उपनीतानामपि अध्यापनं न भवति।' परन्तु यह मत समीचीन नहीं। उपनयन होते ही उपनेता से उपनीत को अध्ययन का अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाता है। पं० सुखदेव समझते हैं कि 'नियत प्रायश्चित्त करने पर भी जिन लोगों का तीन पीढ़ी तक उपनयन न हुआ हो, उन की चौथी पीढ़ी के पुरुष का उपनयन नहीं हो सकता न वह वेद पढ़ने का अधिकारी है।'

१०७. तेषाम्—इन सावित्री के उपदेश से और उपनयन के अधिकार से वञ्चित पूर्व सूत्र में वर्णित पुरुषों में से। ईप्सुः—√आप्+सन्+उ+पुंल्लिङ्ग प्रथमा एक व०। व्रात्यस्तोम—एक यज्ञ होता है जिस में पतितों को शुद्ध किया जाता है और उन्हें फिर से यज्ञ आदि कर्मों का अधिकार दिया जाता है। स्वामी दयानन्द ने इसी के आधार पर पिछली शताब्दी में विधर्मियों को शुद्ध करने और दलितों के उद्धार का आन्दोलन चलाया था।

(ii) यहां यह जानना भी परम आवश्यक है कि पारस्कराचार्य ने पतितसावित्रीकों को व्रात्य नहीं कहा है। यह नामकरण मनु आदि पिछले लेखकों का है। अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में व्रात्य नीचता का द्योतक नहीं। वहां वह सृष्टि के आदिकारण परमात्मा और विद्वान् सदाचारी पूजनीय अतिथि आदि का द्योतक है। (देखो अवे० १५।१०; १३; १४–१८। व्रात्य-

काण्ड के डा० सम्पूर्णानन्द और प० क्षेमकरण और जयदेव आदि के भाष्य देखें)। अवे० १५।१२ क अनुसार व्रात्य की आज्ञा के विना यज्ञ से अभीष्ट लाभ नहीं होता। अध्ययन और अध्यापन भी यज्ञ हैं। अत व्रात्य को सन्तुष्ट कर के ही पतितसावित्रीक इन यज्ञों से लाभ उठा सकते हैं। यही भाव व्रात्यस्तोम यज्ञ के किए जाने का प्रतीत होता है।

(iii) कामम्—इच्छानुसार, अथवा निर्विवाद रूप से। अधीयीरन्—अधि+√इ+विधिलिङ् प्रथम पुरुष बहु वचन। व्यवहार्याः—वि+अव+√हृ+ण्यत्+पुल्लिंग प्रथमा बहु वचन। इस प्रमाण का स्थल मृग्य है।

(iv) यहा पर प० सुखदेव ने वेदारम्भ सस्कार का विधान माना है।

१०८ यहा से अन्त तक का भाग पारस्कर गृह्यसूत्र का अश नहीं है। गुजराती प्रेस के सस्करण में इसे कोई स्थान नहीं दिया गया है। पञ्च भाष्य कारों में से गदाधर और विश्वनाथ ने अपने भाष्यों में पूर्व प्रकरण के भाष्य के अन्त में सूत्र० १०८–१२४ मे वर्णित क्रियाओं का मन्त्रों के विनियोग को दर्शाते हुए विधान किया है।

(ii) इस भाग मे छै वेदव्रतों का विधान किया गया है। इन में सावित्र व्रत छै रात्रियों या तीन रात्रियों में या तुरन्त हा उपनयन के समय पूरा किया जा सकता है। इस में सवितृदेवता के मन्त्रों का पाठ और अध्ययन अभीष्ट है।

(iii) शेष पाच वदव्रत एक वर्ष की अवधि वाले हैं। आग्नेय मे 'समधाग्निम्' (य० ३।१) आदि अग्निविषयक मन्त्रों के, शुक्रिय व्रत मे 'ऋच वाच प्र पद्ये (य० ३६।१) आदि के शुक्रिय विभाग के औपनिषद व्रत मे द्वयग्द प्राजापत्य (?) आदि उपनिषद् भाग के, शैलभ व्रत में 'आ ब्रह्मन् (य० २२।२२), 'उदीरतामवर (य० १६।४६), 'आ नो भद्रा (य० २५।१४), 'आशु शिशानो (य० १७।३३) और 'इमा नु क' (य० २५।

४६)—इन शौलभिनी ऋचाओं के अध्ययन, पाठ और श्रवण अभिप्रेत हैं। गोदान व्रत की अवधि की समाप्ति पर गुरु को गायों का जोड़ा देने का विधान है। इन में से शुक्रिय, औपनिषद और शौलभ में अवगुण्ठन भी होता है जिस की विधि सूत्र० ११६ में बताई गई है।

(IV) इन सब व्रतों में अग्नि का परिसमूहन, समिधादान आदि सब कर्म किए जाते हैं। और व्रत की समाप्ति पर उस का विसर्जन भी किया जाता है। इस की विधि का विस्तार गदाधर और विश्वनाथ आचार्यो ने अपने भाष्यों में किया है। यह सब अनावश्यक होने से यहा उद्धृत नहीं किया जाता है।

११० उदीक्ष्य—उत्+√ईक्ष्+ल्यप्। देख कर, अर्थात् पूरा कर के। अपः—भाष्यकारों के कियावर्णन के अनुसार और 'अप्स्वन्तर' मन्त्र के विनियोग के कारण यहा सप्तमी के स्थान पर द्वितीया का प्रयोग हुआ है। अप्स्वन्तः—इस प्रकरण में प्रयुक्त मन्त्रों का विनियोग के अनुकूल अथवा अन्य कोई अर्थ नहीं दिया जा रहा है, क्यों कि यह सारा प्रकरण ही मूल लेखक को अनभिप्रेत है। वैसे भी यहा की कियाए उपनयनोत्तरकालीन और वेदाध्ययन विषयक हैं। इन समस्त मन्त्रों का अर्थ ग्रन्थ को विशालकाय बना देगा। इन के अर्थ दयानन्द भाष्य में देखे जा सकते हैं।

११२. उपव्रतम्—भाष्यकारों ने व्रतों की समाप्ति पर व्रत के विसर्ग का विधान किया है। यही विसर्ग यहा 'उपव्रत' मालूम पड़ता है।

११३. अवगुण्ठनम्—यहा पर शुक्रों, औपनिषदों और शौलभिनियों से श्रावण (=सुनना) ही अवगुण्ठन माना गया है।

११५ अविद्यमाने—यदि सूत्र० ११३-११४ में वर्णित अवगुण्ठन का प्रयोग न किया जाए तो 'आ ब्रह्मन्' आदि सूत्र में प्रदत्त मन्त्रों रूपी वेदशिरस् (=वेदज्ञान के सार)[1] से अवगुण्ठन किया जाये।

---

१. तु० क० प्राणोऽग्निः शीर्षम्। कौ० ८।१ तथा श्रीर्वै शिरः। श० १।४।५।५।

११६. सूम० ११३ म मन्त्रों को ही अवगुण्ठन बताया था। यहा पर उन के साथ प्रतीक रूप में वस्त्र के परिधान का भी वर्णन पाया जा रहा है।

११८ इस की विधि का सूस० १२२ की विधि से साक्षात् विरोध है *जिस का समाधान विचारणीय है। व्युष्टायाम्—उषा काल हो जाने* पर। **अरण्ये**—इसे अरण्य = ज्ञान से व्युत्पन्न मान कर अध्यात्म में मन्त्रों रूपी सूस० ११३ में वर्णित अवगुण्ठन का विसर्जन मानने पर सूम० १२२ से विरोध का कुछ समाधान दिखाई पड़ता है। वहा पर वस्त्र की *अवगुण्ठनी* का विधान है, जो गुरु को दी जाती है।

११९. इन मन्त्रों का अर्थज्ञान पूर्वक जप प्रात काल मे अभीष्ट है।

१२१ **शान्तिभाजनम्**—अवगुण्ठनी के समान यह भी दो प्रकार का है—'द्यौ शान्तिः' इस मन्त्र के रूप में और दूसरा धात्वादि से निर्मित पात्र जो गुरु का आश्रम में सब के प्रयोग के लिए भेंट कर दिया जाता था।

१२३. **गोदानम्**—यह उपनयन सस्कार की दक्षिणा में दी जाती होगी। इस मे ब्रह्मचारी द्वारा अपने ज्ञान क अन्यो को प्रवचन आदि द्वारा प्रदान करने की प्रतिज्ञा का अवशेष प्रतीत होता है क्यों कि गो = वाक् ज्ञान और यज्ञ का प्रतीक है। तु० क० तैउ० स्वाध्यायप्रवचनाभ्या मा प्रमद। तथा ऋ० १०।६०।१६, ११७।६, अवे० ५।१६ आदि।

श्रीयुत ला० रामस्वरूप जी गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र, आचार्य डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य और आचार्य डा० फतहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० सुधीरकुमार गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री, प्रभाकर, स्वर्णपदकी द्वारा प्रणीत पार स्करीय उपनयनसूत्रों की सुकाशिनी टिप्पणिया समाप्त हुई।

—०—

वेदालवरणम्

पारस्करीयोपनयनसूत्राणि

अकारादिवर्णानुक्रमेण पदानां विषयाणां चानुक्रमणिका

(इस अनुक्रमणिका में पदों आदि के आगे सूत्रों को संख्या दी गई है। उस के आगे कोष्ठकों में टिप्पणियों में बनाये गए सदर्भों के अक हैं। जहां पृ० लिखा है वहा उस के आगे की संख्या टिप्पणियों के पृष्ठ की है।)

॥ ॐ ॥

वेदलावण्ये ऋक्सूक्तानि

(य० ३१ च)

ॐ

वेदलावण्यम्

भूमिका

ऋग्वेद का परिचय

वेदशब्द

१—वेद शब्द √विद् से बनता है। यह धातु ज्ञान, सत्ता, लाभ और विचारण अर्थों में प्रयुक्त होती है। इस से करण और अधिकरण में घञ् प्रत्यय लगता है। अतः यह पद ज्ञान, सत्ता, प्राप्ति और विचार अर्थों का द्योतक है। दयानन्द सरस्वती ने अपनी भूमिका में लिखा है—**विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति लभन्ते, विन्दते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा, तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः**[१]। प्राचीन काल में ही 'वेद' पद ज्ञानमात्र तक सीमित न रह कर कुछ ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त होने लगा जिन से ऊपर वर्णित फलों की प्राप्ति सम्भव मानी गई है। ये ग्रन्थ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। सामवेद में केवल ७५ मन्त्र ही ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं आए हैं। यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी बहुत से मन्त्र ऋग्वेद से लिये गए हैं। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि ऋग्वेद मूल वेद है, शेष अर्वाचीन। इन में कर्मकाण्ड की दृष्टि से ऋग्वेद से मन्त्र ले कर क्रिया के क्रम से रख दिए गए हैं। परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती का विचार है कि विभिन्न वेदों में समान मालूम पड़ने वाले मन्त्रों का रूप एक सा दिखाई पड़ता है, उन के अर्थ भिन्न-भिन्न अभिप्रेत हैं[२]। इस की पुष्टि अनेक बार ऐसे

१-ऋभाभू० पृ० २५।

२-वेमाप०, २०।२४-२५।

मन्त्रों के भिन्न-भिन्न ऋषि और देवता मिलने से भी होती है ३।

शाखासंहिताएँ

२—इन चार वेदों की शाखा संहिताएँ भी उपलब्ध होती हैं। किसी समय इन की सख्या ११२७ रही बताई जाती है ४। आज-कल इन मे से कुछ ही मिलती हैं। उपलब्ध ऋग्वेदसंहिता शाकल शाखा की बताई जाती है। इस के आश्वलायन गृह्यसूत्र आदि कुछ ग्रन्थों में ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के पाठभेद मिले हैं, जिन की परीक्षा से यह अनुमान लगाना कठिन नहीं कि उपलब्ध ऋक्संहिता प्राचीन है और पाठभेद अर्वाचीन। इन अर्वाचीन पाठभेदों में मूल पाठों को सरल करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है ५।

३—यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय मिलते हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ मिलती हैं—माध्यन्दिन संहिता और काण्व संहिता। इन दोनों संहिताओं में पर्याप्त साम्य है। वैषम्य के स्थलों पर लगभग सर्वत्र ही काण्व संहिता माध्यन्दिन संहिता से अर्वाचीन और उस का सरल संस्करण मालूम पड़ती है ६। इसी संहिता में सर्वप्रथम मन्त्रों के विनियोगों का विधान पाया जाता है, माध्यन्दिन में नहीं ७। इन दोनों संहिताओं में केवल मन्त्र ही मन्त्र हैं, काण्वसंहिता के अभी निर्दिष्ट विनियोगवर्णन के अतिरिक्त इन में ब्राह्मणभाग नहीं है। कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में ब्राह्मणभाग

३-वही, १७।१०६; सीएसडी० पृ० १७०-१७२, आर्यसिद्धान्त विमर्श, पृ० १८७।

४-ऋभाभू० पृ० ३४८; वेभाप० २०।७३; वैसा पृ०६६।

५-नेवैशा०, पृ० १३, संदर्भ २।

६-वही, पृ० ५-८, १३ (संदर्भ ३)

७-वेभाप०, ५।५६।

भी पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। ब्राह्मण वेदमन्त्रों का अनेक दृष्टियों से संक्षिप्त व्याख्यान देते हैं। इन में मन्त्रविषयक क्रियाकाण्ड का विस्तृत वर्णन और विवेचन पाया जाता है। अतः इस सम्प्रदाय की तीनों उपलब्ध संहिताओं—तैत्तिरीय, मैत्रायणी और काठक को माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के अर्वाचीन, सरलीकृत और विस्तृत व्याख्यानों से युक्त संस्करण कहा जा सकता है ८।

४—सामवेद की दो शाखाएँ हैं—कौथुम और जैमिनीय। अथर्ववेद की भी दो हैं—शौनक और पैप्पलाद। इन की पारस्परिक तुलना से यह स्पष्ट मालूम होता है कि कौथुम और शौनक शाखाएँ प्राचीनतम हैं, शेष अर्वाचीन और सरलीकृत संस्करण ९।

५—मध्यकालीन परम्परा के विद्वान् शाखासंहिताओं को भी मूल वेद ही मानते हैं। वे भी उन की दृष्टि में अपौरुषेय हैं१०। आधुनिक विद्वान् शाखा-संहिताओं को एक ही अपनी-अपनी मूल वेद संहिता का भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न कुछ पाठभेदों वाले संस्करण मानते हैं ११। परन्तु ये मत ठीक नहीं। जैसा स्वा० दयानन्द सरस्वती ने लिखा है, शाखासंहिताओं को पूर्व संदर्भों में लिखे वर्णन के अनुसार मूल-संहिता का व्याख्यान या सरलीकृत संस्करण मानना उचित होगा १२।

८—वैभाप० ५।१।

९—नवैशा० पृ०८—१३। वैसा० पृ० १०० पर इस मत पर आपत्ति करते हुए राणायनीय शाखा को मूल वेद मान जाने का कथन किया गया है। परन्तु राणायनीय संहिता अभी उपलब्ध ही नहीं हुई है। देखो वैदिक वाङ्मय का इतिहास (भगवद्दत्त), १९३५, पृ० २१२। ३।

१०—वैसा०, पृ० ९९।

११—नवैशा०, पृ० १—२।

१२—वैसा० पृ० ९९—१०० पर इस मत पर आपत्ति तो की है, परन्तु कोई विवेचन नहीं किया है।

ब्राह्मणग्रन्थ

६—प्रत्येक वेद और उस की संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण रहे थे। आज-कल न तो सब शाखासंहिताएँ मिलती हैं, न उन के सब ब्राह्मण। अब तक थोड़े-से ही ब्राह्मण उपलब्ध हुए हैं—ऋग्वेद के ऐतरेय, कौषीतकि और शांख्यायन१३, यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण१४और तैत्तिरीय ब्राह्मण, सामवेद१५ के ताण्ड्य, जैमिनीय, जैमनीयोपनिषद्, मन्त्र, आर्षेय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मण तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण मिले हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है ये वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं। इन में अपनी अपनी संहिता से सम्बन्धित विषयों का वर्णन किया गया है। सामान्यतः इन्हें कर्मकाण्ड का ही ग्रन्थ माना जाता है और इन के वेदव्याख्यानों को याज्ञिक। परन्तु यज्ञपद का जिस सीमित अर्थ में इस कथन में प्रयोग किया जाता है ब्राह्मणों की दृष्टि उतनी सीमित नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ-पद के अर्थों पर विहंगम दृष्टि से सुव्यक्त हो जाता है कि वहाँ प्रत्येक लोकोपकारक पदार्थ, कर्म, भाव और स्थिति यज्ञ है। उन के वेदार्थ और कर्मकाण्ड के विवेचन में यह दृष्टि ओतप्रोत है। इस प्रकार उन के वेदार्थ अनेकविध हैं। उन में देवता सीमित अर्थ में याज्ञिक नहीं। वहाँ

१३—कुछ विद्वान् कौषीतकि और शांख्यायन ब्राह्मण को एक ही मानते हैं। डा० गो० आर० चिन्तामणि ने इन्हें पृथक्-पृथक् ग्रन्थ प्रमाणित किया है। देखो आइओको० ६, पृ०१६४॥

१४—इस की दो शाखाएँ माध्यन्दिन और काण्व मिलती हैं।

१५—मन्त्र, आर्षेय, दैवत, सामविधान, संहितोपनिषद् और वंश ब्राह्मण किसी समय ताण्ड्य ब्राह्मण के अंश रहे होंगे। हाल ही में एक छान्दोग्य ब्राह्मण कलकत्ता से छपा है। मन्त्रब्राह्मण को भी छान्दोग्य ब्राह्मण कहा जाता है। दोनों का स्वरूप अध्येतव्य है।

वरुण क्लोम भी है, सविता यकृत् भी और दोनों ब्रह्म और वाक् भी। इन ग्रन्थों में वेदार्थ के लिए महान् सामग्री भरी पड़ी है, जिस की कतिपय भ्रान्त धारणाओं के कारण और ठीक-ठीक अवगत न करने के कारण महान् उपेक्षा की गई है। आजकल कुछ विद्वान् अपने वेदार्थ आदि में इन का पर्याप्त प्रयोग कर रहे हैं१६।

आरण्यक

७—ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तिम भागों को आरण्यक कहते हैं। सायण आदि विद्वानों के मत मे अरण्य मे पढ़े जाने के कारण इन का नाम आरण्यक पड़ा है। इस की अपेक्षा इन्हें अरण=ज्ञानविशेष-मोक्षदायक ज्ञान-ब्रह्मज्ञान आदि का व्याख्यानग्रन्थ होने के कारण आरण्यक कहा जाना अधिक समीचीन जान पड़ता है१७।

८—आरण्यकों मे महाव्रत और होत्र आदि यज्ञों का विवरण, यज्ञों के दार्शनिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक रूप का विवेचन किया गया है१८। इन में मन्त्रों को अनेकार्थक माना गया है१६।

६—आजकल उपलब्ध आरण्यकों की संख्या अल्प ही है। अब तक ऋग्वेद के ऐतरेय और शाँख्यायन या कौषीतकि आरण्यक, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक, मैत्रायणी (या बृहद्) आरण्यक, शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन बृहदारण्यकोपनिषद् (और काण्व बृहदारण्य-कोपनिषद्) और सामवेद का जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण२० या तवलकार आरण्यक उपलब्ध हुए हैं।

१६-देखो डा० फतह सिंह, वैदिकदर्शन, भारतीय समाजशास्त्र मूलाधार, डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, उरुज्योति आदि।

१७-वेभाप० ७।२।

१८-वैसा० पृ० १५०—१५१।

१६-वेभाप० ७।६।

२०-इस में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—तीनों मिले हुए हैं।

उपनिषद्

१०—बहुधा आरण्यकों के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। कारण यजुर्वेद संहिता का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् के नाम से प्रख्यात है। इन ग्रन्थों में ब्रह्मविद्या—ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप का सूक्ष्म और रोचक विवेचन किया गया है।

११—उपलब्ध उपनिषदों की संख्या बहुत विशाल है। इन्हें वैदिक और अवैदिक दो भागों में रक्खा जाता है। वैदिक उपनिषदों में सब प्रमुख और प्रामाणिक उपनिषद्—ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, कौषीतकि, प्रश्न—आ जाते हैं। श्वेताश्वतर और मैत्रायणी उपनिषद् भी उच्च कोटि के हैं। शेष में तान्त्रिक, योग, अथर्ववेदीय और साम्प्रदायिक उपनिषद् हैं। इन की संख्या बहुत है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषदों की महिमा के कारण अवर व्यक्तियों ने अपने विचारों के प्रसार के लिए उपनिषद् बना डाले।

सूत्र

१२—वैदिक साहित्य का अन्तिम अङ्ग सूत्रों में मिलता है। ये बड़ी संक्षिप्त शैली में लिखे गए हैं[२१]। बहुधा टीकाओं और भाष्यों की सहायता के बिना इन्हें समझना सम्भव नहीं होता है।

१३—समस्त सूत्र ग्रन्थ छै वेदाङ्गों के अन्तर्गत आ जाते हैं। ये वेदाङ्ग शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं। वेदार्थ जानने के लिए इन का ज्ञान परम आवश्यक माना गया है। शिक्षा में उच्चारण सम्बन्धी नियम मिलते हैं। व्याकरण में

२१—न० क०— स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ वमाप० १०।१ भी देखें।

भाषा का और निरुक्त में पदों का विश्लेषण, छन्द में वैदिक छन्दों के लक्षण आदि और ज्योतिष में कालगणना और सूर्य आदि ज्योतियों के विषयों का प्रतिपादन मिलता है।

१४—कल्प के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य और धर्म सूत्र आते हैं। श्रौत सूत्रों में चौदह वैदिक यज्ञों—सात हविर्यज्ञ और सात सोमयज्ञ—का वर्णन किया गया है। गृह्य सूत्रों में जन्म से मृत्यु पर्यन्त किए जाने वाले संस्कारों, सात पाक यज्ञों का वर्णन मिलता है। धर्मसूत्रों में वर्णाश्रम धर्म, दायाधिकार, आदि सामाजिक, राजनीतिक और पारमार्थिक कर्मों का वर्णन पाया जाता है।

१५—आजकल उपलब्ध सूत्रों की संख्या पर्याप्त है। इन में आश्वलायन, आपस्तम्ब, पारस्कर, शाखायन, गोभिल, मानव, बौधायन आदि के गृह्यसूत्र, आश्वलायन, शाखायन, बौधायन, आपस्तम्ब आदि के श्रौत सूत्र और वसिष्ठ, मानव और गौतम के धर्मसूत्रों का उल्लेख किया जा सकता है। ये सूत्र विभिन्न वेदों या उन की शाखाओं से सम्बद्ध हैं। सम्भवतः कुछ सूत्रग्रन्थ स्वतन्त्र भी रहे हों। ये ग्रन्थ ही पिछले काल की स्मृतियों का आधार बने।

ऋग्वेद

१६—ऊपर के वर्णन से यह सुव्यक्त है कि ऋग्वेद समस्त वैदिक वाङ्मय में प्राचीनतम और पूज्यतम ग्रन्थ है। वैदिक और प्रत्यग्वैदिक साहित्य में वेदों की बड़ी महिमा बताई गई है। स्वयं वेदों ने अपने को परमेश्वर से उत्पन्न, उस के अङ्ग, कल्याणकारी, पुरातन विद्वान् और आदित्य, कर्म का स्रोत, वीर्य, तप, ब्रह्मवर्चस् वर आयु प्राण आदि के देने वाले कहा है। ऋचाएँ देवों के निवास स्थान परम व्योम अक्षर स्कम्भ में रहती हैं। इन में भद्र लक्ष्मी निहित है। इन्हें यज्ञ से जाना जा सकता है। परमात्मा ऋचाओं में प्रकाशित

होता है, ऋचाएँ परमात्मा से। वे दुःख और पाप आदि से छुड़ाने वाली हैं। ऋचाओं से ही जगत् और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है। ब्राह्मणग्रन्थों में ऋग्वेद को अग्नि से उत्पन्न, भूलोक, अग्नि देवता गायत्र छन्द और पृथिवी स्थान वाला, भर्ग आदि कहा है। वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार ऋचाओं के ज्ञान से रहित व्यक्ति ब्राह्मण, वणिक्, कुशीलव, शूद्रों का स्वामी, स्तेन और चिकित्सक नहीं हो सकता है २२।

१७—आधुनिक काल में भी विद्वानों ने वेदों की महिमा मुक्त कण्ठ से वर्णित की है। भारतीय संस्कृति और विचारधारा के मूल स्वरूप, विकास और विस्तार के लिए, आधुनिक नूतन विज्ञानों धर्म-विज्ञान, संस्कृतिविज्ञान और भाषाविज्ञान, इतिहास और दर्शन आदि के अध्ययन के लिए समस्त वेदों का, विशेषतः ऋग्वेद का महान् महत्व स्वीकार किया गया है। इसी कारण इस वेद के अर्थों को आधुनिक संस्कृताध्यायन में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अतः इस वेद का यहाँ कुछ विस्तृत परिचय दिया जाता है।

ऋग्वेद का काल

१८—जब से आधुनिक युग में वेदों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ है तब से ही ऋग्वेद के काल के निर्णय की विकराल समस्या विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुई है और उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टियों से ऋग्वेद का काल निश्चित करने का प्रयास किया है।

१९—यह प्रश्न प्राचीन काल में भी विद्वानों के सम्मुख उपस्थित हुआ। ऋग्वद के मत में सर्वहुत यज्ञ विराट् से ऋक्, सामन, यजु और छन्दस् (=अथर्ववेद) की उत्पत्ति हुई २३। अर्मी

२२-वधसू० ३।३, वेमाप० १।१३ भी देखें।

२३-ऋ० १०।९०।९। इसो आगे मन्त्रसंख्या २०।

मानव की सृष्टि का सूत्रपात भी नहीं हुआ था कि इन ऋक् आदि की विराट् पुरुष से उत्पत्ति हो गई। भारतीय परम्परा में अन्य आचार्यों और ग्रन्थों ने भी चारों संहिताओं को अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिराः के द्वारा सृष्टि के आदि में ईश्वर से उत्पन्न माना है।

२०—सृष्टि की रचना की गणना ज्योतिष के ग्रन्थों में मन्वन्तरों की कल्पना द्वारा की गई है २४। उन्होंने इस गणनाक्रम को चिर काल तक अध्ययन, परीक्षण और विचार के पश्चात् स्थिर किया था २५। इस गणना का सूत्रपात वैदिक काल में हो चुका था। अथर्ववेद में ब्रह्मा के मन्त्र में यह क्रम पूर्ण विकसित लक्षित होता है—

"शत तेऽयुत हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमाना ॥"२६

इस गणना के अनुसार ऋग्वेद आदि चारों संहिताओं का आविर्भाव काल आज से १९६०८५३०५८ वर्ष पूर्व है २७। प० रघुनन्दन शर्मा ने वैदिकसम्पत्ति में विचार प्रस्तुत किया है कि वेदोत्पत्ति का काल वैवस्वत मनु का युग है।

२४—देखो सूर्यसिद्धान्त, १ । १२—२०, २२—२३, विष्णुपुराण १।३।१८—२२।

२५—वही, १।३।१२—यहाँ पर पुराविदः शब्द से यह निष्कर्ष सुस्पष्ट है।

२६—अथर्वे० ८।२।२१।

२७—देखो ऋभाभू० पृ० २६—२७ (स०)। वहाँ की गणना में १९३३ वि० से आज २०१५ वि० तक के ८२ वर्ष और जोड़ लें। वेभाप० २०।१८ भी देखें।

२१—इस मत का आधार वेदों की अपौरुषेयता है। आधुनिक आलोचनात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन में अपौरुषेयवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। आज विकासवाद का सिद्धान्त मानता है कि मानव और उस के मस्तिष्क का विकास शनै शनै हुआ। जब मानवों को कवित्व शक्ति प्राप्त हो गई तब उन्हों ने वेदमन्त्रों की रचना की। मानव का इस विकसित अवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है।

२२—इस विचारधारा पर अनेकों विद्वानों ने ऋग्वेद का काल निश्चित किया है।

मैक्समूलर का मत

२३—मैक्समूलर ने प्रस्ताव किया कि लगभग ६०० ई० पू० में बुद्ध के निर्वाणोपरान्त बुद्धधर्म के प्रसार के समय वेदसंहिताओं, ब्राह्मण, उपनिषद् और सूत्रों का निर्माण हो चुका था। इन को चार कालों—छन्द काल, मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल और सूत्रकाल में विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक काल के साहित्य की उत्पत्ति और विकास में कम से कम २०० २०० वर्ष लगे होंगे। इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के निर्माण में कम से कम ८०० वर्ष लगे होंगे। इन को बुद्ध के निर्वाणकाल में जोड़ने और सूत्रकाल को ६०० ई० पू० से प्रारम्भ तथा बुद्ध का समकालीन मानने पर वेद का रचना काल ८०० से १२०० ई० पू० ठहरता है। पीछे स्वयं मैक्समूलर ने इस तिथि को १५०० ई० पू० तक पहुँचा दिया।

डा० मैक्डोनल का मत

२४—डा० मैक्डोनल मानते हैं कि अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषा में इतना घनिष्ठ साम्य है कि यदि अवेस्ता की भाषा ५-६ सौ वर्ष पूर्व की मिल जाती तो वह ऋग्वेद की भाषा से स्यात् ही कुछ

भिन्न होती । उधर १४० ई० पू० के बोघाज काई के शिलालेख में कुछ वैदिक देवताओं का नाम मिलता है जो भारत-ईरानी आर्यों के पृथक् होने के काल का है । अत ऋग्वेद की रचना १५०० ई० पू० के पीछे की है ७७ अ ।

७७अ–हाल ही में पायो नयर (२८ १ ५६) में प्रकाशित एक समाचार के अनुसार अणुशक्ति के परीक्षण से भारत में आर्यों के आगमन की तिथि २००० ई० पू० से १६०० ई० पू० ठहरती है । इस परीक्षण और परीक्षित सामग्री की पूरी जानकारी प्राप्त हुए बिना कुछ निष्कर्ष निकालना उचित नहीं । यह समाचार इस प्रकार है—

ATOMIC EXAMINATION DATES ARYAN INVASION OF INDIA

BOMBAY Jan 25-Examination through atomic apparatus of the archaeolog cal finds at Navdatoli on the banks of River Narmada 60 miles south of Indore, has indicated that the Aryans came to India between 2 000 and 1,600 B C

Articles found at the site included charred grains of wheat and rice burnt wooden posts and pieces of painted pottery These were sent to Pennsylvania University for C 14 tests which are said accurately to determine the age of archaeological objects Experts at the University are of the opinion that the objects ranged from 1 600 B C to 1 100 B C.

२४—परन्तु भाषाओं और भावों के विकास की गति इतनी नियमित नहीं है जितना इन वादों में माना गई है। भाषाएँ सहस्रों वर्षों तक अपने साहित्यिक रूप में बनी रहती हैं, उन का पुनरुद्धार और प्रसार भी होता है। उधर न बुद्ध के निर्वाण की तिथि निश्चित है, न जरथुष्ट्र की। बुद्ध का निर्वाण काल ३६८ ई० पू० से २४२२ ई०

So for the date of the Aryan invasion of India based on linguistic evidence could not indicate the exact period of their descent on the Indo Gangetic plain Historians however have opined that it must have taken the Aryans some 400 years to move from the frontiers to Central India where they ultimately settled

Dr H D Sankalia Director of the Deccan College Post Graduate Research Institute, Poona who has been engaged in research work on the site, told NAFEN that the 20 specimens of Navdatoli finds subjected to C 14 tests were the first Indian objects to undergo the test

According to Dr Sankalia, between 1600 and 1,100 B C peasants cultivated wheat and later rice gram field peas and misoor (lentil) They lived in round square and rectangular houses and had beautiful painted pottery comparable in shape and design to that from Iran at that period It is probable the invading tribes had brought to India the art of making such pottery

This is the first time that something Iranian can be definitely located in India at a period that can be dated he added-NAFEN

पू० (चीनी और तिब्बती परम्परा) के बीच में और जगद्गुरु का काल ६०० ई० पू० से ८,००० ई० पू० के मध्य में रक्खा जाता है। यद्यपि प्राचीनतम तिथियों की ओर आधुनिक प्रवृत्ति नहीं है तो भी निचली सीमाओं के मतभेदों में भी पर्याप्त ऊँची तिथियाँ मिलती हैं। बोघज-काई के मितानी शिलालेख में प्राप्त ऋग्वेदीय देवताओं मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यों के नामों-मित्-र, उरु व-न, इन्-द-र और न-स-अत्-ति-इअ को भारतीयों और ईरानियों के सर्वप्रथम पृथक् होने के काल का और आर्यों के भारत की ओर बढ़ने के काल का मानना सम्भव नहीं। ये नाम मित्र आदि पदों के मूल या पूर्वरूप नहीं हैं, प्रत्युत पीछे के विकृत रूप हैं। अपि च-आर्यों के पश्चिम से भारत में आने का साहित्य में कोई निर्देश नहीं मिलता है। पुराणों में उन्हें पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ता हुआ वर्णित किया गया है। ऋग्वेद के नदीसूक्त से भी यही क्रम निकलता है।

सिन्धुघाटी सभ्यता

२६—३००० ई० पू० की सिन्धु घाटी सभ्यता को अवैदिक और प्राग्वैदिक माना जाता है। उस के पक्ष में प्रमुख युक्तियाँ ये हैं—(१) ऋग्वेद में अश्व का महत्त्व है, परन्तु सिन्धु घाटी में बैल का। (२) सिन्धुघाटी में न अश्व मिला है, न उस के चित्र। (३) इस सभ्यता में शिव की पूजा मिलती है जो वैदिक शिव से भिन्न है। (४) ऋग्वेद का धर्म मूर्तिपूजक नहीं है, सिन्धुघाटी में मूर्तियों का प्राबल्य है। वहाँ किसी घर में भी अग्निकुण्ड नहीं मिला है।

२७—इस विषय पर पर्याप्त विवाद चला है। डा० लक्ष्मण स्वरूप ने इस विषय में पर्याप्त लिखा है। यद्यपि ऋग्वेद में अश्व का वर्णन पाया जाता है तथापि यह विचारणीय है कि अश्वपद और उस के पर्यायवाची सर्वत्र ही 'घोड़े' के वाचक हैं, अथवा किसी अन्य

श्व के। यदि अन्य अश्व होते हैं तो क्या वे घोड़े की लक्षणा से सगत होते हैं अथवा उस के बिना भी प्राप्त हो जाते हैं। 'अश्व' के स्वतन्त्र प्रयोग का विश्लेषण यह बताता है कि इस के २०५ प्रयोगों में से ११४ आंगिरसों के, २५ मित्रावरुणों के, १६ आत्रेयों के, २२ विश्वामित्र के, ७ मरानि के, ३ वरुण के और १४ विभिन्न ऋषियों के हैं। इस विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'अश्व' सब कुलों में प्रिय नहीं था। वैसे भी भारत में बैल, घोड़ों से १२० गुना अधिक मिलते हैं। अश्व और उस के चित्र का उपलब्ध न होना कोई आश्चर्य नहीं। ऋग्वेद में भी अश्व देवताओं का वाहन। नहीं है, जहाँ मालूम पड़ता है वहाँ अर्थान्तर या भावान्तर सुस्पष्ट लक्षित होता है।

२८—अपि च-सिंधु घोड़ों का प्रदेश है। घोड़े का एक नाम सैन्धव भी है। इस कारण यह कल्पनातीत है कि सिंधु घाटी के लोग घोड़ों का प्रयोग न करते हों। वैसे भी इन अवशेषों में घोड़े का भी एक अवशेष ऊपर के स्तर पर मिला है २८।

२९—सिन्धु घाटी का शिव वैदिक त्र्यम्बक = रुद्र का पिछला विकास है २९। वैदिक रुद्र का भौतिक पक्ष नारिकेल के रूपकात्मक वर्णन के अनुरूप है और उस में पौराणिक शिव के लक्षण पर्याप्त मिलते हैं। अतः शिव को अनार्य मानना उचित नहीं। यद्यपि ऋग्वेद में मूर्तियों की सत्ता का कोई वर्णन नहीं है, तो भी 'प्रतिमा' पद की सत्ता से

२८—यह अवशेष १ फीट १० इञ्च नीचे मिला है। देखो सर जान मार्शल, मोहन जो दड़ो सिविलिज़ेशन भाग २ पृ० ६५३—४।

२९—देखो सुधीर कुमार गुप्त, कोकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) इज़ दी ओरिजन ऑफ शिव कल्ट, आइओका० (स०) १९५८।

ज्ञात होता है कि कुछ मूर्त्तियाँ-खिलोने आदि अवश्य बनते होंगे। वैदिक वर्णन कुमार-देष्णा पद से भी यही भाव निकलता है। सिंधु घाटी की लिङ्गपूजा भी वैदिक रुद्र =नारिकल का ही विकसित रूप है ३०।

२०—सिंधु घाटी की खुदाई में एक अग्निकुण्ड के सदृश स्थान भी मिला है ३१ जिस पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। तथापि अग्निकुण्ड का अभाव इस सभ्यता को प्राग्वैदिक सिद्ध नहीं करता है। आज भी प्रतिदिन अग्निहोत्र करने वालों के घरों में अग्निकुण्ड बहुत कम पाया जाता है।

ज्योतिषविषयक

२१—श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथब्राह्मण से एक कथन खोजा है जिस के अनुसार उस समय कृत्तिकाएँ प्राची दिशा में ही उदय होती थीं, परन्तु आजकल वे कुछ उत्तर की ओर उदय होती हैं। ज्योतिष की गणना के अनुसार ब्राह्मणकालीन स्थिति अब से ३,००० वर्ष ई० पू० रही थी ३२। तैत्तिरीय संहिता और ऋग्वेद शतपथब्राह्मण से प्राचीनतर हैं। दोनों के निर्माण के लिये २५०-२५० वर्ष मान कर ऋग्वेद का काल ३५०० ई० पू० ठहरता है।

३०—ऋग्वेद में शिश्नदेवा पद को विद्वानों ने लिङ्गपूजकों का निर्देशक माना है। परन्तु भारतीय विद्वान् इस का भाव अब्रह्मचारी लेते हैं। सीएसडी० पृ० २२८-२३३ भी देखें।

३१—एच-आर मण्डल के वर्ग २ विभाग की मकान XI कमरा सं० ८५ के निम्नतम तल में उपलब्ध निम्न स्थान।

३२—डा० गोरखप्रसाद भारतीय ज्योतिष का इतिहास पृ० ५० पादि० १ में इस गणना को अशुद्ध बताते हैं। उन्हों ने २५०० ई० पू० को ठीक गणना बताया है।

३२—पं० लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने समस्त वैदिक काल को चार युगों में बाँटा है-अदितियुग, मृगशिरायुग, कृत्तिकायुग और अन्तिम युग। अन्तिम युग वेदाङ्ग ज्योतिष की रचना (१४००ई० पू०) से बुद्ध भगवान् के निर्वाण काल (५०० ई० पू०) तक रहा। वेदाङ्ग-ज्योतिष में श्रविष्ठा के आदि में सूर्य और चन्द्रमा के उत्तर की ओर घूमने का वर्णन आया है। यह स्थिति आज से १४०० ई० पू० में थी। यह ग्रन्थ इस काल के प्रारम्भ में प्रणीत हुआ। यह काल बुद्ध भगवान् के निर्वाण ५०० ई० पू० में समाप्त हो जाता है। इस काल में समस्त सूत्रग्रन्थ और, स्मार्त आदि रचे गये। कृत्तिकायुग इस से पूर्व रहा। इस के प्रारम्भ में वसन्तसम्पात (= दिन और रात का बराबर होना) कृत्तिका नक्षत्र में होता था। शतपथब्राह्मण के उपरोक्त कथन के अनुसार ये नक्षत्र पूर्व दिशा में उदय होते थे, जिस का समय लगभग २५०० ई० पू० था। इस काल में तैत्तिरीय संहिता और शतपथब्राह्मण का निर्माण हो चुका था। इस से पूर्व वसन्तसम्पात मृगशिरा नक्षत्र में होता था। मृगशिरा से कृत्तिका तक पहुँचने में लगभग २००० वर्ष लगे होंगे। इस काल में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र रचे गये। इस मृगशिरा युग से भी पूर्व पुनर्वसु नक्षत्र में वसन्तसम्पात का उल्लेख मिलता है, जिस का समय २००० वर्ष और अधिक प्राचीन हो कर ६००० से ४००० ई० पू० तक रहा। इस में मन्त्रों की रचना हुई जो कालान्तर में संहिताओं में सङ्कलित किए गए। जैकोबी भी इसी प्रकार ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का काल निरूपित करते हैं, परन्तु वे ४५०० से अधिक पहले जाना उचित नहीं समझते हैं। श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट ने भी अपने ढंग से ज्योतिष की गणना कर के ऋग्वेद का रचनाकाल आज से तीन लाख वर्ष पूर्व माना है। श्री पा० सा० सेनगुप्त ने अत्रि का काल २६ जुलाई ३६२८ ई० पू० और इन्द्र के मघवा बनने का काल ४१७० ई० पू० निर्धारित किया है। श्री आर० के० प्रभु ऋग्वेद को

१०,००० ई० पू० म और वाडेर १५,००० ई० पू० के पहले रखते हैं।

३३—श्री कथ, विण्टरनि ज और के० सी० चट्टोपाध्याय आदि इन निष्कर्षों को प्रामाणिक नही मानते हैं। उन का कहना है कि ज्योतिष विषयक उपरोक्त आधारों की योजना में बहुत सी कल्पनाओं से काम लिया गया है, तथा उन-उन स्थलों के, जहाँ ये प्रमाण मिलते हैं, अपेक्षाकृत सरल अर्थ किए जा सकते हैं। अत व इन ज्योतिषविषयक युक्तियों और तत्सम्बन्धी गणनाओं का पुन परीक्षण आवश्यक समझते।

भूगर्भविज्ञान के आधार पर

३४—डा० अविनाशचन्द्र दास ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक स्थितियों-समुद्रों और नदियों के अवस्थान आदि, ऋतुपरिवर्तन, वर्ष के वाचक पद-हिम और शरद् आदि के आधार पर ऋग्वेद के काल को ७५,००० वर्ष पूर्व ले जाते हैं।

३५—स्वामी महादेवानन्द गिरि का कहना है कि वस तलम्पातों का एक चक्र २१,००० वर्षों म पूर्ण होता है, जिस के पश्चात बड़ा भयकर शीत युग या हिम युग (ग्लेशियल युग) आता है। इन की गणना के अनुसार पिछला हिम युग १०,००० ई० पू० में हुआ था। ऋग्वेद (२। १२, १७५, १। ३०। १, १।१३११४ आदि) में भी इस प्रकार के शीत युगों का वर्णन पाया जाता है। आधुनिक विद्वानों ने सृष्टिरचना से अब तक कुल चार हिम युगों की सत्ता मानी है। ऋग्वेद के इन्द्र सूक्त में वर्णित हिमयुग इन में से कौन-सा है यह विचारणीय है। श्री नारायण भवनराव पावगी ने भी भूगर्भ विषयक ऋग्वेद म वर्णित स्थितियों के आधार पर वेद का रचनाकाल

६,००० ई० पू० रक्खा है। वैदिक संस्कृति में श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी ने इस के स्थान पर २४०,००० से ६, ०८, ००, ०७, ००० ई० पू० काल दिया है।

३६—वैदिक साहित्य के प्रारम्भ को इतना प्राचीन मानने में सामान्यतः विद्वानों को बड़ा संकोच होता है। इस का एक कारण यह है कि इतने प्राचीन काल में भारत में या अन्य किसी प्रदेश में उस समय मानव का अस्तित्व था भी, या नहीं। यदि हाँ, तो क्या वह इतने विकसित मस्तिष्क का था कि इस प्रकार की उदात्त रचनायें उपस्थित करता। इस संशय की निवृत्ति आधुनिक काल में प्राप्त अस्थिपञ्जरों से स्वतः हो जाती है।

३७—एक युक्ति यह भी दी जाती है कि मानव स्वभाव सर्वत्र एक सा है। अतः जिस काल में वेद का रक्खा जाए उस काल की अन्य देशों की सामाजिक स्थिति आदि से वैदिक संस्कृति की तुलना की जाए तो समान भावों की सत्ता मिलनी चाहिये। यदि ऐसा न हो तो समय निर्धारण ठीक नहीं माना जा सकता। परन्तु सब देशों का मानसिक और बौद्धिक विकास एक ही धारा में एक ही गति से नहीं होता है। आज भी तो सभ्य और असभ्य जातियों के विकास में महान् अन्तर पाया जाता है। अतः यह सिद्धान्त उचित नहीं।

निष्कर्ष

३८—इस प्रकार ऋग्वेद के काल के निर्णय में बहुविध मत हैं, जिन में बड़े भारी भेद हैं। अतः विद्वानों ने बहुत ही उचित कहा है कि ऋग्वेद की निम्नतम सीमा ही निर्धारित की जा सकती है—ऋग्वेद इस से पीछे का नहीं हो सकता। इस से अधिक कहना सम्भव नहीं। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इस स्थिति को अनुभव कर के और उन्ह

सुदूर प्राचीन काल में रचित जानते हुए इन्हें सृष्टि के आरम्भ में रचा मान कर तिथिनिर्माण के विवाद को समाप्त कर दिया हो सकता है। वेद के अध्ययन और अध्यापन में तिथिनिर्णय बौद्धिक व्यायाम मात्र है, वेदार्थ और वेदविषयों को समझने में कुछ भी सहायक नहीं है।

ऋग्वेद संहिता की उत्पत्ति और विश्वास

३६—परम्परा के अनुसार स्वयम्भु परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में मानवों के कल्याण के लिए चार ऋषियों—अग्नि, आदित्य, वायु और अंगिरस् द्वारा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद का निःश्वास के समान प्रकाश किया। इन के पश्चात् भी बहुत से ऋषि हुए जिन्हों ने मन्त्रों के अर्थ का साक्षात्कार किया और संसार को अपनी देन दी। वेदमन्त्रों से सम्बद्ध ऋषिनाम इन्हीं मन्त्रद्रष्टाओं के हैं।३३

४०—एक अन्य विचारधारा भी भारतीय परम्परा में पाई जाती है। इस के अनुसार जिन-जिन मन्त्रों के जो-जो ऋषि बताए गए हैं वे-वे उन मन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं, रचयिता नहीं ३४। इस मत के अनुयायी सायण के भाष्य के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि निश्चयात्मक रूप से सायण ऋषियों को मन्त्र रचयिता मानते हैं।

४१—वेदोत्पत्ति विषयक परम्परा से प्राप्त कुछ अन्य मत भी हैं जिन का अन्तर्भाव उपरोक्त दो मतों में ही जाता है ३५।

३३—ऋभाभू०—वेदोत्पत्तिविषय। सप्र०—भा१३०—१३३। इन में उद्धृत प्रमाण भी देखें। स्वयं वेदमन्त्रों का भी यही कहना है।

३४—आर्यसिद्धान्तविमर्श में ऋषियों पर लेख देखें।

३५—इन का वर्णन स्वा० कर्मानन्द ने वैदिक ऋषिवाद और श्री एम० मोनियर विलियम्ज ने अपनी रचना—'इण्डियन विज्डम',

४२—परन्तु आधुनिक विचारधारा वेद को ईश्वरकृत मानने के लिए तय्यार नहीं है। यहाँ वेदों को भी उसी प्रकार मानवों की रचना माना जाता है जिस प्रकार काव्य लौकिक कवियों की रचनाएँ होते हैं। जब भारतीय आर्यों ने भारत में प्रवेश किया तब वे अपने साथ एक धर्म लाए थे जिस में देवता प्रमुख रूप से प्रकृति की शक्तियाँ थीं जिन को पुरुषाकार में वर्णित किया गया है। इन में से कुछ देवता जैसे द्यौ, भारोपीय काल के हैं, और अन्य, जैसे मित्र, वरुण और इन्द्र भारतीय—ईरानी काल के हैं। वे अपने साथ अग्नि और सोम की पूजा भी लाए। जैसा ऋग्वेद और अवेस्ता की तुलना से सुव्यक्त हो जाता है। इन ऋषियों को बहुविध छन्दों में धार्मिक कविताएँ रचने की कला भी ज्ञात थी। इन प्राचीन सूक्तों का लक्ष्य बर्हि (यज्ञवेदी पर बिछा घास) पर रक्खे हुए सोम रस और तपाए हुए घी की अग्नि में आहुतियाँ देते हुए स्तुतियों द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना था। भारतीय आर्यों के आक्रमण के प्राचीनतम काल में प्राप्त और ऋग्वेदसंहिता में सुरक्षित सूक्त सामान्यतः ऋषियों के कुलों में पैतृक परम्परा से रचे गए हैं। इन को ऋषियों ने अपने-अपने कुलों में मौखिक रट कर सुरक्षित रक्खा है। इस काल में मन्त्रों को लेखबद्ध नहीं किया गया। वंशों में प्रचलित इन सूक्तों को एकत्र किया गया और इस में कुछ अन्य सूक्तों को जोड़ कर इन्हें ऋक्संहिता का प्रारम्भिक रूप दे दिया गया। श्री मैक्डोनल

१८६३ ई० पृ० २—३ में किया है और इन में विरोध दिखाने का प्रयास किया है। यह प्रयास उन के वैदिक दर्शन के घोर अज्ञान का परिचय देता है। इस दर्शन में प्राण, गायत्री, अदृष्ट, काल, पुरुष, वाक्—सब ब्रह्म के नाम हैं। दूसरे मत के समर्थक आर्यसमाजियों की युक्तियाँ पहले मत पर ही केन्द्रित हो जाती हैं।

के विचार में आधुनिक ऋक्संहिता का रूप ब्राह्मणकाल की समाप्ति पर उपनिषदों से पूर्व ६०० ई० पू० में बन चुका था। इस संहिता के सम्पादकों ने कुछ स्थलों पर स्वरसन्धि के नियम लगाए जिस के कारण कुछ स्थलों पर छन्दोभंग हो गया है। इस प्रकार छन्द-काल में मन्त्र रचे गए और कुछ काल पश्चात् संहिता के रूप में संकलित हुए ३६।

४३—इस मत की पुष्टि मन्त्रों के अपने लेखों मे भी होती है। वहाँ पर अनेक बार मन्त्रकार, मन्त्रकृत् आदि पदों का प्रयोग हुआ है। सर्वानुक्रमणी ने भी ऋषि का लक्षण—मन्त्र का रचना करने वाला किया है—यस्य वाक्यं स ऋषिः। साथ ही प्रत्येक मन्त्र का ऋषि भी सर्वानुक्रमणीकार ने बताया है। बहुत से मन्त्रों में उन के रचयिता ऋषियों के नामों का प्रयोग हुआ है। निरुक्त और ब्राह्मण-ग्रन्थों के कुछ लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋषियों को मन्त्र-रचयिता मानते हों ३७। मन्त्रों में प्राचीन और नवीन ऋषियों और मन्त्रों का भी कथन आया है ३८।

४४—ऋग्वेद के साथ सम्बद्ध ऋषियों की स्थिति बड़ी विचित्र है। मन्त्रों में वर्णित ऋषिनामों और उन से सम्बन्धित इतिहास आदि में कोई सामञ्जस्य नहीं है, उन वर्णनों का पुराणों और सर्वानुक्रमणी आदि के विवरणों से स्पष्ट विरोध और विषमता दृष्टिपथ में आते हैं ३९। अनेक मन्त्रों के ऋषि और देवता एक ही पद हैं। बहुत से

३६—देखो मे०—वैरा० भूमिका, तथा वैदिक साहित्य के इतिहास-२४

३७—देखो कर्मानन्द वैदिक ऋषिवाद, सूरजभान, ऋग्वेद के बनाने वाले ऋषि आदि।

३८—यथा ऋ० १।१।२ आदि।

३९—सुधीर कुमार गुप्त, ऋग्वेद में इतिहास नहीं है (ऋग्वेद का-मर्म में संकलित)।

मन्त्रों में ऋषिनाम विशेषण के रूप में आए हैं। एक ही मन्त्र के विभिन्न स्थलों पर विभिन्न ऋषि दिए गए हैं। ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त में बहुत से ऋषिनामों के निर्वचन और अनेकविध अर्थ दिए गए हैं। यहाँ पर वेदमन्त्रों का स्रोत ब्रह्म को माना है, ऋग्वेद के पुनरुक्त अंशों में व्यावर्तन के नियम से कुछ ऋषिनाम परस्पर में पर्यायवाची सिद्ध होते हैं। यजुर्वेद में ऋषिपद 'वदमन्नार्थ' का भी द्योतक मालूम पड़ता है। कुछ मन्त्रों के प्रयोगों में वरुण आदि को व्यक्ति मानना सम्भव नहीं है। इन पदों को ऋषि न माने जाने का अवशेष माधवभट्ट के कण्वासः के भाष्य में उपलब्ध होता है। कुछ ऋषि नामों का यजुर्वेद में पारिभाषिक पदों के रूप में प्रयोग हुआ है ४०। ऐसी स्थिति में मन्त्रकृत् और ब्रह्मकृत् आदि पदों से कोई निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं ४१।

४४—अतः वेदमन्त्रों को उन से सम्बद्ध ऋषियों की रचना अथवा दर्शन मानना सम्भव नहीं। ये पद उन के अर्थों को बताने वाली संज्ञाएँ ही हैं। प्राचीनकाल में भी ऋषिज्ञान को वेदार्थज्ञान के लिए परम आवश्यक समझा जाता था, परन्तु कालान्तर में उस का वास्तविक स्वरूप विस्मृत हो गया। यह सब कुछ होते हुए भी आज विकासवाद के युग में वेदमन्त्रों को ईश्वररचित मानना बुद्धिगम्य नहीं है, भले ही हम उन के वास्तविक रचयिताओं को जानने में समर्थ हों या नहीं।

४०—विस्तार के लिए देखो—सुधीर कुमार गुप्त, द यज्ञ और दी ऋग्वेद, देयर मैसेज एण्ड फिलोसोफी (और उस का हिन्दी अनुवाद), वेभाप० ४।७८—१२४ ५।१२—२४, १७।२८—६६ आदि।

४१—सीएसडी० में ओरिजन एण्ड ऑथरशिप ऑफ दी हिम्ज ऑफ दी ऋग्वेद देखें।

वेदमन्त्रों की सुरक्षा के साधन

४६—वदम त्रों की रचना और सकलन के श्र म बाद हा उन का सुरक्षा के लिए विलक्षण उपाय किए गए और उन को बिना किसी अक्षर के नाश, विकार और प्रक्षेप क सुरक्षित रक्खा गया।

४७—वद का कण्ठस्थ करना सरल काम नहा था, पर तु इस को प्राचीन काल म अनिवार्य किया गया। इसी स आज तक वद सुरक्षित चला आ रहा है। यह परम्परा अब क्षीण हो रही है जिस से वेद की अक्षुण्ण रक्षा को आघात पहुचना स्वाभाविक है। हस्तलेखों और मुद्रित प्रतियों को नष्ट किया जा सकता है, उन में लेख या छापे का भूलें रह जाती हैं, पर तु कण्ठस्थ करने वालो मे यह दोष नहीं रहता है। यद्यपि दुष्ट मनुष्य वहाँ भी विकार उ प न कर सकता है, पर तु अन्य वैदिकों का उस पर अङ्कुश रहता है।

४८—इस क साथ ही कुछ पाठों को रचना का गइ। इन मे सब म पहला पदपाठ कहलाता है। पदपाठ म सब पदों को अलग अलग स्वतन्त्र रूप म पढा गया है, प्रत्यक्ष पदों के आगे इति और समास के पूर्व और उत्तर पदों तथा प्रकृति प्रत्यय आदि के बीच म अवग्रह लगा कर उन के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इस वेद का सर्वप्रथम व्याख्यान कहा जा सकता है। यह विशेषता अन्य पाठों म उपलब्ध नहीं। आजकल शाकल्य का पदपाठ ही सर्वत्र उपलब्ध होता है। रावण का भी पदपाठ मिला है। गार्ग्य क सामवद के पदपाठ में लगभग सभी पदों में अवग्रह लगाया गया है यथा मिऽत्रम् । अऽग्न । अन्ऽये । च इऽमम । सुऽऊर्यस्य४९। ये दोनों अभी मुद्रित नहीं हुए हैं। अन्तिम

४९—भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग २ (२), प्रथम सस्करण से साभार सगृहीत।

पदपाठ स्वा० दयानन्द सरस्वती का मिलता है। यह शाकल्य के पदपाठ के समान है परन्तु उस से अनेक स्थानों पर भिन्न है ४३। भाष्यकर्ता ने अनेक बार शाकल्य के पदपाठ से अपना मतभेद प्रकाशित किया है। ऋग्वेद में छः मन्त्र ४४ ऐसे भी हैं जिन का पदपाठ नहीं मिलता है। उन्हें ज्यों का त्यों ही पदपाठ में रख दिया गया है।

४९—इस के पश्चात् क्रमपाठ बनाया गया। इस में पदपाठ का प्रत्येक पद दो बार पढ़ा जाता है—अपने से पहले और अपने से अगले पद के साथ—कख, खग, गघ। यह पदपाठ के समान प्राचीन है। इस के पश्चात् जटापाठ की रचना की गई। इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और फिर सीधा भी पढ़ा जाता है—कख, खक, कख, खग, गख, खग, गघ, घग, गघ। इस की चरम सीमा घनपाठ में मिलती है। इस में क्रमपाठ के साथ उस के जोड़ों को उलटा और तीन पदों को मिला कर सीधा और उलटा भी पढ़ा जाता है। इस का क्रम यह है—कख, खक, कखग, गखक, कखग, खग, गख, खगघ, घगख, खगघ आदि।

५०—प्रातिशाख्यों में शिक्षा, व्याकरण और छन्दों का विवरण मिलता है। इन में अपनी अपनी संहिताओं का पदपाठ भी मिलता है। ऋग्वेद का प्रातिशाख्य शौनक की प्रणीत है।

४३—देखो प्रमा० २६, मोएसडा०—दी पदपाठ ऑफ दी ऋग्वेद ऐज़ गिवन बाइ दयानन्द।

४४—ऋ० ७।५९।१२, १०।२०।१ १२१।१० १९०।१—३। आधुनिक विद्वानों का विचार है कि शाकल्य इन्हें प्रक्षिप्त मानते थे। परन्तु सम्भव है कि शाकल्य ने इन के अर्थ ऐसे समझे हों जिन में पदपाठ एक से अधिक प्रकार बनता हो। प्रमा० ६।

५१—अनुक्रमणियों में सूक्तों के प्रथम मन्त्र की प्रतीक, ऋषि, देवता, छन्द और मन्त्रसंख्या दी गई हैं। मन्त्रों से सम्बन्धित आख्यान भी दिए गए हैं। ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी कात्यायन की रचना है। शौनक के बृहद्देवता को भी इसी श्रेणी का कहना उचित होगा।

ऋग्वेद में विकार

५२—इन साधनों की सहायता से ऋग्वेद के मन्त्रों और पदों को इस प्रामाणिकता के साथ सुरक्षित रक्खा गया है कि इतने वर्षों से अब तक उन में कोई विकार—नाश, परिवर्तन और प्रक्षेप—नहीं आने पाया है। इस प्रकार अन्यत्र कहीं भी ग्रन्थों की सुरक्षा नहीं की गई है।

५३—इतना होने पर भी बहुत से आधुनिक विद्वानों ने वेद के पाठों में विकार माना है और अनेक बार उन में परिवर्तन करने का सुझाव दिया है। श्री राजवाडे ने एक लेख में इस प्रकार के कतिपय स्थल एकत्रित किए हैं। प० विश्वबन्धु ने अपने बम्बई प्राच्यसम्मेलन के वैदिक विभाग के सभापतिभाषण में भी इस प्रकार के कतिपय स्थलों का विवेचन किया है। बम्बई के पादरी श्री एस्टलर तो समस्त वेदमन्त्रों को विकृत मान कर उन का मूल पाठ बनाने में संलग्न हैं। इन विद्वानों ने अनेक स्थलों पर यह सोचने का प्रयास नहीं किया है कि जहाँ वे अर्थ के आधार पर पाठ में विकार मानते हैं वहाँ अर्थान्तर भी हो सकता है जो न उन्हें सूझ रहा है, न आधुनिक नियमों की कसौटी पर पूरा उतर रहा है ४५।

४५—इस का एक उदाहरण ऋ० १।१४।३ का शमोप्यात् पाठ है, जिसे सायण ने समोप्यात् कर दिया है, और आधुनिक विद्वान् उसे ग्रहण करते हैं। यह पाठ परिवर्तन नितान्त अनावश्यक है। देखो सुधीर कुमार गुप्त, ए न्यू इण्टर-प्रैटेशन ऑफ ऋ० १।१४।

ऋग्वेद का विस्तार और विभाजन

५४—विस्तार—ऋग्वेद में कुल १०१७ सूक्त हैं। यदि इन में अष्टम मण्डल में प्राप्त ग्यारह वालखिल्य सूक्तों को भी जोड़ लिया जाए तो कुल सूक्त १०२८ हो जाते हैं। इन में लगभग १०६०० मन्त्र हैं। इस प्रकार सामान्यतः एक सूक्त में दस मन्त्रों का परिमाण आता है। सब से छोटे सूक्त में एक मन्त्र और सब से बड़े में ५८ मन्त्र हैं। आकार में ऋग्वेद का विस्तार इतना है जितना होमर के समस्त उपलब्ध काव्यों का।

५५—विभाजन—ऋग्वेद का दो प्रकार से विभाजन किया गया है। पहला अष्टक विभाग है। यह अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन है और पूर्णतः यान्त्रिक है। इस में समस्त ग्रन्थ को आठ अष्टकों में विभक्त किया गया है। वे सब लगभग बराबर ही हैं। प्रत्येक अष्टक में आठ-आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में पाँच या छः मन्त्रों वाले कुछ वर्ग मिलते हैं। स्वाध्याय और प्रवचन की दृष्टि से यह विभाजन विशेष उपयोगी है।

५६—दूसरे विभाजन में समस्त ग्रन्थ को दस मण्डलों या खण्डों (मं०—ग्रन्थों श०—चक्रों) में बाँटा है। प्रत्येक मण्डल को सूक्तों में और सूक्तों को मन्त्रों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक मण्डल में सूक्तों की संख्या और सूक्तों में मन्त्रों की संख्या विभिन्न है, इस में अष्टक विभाग के समान कोई स्थिर नियम लक्षित नहीं होता है। यह विभाजन प्राचीन और ऐतिहासिक है। इस से ऋग्वेद के मूल संघटनात्मक का परिचय मिलता है। उद्धरण आदि देने में यह विभाजन अधिक सुगम पड़ता है। अतः इस विभाजन का प्रमाण आदि देने में पुष्कल प्रयोग किया जाता है।

ऋग्वेद की संघटना

५७ प्राचीन भारतीय परम्परा केवल ऋग्वद के मन्त्रो को ही नही प्रत्युत चारो सहिताओ के मन्त्रो को एक ही समय मे ईश्वर स प्रादुर्भूत हुआ मानती है। इस दृष्टि से सब वद सुसम्बद्ध हैं और उन में देश और काल विषयक कोई पौर्वापर्य नही है।

५८ विकासवाद के सिद्धान्तानुसार वद को विभिन्न व्यक्तियो की रचनाएँ मानते ही यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि मन्त्रो की रचना मे पौर्वापर्य रहा होगा। इस की पुष्टि सर्वानुक्रमणिया मे प्रदत्त वैदिक ऋषियो की वशावलिया से होती है। वहा एक ऋषि की सन्तति पुत्र पौत्र प्रपौत्र आदि की रचनाएँ मिलती हैं जिन्हे किसी भी अवस्था मे समकालीन नहीं माना जा सकता।

५९ वशमण्डल—इस आधार पर आधुनिक विद्वानो ने ऋग्वेद के दो भाग किये हैं—१ मूल भाग—यह ऋग्वद का प्राचीनतम भाग माना जाता है। इस म मण्डल २ से ७ आते हैं। २ अर्वाचीन भाग—इस में मण्डल १ ८ ९ और १० आते हैं। मूल भाग के मण्डल स्वरूप में एक समान हैं। देसी परम्परा के अनुसार उन में से प्रत्येक मण्डल के सूक्त एक ही वश के ऋषियो की रचनाएँ हैं जो उन्हें अपनी सहिता के रूप मे सुरक्षित रखते रहे।

६० इस परम्परा की पुष्टि अन्त साक्षियो—सूक्तो में वर्णित ऋषिनामो और प्रत्येक मण्डल में प्रयुक्त ध्रुवको से होती है। इन वशमण्डलो में सघटना एक जैसी है—इन मे से प्रत्येक मण्डल विभिन्न देवताओ के सूक्तो के वर्गों में समान रूप से विभक्त किया गया है। दूसरी ओर मण्डल १,८ और १० में य विशेषताएँ नही मिलती हैं। उन के वर्गों में सूक्त विभिन्न वशो के ऋषियो की रचनाएँ हैं और वे किसी एक एक वश के ऋषियो द्वारा नही रचे गये हैं। मण्डल ९ अन्य मण्डलो से इस लिए विशिष्ट है कि इस

में समस्त मन्त्र सोम देवता के ही हैं और इस के वर्ग छन्द की समानता पर बनाये गये हैं।

६१ वंशमण्डलों में सूक्तों का प्रथम वर्ग नियमित रूप से अग्नि देवता का है, और दूसरा इन्द्र का और शेष अन्य अप्रधान देवताओं के हैं। इन देवताओं के वर्गों में सूक्त मन्त्रों की घटती हुई संख्या के अनुसार रखे गये हैं। उदाहरण के लिए दूसरे मण्डल के अग्निदेवता का दस सूक्तों का वर्ग १६ मन्त्रों वाले सूक्त से प्रारम्भ होता है और ६ मन्त्रों वाले सूक्त पर समाप्त होता है। अगला वर्ग २१ मन्त्रों के सूक्त से प्रारम्भ हो कर ४ मन्त्रों के सूक्त पर समाप्त हो जाता है। यदि प्रक्षेपों की सम्भावना को ध्यान में रखा जाये तो वंशमण्डलों का क्रम बढ़ती हुई सूक्तसंख्या के अनुसार रखा गया है। इस प्रकार मण्डल २ में ४३, मण्डल ३ में ६२, मण्डल ६ में ७५ और मण्डल ७ में १०४ सूक्त हैं। वंशमण्डलों की एकरूपता से ऐसी प्रबल सम्भावना होती है कि ये मण्डल ऋग्वेद के मूल आधार थे जो पीछे की मिलावटों से आधुनिक रूप को प्राप्त हो गये।

६२ **अर्वाचीन मण्डल**—मूल मण्डलों के साथ पीछे से सम्बद्ध मण्डलों में प्रथम मण्डल का उत्तरार्द्ध (सूक्त ५१ से अन्त तक) सब से पहले जोड़ा गया प्रतीत होता है। इस में नौ वर्ग हैं जो प्रत्येक अलग-अलग ऋषि की रचना हैं। इस भाग में वंशमण्डलों की अन्त संघटना को अपनाया गया है।

६३ मण्डल ८ प्रमुख रूप से कण्व वंशजों की रचना होने से वंशमण्डलों के सदृश है। परन्तु यह अग्नि के सूक्तों से प्रारम्भ नहीं होती है। साथ ही इस में प्रगाथ छन्द का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इस में सूक्तसंख्या सप्तम मण्डल से कम है। इस से प्रतीत होता है कि यह वंशमण्डलों के समुदाय का अंग नहीं था। सीमित साम्य के कारण यह अन्त में सब से पहले जोड़ा गया होगा।

६४ प्रथम मण्डल का पूर्वार्द्ध (सूक्त १–५०) अनेक अंशों में मण्डल ८ के समान है। अधिकांश सूक्तों के रचयिता काण्व ऋषि रहे प्रतीत होते

है। उन का प्रिय छन्द प्रगाथ भी यहा उपलब्ध होता है। दोनो संग्रहो मे बहुत से समान भाव और पदसमूह भी मिलते हैं। इन दोनो सूक्तसमुदायो में कोई-न-कोई भेद अवश्य रहा होगा। परन्तु अभी तक यह नहीं दिखाया जा सका है कि ये दोनो मूल भाग के आदि और अन्त में जोड़ कर अलग-अलग कैसे हो गये।

६५ पहले आठ मण्डलो के एक सूत्र में बँध जाने पर मण्डल ९ भी जोड दिया गया। इस में समस्त सूक्त पवमान सोम के हैं। वंशमण्डलो में सोम का एक भी सूक्त नही है। प्रथम और अष्टम दोनो मण्डलो मे मिला कर सोम देवता के सामान्य पक्ष के वर्णन करनेवाले केवल तीन ही सूक्त पाये जाते है। मण्डल ९ के सूक्तो के रचयिता वे ही ऋषि हैं जो वंशमण्डलो के क्यो कि उस में वंशमण्डलो के ऋषियो के प्रिय ध्रुवक मिलते हैं। अत यह माना जा सकता है कि प्रथम से अष्टम तक के सब मण्डलो से पवमान सोम के समस्त मन्त्र निकाल कर मण्डल ९ म १–८ मण्डलो की संहिता के अन्त म रख दिये गये। इस प्रकार यह उद्गाता के लिए एक पृथक संहिता बन गयी। शेष भाग होता से सम्बन्धित रह गया।

६६ मण्डल ९ की शैली और सूक्तो में गूढ आख्यानिक निर्देशो से ज्ञात होता है कि यह मण्डल पहले आठो के पीछे की रचना है। इस के कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन हो सकते हैं जितना भारत ईरानी काल से प्राप्त सोमयज्ञ।

६७ इस मण्डल को दो भागो में रखा जा सकता है। प्रथम भाग (सूक्त १–६०) म सूक्तो का सकलन मन्त्रो की घटती संख्या के अनुसार किया गया है। प्रथम सूक्त में दस मन्त्र हैं और अन्तिम में कुल चार। दूसरे भाग (सूक्त ६१–११४) म यह क्रम नही मिलता है। इस म बहुत लम्बे-लम्बे सूक्त भी हैं यथा—एक म ४८ और दूसरे में ५८ मन्त्र है। दोनो भागो में छन्द का भी भेद है। प्रथम भाग में केवल चार मन्त्रो

को छोड कर शेष सब गायत्री छन्द में हैं, दूसरे भाग में अन्य छन्दों—जगती, त्रिष्टुप् आदि के वर्गों का प्राधान्य है।

६८ दशम मण्डल सब से अन्त में जोडा गया। इसकी भाषा और विषयों से ज्ञात होता है कि यह शेष मण्डलों से पीछे की रचना है। इस के ऋषि शेष मण्डलों के ऋषियों से परिचित हैं। इस के संहिता के अन्त में होने और सूक्तों की संख्या प्रथम मण्डल के सूक्तों के बराबर (अर्थात्–१९१) होने से यह सुव्यक्त है कि यह संहिता का परिशिष्ट है। इस के सूक्तों की रचना अनेकों *ऋषियों ने की है, जिन में कुछ ऋषि वे ही हैं जो अन्य मण्डलों में भी आये हैं,* परन्तु परम्परागत मन्त्रों का ऋषिवर्णन बहुत से सूक्तों के सम्बन्ध में किसी मूल्य का नहीं है।

६९ इस मण्डल का स्वरूप सामान्यत अर्वाचीन होने पर भी इस में कुछ सूक्त इतने ही प्राचीन और काव्यमय हैं जितने सामान्य रूप से अन्य मण्डलों के। इन सूक्तों को इस मण्डल में इस लिए स्थान मिला हो सकता है *कि शेष मण्डलों के संकलन के समय व किसी कारण से उन में सम्मिलित न* किये जा सके।

७० इस दशम मण्डल की भाषा में प्राचीन रूपों और पदों का प्रयोग क्षीण हो रहा है और नये पद और अर्थों का विकास हो रहा है।

७१ विषय की दृष्टि से इस मण्डल में अमूर्त भावों दार्शनिक विवेचनों और अथर्ववेद के क्षेत्र से सम्बन्धित जादू-टोने आदि की प्रवृत्ति और वर्णन प्रमुख हैं।

७२ परन्तु ऋग्वेद के विभाजन की ये युक्तियाँ पूर्णत सबल नहीं। इन का प्रमुख आधार सर्वानुक्रमणियों में वर्णित मन्त्रों से सम्बन्धित और *बहुधा मन्त्रों में प्रयुक्त तथाकथित ऋषिनामों को उन का रचयिता मानना है।* यह मान्यता निर्भ्रान्त और निर्विवाद नहीं। ये ऋषिनाम रचयिताओं के

नही है प्रत्युत उन उन सूक्ता के अर्थो की प्रकाशक मन्त्राएँ हैं।[४६] जब ऋषि और उन के वश ही नही रहे तब वशमण्डला और प्राचीन और अर्वाचीन ऋषियो के अनुसार मण्डलो के पौवापय या सूक्ता के वर्गीकरण की कल्पना का प्रसग ही नही रहता।

७३ वशमण्डला म और अय मण्डला में देवताआ के सूक्तवर्गो म भद भी आपातन ही है। ऋग्वेद का देवतावाद एक सत का विस्तार है। वहा अग्नि और इन्द्र तथा अय देवताआ म मूलत भद नही है। बाह्य दृष्टि (आधिभौतिक और आधिदविक) से अग्नि एक अग्नि नही वह विविध विषया की समान गुणा के आधार पर एक परिभाषा है। यही इन्द्र आदि पदा की स्थिति है।[४७] वैसे भी देवताआ के आधार पर वर्गीकरण में भी कुछ अपवाद है। मण्डल २ म सूक्त ३ में कई देवताआ के मन्त्र है। इसी प्रकार ऋ० ३।२ वश्वानर अग्नि का ३।४८ आदि बहुदेवताक है। ऋ ३।३३ इन्द्रसूक्त नही है। ऋ ४।३।१ रुद्र का है अग्नि का नहा ऋ ४।१८।१ ५–७ वामदेव के है इन्द्र के नही। एसी ही अव्यवस्था मण्डल ५ ६ और ७ में पायी जाती है।

७४ सूक्ता के सकलन म वशमण्डला में भी सवत्र एक सा नियम नही है। उदाहरण के लिए ऋ ३।२७–२९ के अग्निवर्गीय सूक्ता में मन्त्रसख्या

---

४६ देखो सुधीर कुमार गुप्त—ऋग्वद के ऋषि और उन का दशन वेदवाणी ७।१–२ विक्रतिवेदाक १९५८ सीयस औफ दी ऋग्वेद देयर मैसेज एण्ड फिलोसौफी तथा वेभाप० ४५ ६ १७ के ऋषि विषयक सदभ। इस से ही श्री मैक्डोनल आदि विद्वाना के सर्वानुक्रमणिया के ऋषिवणन पर अविश्वास का वाद भी निराधार हो जाता है। ४७ इस दवतावाद के वणन के लिए देखो सुधीर कुमार गुप्त महर्षि दयानन्द और दवता शब्द का अथ, ऋग्वेद का धम, वेभाप० ४५ ६ १७ के देवताविषयक अनुच्छद।

क्रम से १५,६ और १६ है। ऋ ४।१५, ६।१५; १६ और ऋ. ७।१५-१७ आदि इस नियम के अपवाद हैं। स्वय मण्डलों का क्रम भी मन्त्रसख्या के अनुसार नही है। यथा मण्डल २ में ४३,३ में ६२,४ में ५८,५ में ८७, ६ में ७५ और ७ में १०४ सूक्त हैं।

७५ मण्डल ९ में प्रथम आठ मण्डलो के सोमसूक्तों का सग्रह मानना और साथ ही इसे पहले आठ मण्डलो के पीछे रखा हुआ मानना परस्पर विरोधी विचार हैं।

७६. दशम मण्डल और दशमण्डलो में विषय और भाव की दृष्टि से न मौलिक भेद है, न बहुत अधिक। ऋग्वेद के पद विशिष्ट भावो की परिचायिका परिभाषाएँ हैं जिन के ठीक-ठीक भाव को जानने की समस्या आज विद्वद्वर्ग के सामने है। इस रचना में विष्णु और इन्द्र सूक्तो की टिप्पणियो से यह सुव्यक्त हो जायगा कि ये सूक्त भी दार्शनिक विचारो से ओतप्रोत हैं। ऋ ४।४२।४,६ आदि में ऋ १०।१२५ के वाक्सूक्त की शैली ही अपनायी गयी है। प्रतीयमान जादू-टोने आदि के सदृश विषय यत्र-तत्र ऋग्वेद में अन्यत्र भी मिल जाते हैं।

७७ भाषा के आधार पर पौर्वापर्य निश्चय करना सम्भव नही। कतिपय व्याकरण के रूप जो दशम मण्डल में प्रचुर हैं और अर्वाचीन माने जाते हैं दशमण्डलो में भी मिलते है। पदप्रयोग विषयानुकूल करने में ही अर्थ-सम्पत्ति सिद्ध होती है।

७८. अत. ऋग्वेद में मण्डलो या उन के अशो में पौर्वापर्य का निर्णय उपलब्ध सामग्री के आधार पर करना सम्भव नही। हो सकता है समस्त सहिता का सकलन किसी एक ही व्यक्ति ने किया हो और विभिन्न दृष्टियों से सूक्तो की सघटना की हो।

ऋग्वेद की भाषा

७९ ऋग्वेद की भाषा आधुनिक लौकिक संस्कृत भाषा का प्राचीनतम रूप है जो पाणिनि के नियमों में जकड़ी जा कर आधुनिक रूप को प्राप्त हो गयी है। इस में लौकिक संस्कृत की अपेक्षा रूपसम्पत् बहुत अधिक है। संज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्तियों में रूपों की प्रचुरता है। इस में शतृ शानच् और क्त्वान्त पदों के रूप अनेकविध हैं। क्रियापदों में यह रूप समृद्धि सविशेष लक्षित होती है क्यों कि ऋग्वेद में लेट् का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यह लोकभाषा में बिल्कुल भी नहीं है। ऋग्वेद में तुमुन् के लिए लगभग एक दर्जन प्रत्यय हैं जिन में से लोकभाषा में केवल एक तुमुन् ही शेष बचा है।

८० ऋग्वेद की भाषा में उदात्त अनुदात्त और स्वरित स्वरों का प्रयोग किया जाता है। यह स्वर संगीतात्मक है और कण्ठध्वनि के आरोहावरोह पर निर्भर है। लौकिक भाषा में ये स्वर नहीं लगाये जाते हैं। वहाँ स्वर अब परिमाणात्मक रह गया है ध्वन्यात्मक नहीं है। इस का भाषा विज्ञान में कोई मूल्य नहीं है जब कि वैदिक स्वर भाषाविज्ञान में और शब्दों का अर्थ करने में महान् सहायक है।

८१ ऋग्वेद की सन्धि लौकिक सन्धि से अधिक स्वाभाविक और प्राचीनतर है। पदान्त न और च छ या त, थ के बीच में स् या म् का आगम ऋग्वेद में अल्पतर है और ऐतिहासिक है परन्तु लौकिक भाषा में यह आगम अनिवार्य हो गया है। पदान्त ए और ओ के पश्चात् ऋग्वेद में 'अ' बहुधा बना रहता है पूर्वरूप नहीं होता है। लोक में यह अ' नियमित रूप से पदान्त ए, ओ में एकरूप हो जाता है।

ऋग्वेद में छन्दःप्रयोग

८२ सम्पूर्ण ऋग्वेद पद्यात्मक है। प्रत्येक मन्त्र में सामान्यतः चार पाद होते हैं, परन्तु कुछ मन्त्र तीन पादों और पाँच पादों के भी हैं। कुछ ऋचाएँ

द्विपदा भी माना गया है यथा ऋ ५।२४।१। परन्तु एस स्थाना पर दान्दा मत्रा को मिना कर एकत्रन भा माना गया है। ऋग्वद में और आग सवत्र पाद (पा०—एक चौथाई भाग) छन्दा का इकाइ है। इन पादो में वहुधा आठ ग्यारह या वारह वण (एक वार में बाल्य जान वाला स्वर या स्वरसहित व्यन्जन) हाते हैं। सामायत मन्त्र के सब पाद एक समान हाते है परन्तु कुछ विरल प्रयुक्त छन्दा म विभिन्न परिमाण के पादा का सम्मिश्रण पाया जाता है। ऋग्वद में लगभग पन्द्रह छन्दा का प्रयाग पाया जाता है। इनमें से सात छन्दा का प्रचुर प्रयोग किया गया है। इन में भी त्रिष्टुभ गायत्रा और जगती प्रमुख हैं और ऋग्वद के लगभग दा तिहाई भाग म प्रयुक्त हुए हैं। त्रिष्टुभ में ग्यारह-ग्यारह वर्णो के चार पाद गायत्री में आठ आठ वर्णो के तीन पाद और जगता में वारह-बारह वर्णों के चार पाद हात हैं। प्रत्यक छन्द में चार चार वण वढान स अन्य छन्द बन जाता है। कई बार छन्दा म वण-सख्या कम पड जाता है। उस अवस्था में सधिच्छेद कर क अक्षरसख्या पूरी का जाती है। यथा विष्णानु क वीर्याणि प्र वोचम में वीर्याणि का वीरि आणि पढन स छन्द का पूर्ति का जाता है। ऋग्वदप्राति शाख्य के मत में अथ के अनुसार सन्धिच्छेद और पादा का आग-पाछ कर क मन्त्रा के छन्दा को बदला भी जा सकता है।[४९]

८३ वैदिक छन्दा में परिमाणात्मक लय पायी जाता है जिस म लघु और गुरु का वारी-वारा से प्रयाग किया गया है। पाद क अंतिम चार या पाच वर्णो का क्रम नियमित है। ग्यारह वारह तथा अधिक वर्णो वाल पादा

---

४८ इस कथन में छन्दा क अवान्तर भद प्राजापत्य दैव और आसुर छन्दा के विभागा का सम्मिलित नहा किया गया है। प्रातिशाख्य क एवविध छन्दाविस्तार का आधार मन्त्रा के अनकविध अथ है। इस विस्तार में छन्दा नामा को वेदाथ ज्ञापक सज्ञाएँ माना गया है। दखा ऋप्रा० १०।९-३१।
४९ वही १०।१४।

में यति भी होनी है। डा० मैक्डोनल का विचार है कि इस प्रकार वैदिक छन्द अवेस्ता के छन्दो और लौकिक संस्कृत के छन्दों के बीच के ठहरते हैं क्यों कि अवेस्ता में केवल वर्णसंख्या होती है और लौकिक संस्कृत में उन का परिमाण भी नियत होता है। परन्तु इन दोनों ही प्रकार के छन्दों में वैदिक छन्दों की-सी अर्थानुसारी योजना का अभाव पाया जाता है। अतिच्छन्दस विच्छन्दस भूरिक् विराट् और निचृत् छन्दों के लक्षणों से ज्ञात होता है कि परम्परा वैदिक छन्दों में वर्णसंख्या पर ही विशेष बल देती है वर्णपरिमाण पर नहीं।

८४ सामान्यत एक सूक्त में एक ही छन्द के मन्त्र मिलते हैं। कई बार सूक्तसमाप्ति पर एक मन्त्र भिन्न छन्द में भी पाया जाता है। कुछ सूक्तों में दो या तीन-तीन मन्त्रों के जोड़े भी पाये जाते हैं। युग्म मन्त्रों में भिन्न-भिन्न छन्दों के दो मन्त्र एक साथ प्रयुक्त होते हैं। इन्हें प्रगाथ कहते हैं। मण्डल ८ में इन का बाहुल्य है। तीन मन्त्रों के जोड़ा—तृचों में तीनों मन्त्रों का छन्द एक ही होता है। बहुधा यह छन्द गायत्री होता है।

ऋग्वेद का धर्म

८५ आधुनिकों के मत में ऋग्वेद के धर्म में विभिन्न देवताओं की पूजा प्रधान है। ये देवता मुख्य रूप से प्राकृतिक दृश्यों की पुरुषविध कल्पनाएँ हैं। वैदिक सूक्त इन्हीं देवताओं से की गई प्रार्थनाएँ हैं। इन के साथ सोम और घी की आहुतियाँ देनी भी अभीष्ट रही हैं। इस प्रकार यह धर्म बहुदेवतावादी है और ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीनतम सूक्तों में विश्वदेवतावादी (विराड्वादी) लक्षित होता है।

८६ ऋग्वेद में देवताओं की संख्या सामान्यत ३३ बतायी गयी है। इन्हें तीन क्षेत्रों—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में विभक्त किया गया है। प्रत्येक श्रेणी में ग्यारह ग्यारह देवता हैं। इन में मरुत् आदि सब देवताओं की गणना नहीं की गयी है।

८७ देवताओं का जन्म भी हुआ है। उन का आदि है। परन्तु वे सब एक साथ उत्पन्न नहीं हुए। ऋग्वेद में प्राचीन देवताओं का उल्लेख *आया है। कुछ देवताओं को अन्यों की सन्तति बताया गया है।* सोम पी कर अथवा अग्नि और सविता से सोम पा कर देवता अमर बने हैं। अतः पहले वे अमर नहीं—मर्त्य मानव थे।

८८ देवताओं को पुरुषविध रूप में वर्णित किया गया है। उन के शरीर के अंगों का बहुत वर्णन किया गया है। ये अंग विविध प्राकृतिक दृश्यों आदि के रूपकात्मक वर्णन हैं। उदाहरण के लिए सूर्य की किरणें ही उस के हाथ हैं और अग्नि की ज्वालाएँ हो उस की जिह्वा और शरीर के अंग हैं। कुछ देवता विशेषतः इन्द्र योधा के रूप में वर्णित किये गए हैं। अग्नि और बृहस्पति आदि कतिपय देवता पुरोहित बताये गये हैं। सब देवताओं के रथ हैं जिन्हें घोड़े खींचते हैं। कुछ देवताओं के रथों को अज अथवा अन्य पशु चलाते हैं। इन वाहनों से देवता आकाश में से होते हुए यज्ञ पर आते हैं। देवताओं और मनुष्यों का प्रिय भोजन दूध घी अन्न भेड़ बकरियों और ग्राम्य पशुओं का मांस है। ये वस्तुएँ देवताओं को यज्ञ में आहुति देकर भेंट दी जाती हैं। यज्ञ में आहुत पदार्थों को अग्नि स्वर्ग में देवताओं तक पहुँचा देता है। देवता स्वयं भी यज्ञ वेदी पर बिछी घास पर आ कर इन आहुतियों को ग्रहण करते हैं। देवताओं का इष्ट और मादक *पेय पदार्थ सोमलता का रस है। विष्णु का उच्चतम पद—तीसरा द्युलोक—* स्वर्ग देवताओं का निवास स्थान है। यहाँ वे सोमरस से तृप्त हो कर आनन्द का जीवन बिताते हैं।

८९ देवताओं के गुण अनेकविध हैं। इन में सर्वप्रधान उन की शक्ति है। वे महान् और परम शक्तिशाली हैं। वे प्रकृति को नियम में रखते हैं *और पाप की गुप्त शक्तियों को नष्ट करते हैं। उन का शासन समस्त प्राणियों* पर है। कोई उन के नियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता है। वे प्राणियों की आयु का मान करते हैं। मानव की कामनाएँ उन की कृपा से ही पूर्ण होती

है। देवता दयालु हैं और मनुष्यों को समृद्धि देते हैं। केवल एक रुद्र ही ऐसा देवता है जो उग्र स्वभाव है और हिंसा की प्रवृत्ति भी रखता है। देवता सत्य हैं। किसी को धोखा नहीं देते हैं। वे सच्चे और धार्मिकों के रक्षक हैं परन्तु पाप और अपराध को क्षमा नहीं करते हैं।

९० देवताओं का स्वरूप अभी पूरा विकसित नहीं हुआ है। अभी उन में से प्राकृतिक तत्त्वों का निराकरण नहीं किया गया है। अत उन का स्वरूप अनिश्चित और व्यक्तित्व से विहीन है। कई बार दो देवताओं की एक साथ स्तुति की जाती है और उन्हें समान गुणों से विभूषित किया जाता है। इन में से कुछ गुण तो एक देवता से ही सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे के क्षेत्र में बाह्य होते हैं। इस प्रकार समस्त देवताओं को समस्त गुणों से विभूषित करने की प्रवृत्ति से एक दूसरे से तादात्म्य की भावना सुगम हो गयी। ऋग्वेद के कतिपय अर्वाचीन मन्त्रों में यह भावना व्यक्त भी हुई है। परन्तु यह एकेश्वरवाद में कभी विकसित न हो सकी। एक सूक्त में अदिति और प्रजापति का समस्त देवताओं और प्रकृति से तादात्म्य बताया गया है।

देवताओं का वर्गीकरण

९१ समस्त देवताओं को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—१ द्युस्थानीय, २ अन्तरिक्षस्थानीय और पृथिवीस्थानीय। प्रथम वर्ग में द्यौ, वरुण मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, अश्विनौ, उषस् और रात्री आते हैं। इन्द्र, अपां नपात्, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य और आप अन्तरिक्षस्थानीय देवता हैं तथा पृथिवी, अग्नि और सोम पृथिवीस्थानीय।

प्रमुख देवता

९२ ऋग्वेद में ये देवता बहुत प्रमुख हैं और अनेकों सूक्तों के देवता हैं। वरुण ऋत का देवता है। वह पापियों को अपने पाश में बाँधता है।

मित्र सूय सवितृ और पूषन सूय के विभिन्न पक्ष हैं। उषस् उषाकाल की दवता है। यह प्रतिदिन आती है। पुरानी होते हुए भी सदा नयी है। इस के आन पर यज्ञ होत हैं। यह सूय की पत्नी और पुत्री है। इन्द्र ऋग्वेद में युद्ध का देवता है। यह वृत्र आदि राक्षसा का वध करता है और सात सिन्धुओ को मुक्त करता है। रुद्र सुखकारक भी है और पापियों को दण्ड देन वाला भी। यही आगे चल कर पौराणिक शिव में परिवर्तित हो गया है। सभवत इस के वर्णना के मूल में त्र्यम्बक—नारिकेल का पुरुषविध रूप भी हो।[५०] अग्नि का भौतिक रूप ही प्रमुख रूप से वर्णित हुआ है। यह विद्युत और सूय के रूप में भी आती है। यह हवियो को देवताओ के पास ले जाती है और यज्ञ का साधन है। सोम एक लता का रस है। जिसे पी कर इन्द्र असुरो को जीतता है और दवता अमर हो जाते हैं।

अल्पस्तुत देवता

९३ कुछ अल्पस्तुत देवता भी हैं। त्रित विद्युत् प्रतीत होता है। यह भारत ईरानी काल का है। मातरिश्वा स्वग से मनुष्यो के लिए अग्नि लाता है। पार्थिव देवताओ में सिन्धु विपाश और शुतुद्री आदि नदियाँ आती हैं। इन में सरस्वती सवप्रमुख है और बहुधा वर्णित हुई है। ऋग्वेद के समस्त वर्णनो में इस का नदीभाव कभी भी विस्मृत नहीं हुआ है।

अमूर्त देवता

९४ विचारो के विकास के साथ कतिपय अमूर्त दवताओ की भी कल्पना की गयी। ऐसे कुछ दवता तो प्रमुख देवताओ के विशेषण मात्र हैं जो कालान्तर में देवता के रूप में कल्पित कर लिये गये। धाता पृथिवी,

---

५० देखो सुधीरकुमार गुप्त काकोनट (त्र्यम्बक इन दी ऋग्वेद) इज दी ओरिजन औफ शिव कल्ट, आइआको० (म) १९४८।

द्युलोक, चन्द्र और सूर्य को बनाता है। विधातृ, धर्तृ, ऋतृ और नेतृ का वर्णन अल्पात्यल्प है। त्वष्टा का अनेक बार वर्णन हुआ है, परन्तु उस का कोई सूक्त नहीं है। वह देवशिल्पी है। उस ने इन्द्र का वज्र और चमस बनाया है। वह सोम का रक्षक और सरण्यु का पिता है। प्रजापति संसार का रचयिता है। विश्वकर्मन और हिरण्यगर्भ भी पहले विशेषण थे। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम—किस देव की हम हवि से सेवा करें' से हिरण्यगर्भ के विशेषण से देवता रूप मे विकसित होने का क्रम लक्षित होता है। बृहस्पति ही ऐसा देवता है जो ऋग्वेद के प्राचीन और अर्वाचीन दोनो भागो मे पाया जाता है।

९५ अमूर्त देवताओ के दूसरे वर्ग मे भाववाचक संज्ञाओ से बने देवता आते हैं। इन मे मन्यु 'क्रोध', श्रद्धा, अनुमति '(देवो की) अनुकूलता', अरमति 'भक्ति', सूनृता, असुनीति और निर्ऋति आते हैं। मन्यु के दो सूक्त हैं और श्रद्धा का एक।

देवियाँ

९६ एक अन्य अमूर्त देवता अदिति की ऋग्वेद में सर्वत्र ही स्तुति मिलती है। इस का प्रमुख कर्म भौतिक यन्त्रणाओ और नैतिक पापो से मुक्त करना है। वह आदित्यो की जननी है। दिति का केवल तीन ही बार नाम आया है।

९७ ऋग्वेद मे देवियो का स्थान अति गौण है। इन में सर्वप्रमुख उषा है। फिर सरस्वती का स्थान आता है। इस के दो सूक्त हैं। वाक् का एक सूक्त है। पृथिवी, रात्री और अरण्यानी के भी एक-एक सूक्त हैं। देवताओ की पत्नियों अग्नायी, इन्द्राणी और वरुणानी आदि का व्यक्तित्व नगण्य है। उन का कोई महत्त्व प्रतीत नही होता।

युग्म देवता

९८ ऋग्वद के धम की एव विशपता युग्म देवता हैं। य द्वद्व समास स व्यक्त किय गय हैं। दाना ही दवतानाम द्विवचन में प्रयुक्त हाते ह और एक दूसरे के वाचक ह। इन में सब से अधिक स्तुति मित्रावरुणा की हुई है। द्यावापृथिवी का नाम बहुत अधिक प्रयुक्त हुआ है। यह जाडा भायारोपीय युग का है।

संघ देवता

९९ देवताओ के कुछ अनिश्चित स समूह भी मिलते हैं। इन का किसी विशेष दवता से सम्बध हाता है। मरुतो का सम्बध इन्द्र स है। इन की सख्या सर्वाधिक है। आदित्या का नायक वरुण है। य सदैव अदिति के साथ वर्णित किय गय हैं। इन का सख्या सात है जा मातण्ड का गिनकर आठ हो जाती है। एक मन्त्र में इन म स छह का नाम आया है–मित्र अयमन भग वरुण दक्ष अश। सम्भवत सूय सातवा था। वसुओ का न व्यक्तित्व स्पष्ट है न उन की सख्या बतायी गयी है। इन का प्रमुख इन्द्र है। विश्व देवा–की स्तुति बहुत से सूक्ता में की गयी है। यद्यपि नाम से यह सब देवताओ का द्योतक मालूम होता है परन्तु अनक बार इन की स्तुति अन्य देवताओ यथा वसु और आदित्या के साथ की गयी है।

लघु देवता

१०० ऊचे और प्रमुख दवताओ के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ छाटे दवता भी ह। इन में प्रमुख ऋभु है जिन के ग्यारह सूक्त हैं। य अपन कौशल स ही देवता बन हैं। इन्हा न त्वष्टा के एक चमस को चार बनाया। इन्हा न अपन माता पिता को पुन जवान बनाया। इन के इन दोना और अन्य तीन चमत्कारा के अनकविध व्याख्यान दिय गय हैं।

१०१ ऋग्वेद में अप्सराओ का भी बहुधा उल्लेख मिलता है। य गधवपत्निया हैं। य एक से अधिक हैं परन्तु नाम केवल उवशी का ही आया है। गन्धव एक ही है जो अन्तरिक्ष म रहता है दिव्य सोम की रक्षा करता है और जलों से सम्बन्धित है।

रक्षक देवता

१०२ कुछ देवता रक्षक स्तर के भी हैं। वास्ताष्पति घरा का देवता है। वह घर में सुप्रवेश का दाता रोगा को दूर करनवाला रक्षक और समद्धि देन वाला ह। क्षत्रस्य पति पशु और घाड देता है और कुशलक्षम का स्वामी है। सीता से खेता और समद्ध कामनाएँ प्रदान करन के लिए प्राथना की गयी है।

पार्थिव वस्तु—देवता रूप में

१०३ प्रकृति के प्रमुख दृश्या के अतिरिक्त भूमि के विभिन्न स्वरूप और कृत्रिम पदाथ भी दवता रूप म कल्पित किय गय हैं। इन में पवता को अय देवताओ या अय प्राकृतिक वस्तुओ के साथ वर्णित किया गया है। ओषधियों का एक सूक्त है। य रोगा को दूर करती हैं। यन का वस्तुओ में यूप बर्हि द्वारो देवी ग्रावाण उखल और मुसल ह। ग्रावाण अमर अजर द्युलोक से भी अधिक समथ और राक्षसा तथा नाश के अपहन्ता हैं। वम इषु इषुधि धनुष और ढाल की भी एक सूक्त में स्तुति की गयी है।

असुर

१०४ ऋग्वेद में वर्णित असुर दो प्रकार क हैं—१ ऊँचे और शक्तिशाली असुर देवताओं के आकाशीय शत्रु हैं। इन्हें असुर बहुत कम कहा गया है। दास या दस्यु से इन्हें बहुधा पुकारा गया है। यह नाम सामान्यत भारत के आदि निवासियों के मान जाने हैं। ऋग्वद में देवासुर युद्ध नियमित

रूप से एक देवता और एक असुर में ही होता है यथा इन्द्र और वत्र का सग्राम। वृत्र का ही सर्वाधिक उल्लेख आया है। उस की माता दानु है। दूसरा शक्तिशाली असुर वल है। यह गौओ की अपधा (गुफा वाला) का ही पुरुपविध रूप है। यह इस अपधा की रक्षा करता है। अगिरस आदि अपने सहायको के साथ इन्द्र इस बाड से गायो को निकालता है। इन्द्र के अय शत्रु राक्षसो में से अर्बुद एक दुष्ट हिंसक पशु है। इन्द्र इस की गौओ को छीन लेता है। विश्वरूप त्वष्टा का पुत्र है। इस के तीन सिर हैं। त्रित और इन्द्र इसे मार कर इस की गौओं को छीन लेते हैं। स्वर्भानु सूय को निगलने वाला है। कुछ अय दास भी हैं जिन्हें इन्द्र मारता है। राक्षसो का एक वग पणि इन्द्र का प्रमुख शत्रु है। इन्द्र सरमा (एक कुतिया) की सहायता स उन के स्थान को खोज कर उस मे गौओ को छुडाता है।

१०५ दूसरे वग में पार्थिव राक्षस आते हैं। य मनुष्यो के शत्रु है। इन का सामाय नाम रक्षस है। इन का वणन सामायत किसी देवता के साथ आता है। यह देवता इन राक्षसो का वध करता है। यातु और यातुधान अनेक बार राक्षसो के साथ वणित हुए ह। सभवत य गुप्तचर हो। पिशाचो का ऋग्वेद म वणन विरल है।

१०६ लगभग तीस सूक्तो में देवताओ की स्तुति आदि से भिन्न विषय मिलते हैं। इन में से लगभग एक दजन सूक्तों में जादू और तान्त्रिक क्रियाओ का वणन है। य अधिकाश रूप में दशममण्डल तक ही सीमित हैं। इन के विषय शकुन (२।४२–४३) विषापनयन (१।१९१) रोग की निवृत्ति (१०।१६३) बच्चो के हिंसक राक्षस के नाश (१०।१६२) शत्रुओ के लिए दुर्भावना (१०।१६६) या सपत्नीमदन (१०।१४५) हैं। कुछ सूक्तो में आयुरक्षा (१०।५८ ६०) निद्रा लाना (५।५५) या सन्तति प्राप्त करना (१०।१८३) का वणन है। एक सूक्त (७।१०३) में मण्डूको की स्तुति है जो वर्षा के लिए की जाती है।

ऋपि दयानन्द का मत

१०७ इस के विपरीत ऋपि दयानन्द ने बडे जोरदार शब्दा मे इस बात की घोपणा की है कि ऋग्वेदीय धर्म एक ईश्वर की पूजा का विधायक है।[५१] अपने वेदभाष्या में इन्हो ने अग्नि[५२] सविता [५३] इन्द्र, [५४] और वरुण[५५] आदि पदा का परमात्मा अर्थ किया है। अपने भाष्या में आप ने कही भी यह भाव नही झलकने दिया है कि वेद मे अग्नि देवता, सूर्य देवता, वर्षा देवता, आधी देवता आदि किन्ही देवताओ की सत्ता है। आप ने अग्नि और सूय का अर्थ क्रम से आग,[५६] और सूरज,[५७] अवश्य किया है परन्तु उन का अथ प्रकाश और गरमी पहुँचाने वाले आग और सूय ही है। ससार में भिन्न २ ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए मनुष्यों को उन का समुचित प्रयोग करना चाहिए।[५८] उदाहरणत भौतिक अग्नि के या बिजली के रूप में कलो मे आग का प्रयोग अतुलनीय सम्पत्ति प्रदान कर सकता है।[५९] सूय की किरणों का प्रयोग स्वास्थ्य और रोगा से मुक्ति प्रदान कर सकता है और उस का कलो आदि मे प्रयोग समृद्ध बना देता है।[६०]

---

५१ सत्यार्थ प्रकाश (कल्कत्ता) पृ० ११४, भूमिका पृ० ५४, ८३। ५२ ऋ० १।७४।१ २, आदि। ५३ ऋ० १।२२।८। ५४ ऋ०।१।३।५। ५५ ऋ० १।२५।३। ५६ ऋ० १।५०।३। ५७ ऋ० १।२३।१७ ५८ ऋ० १।१२।७ ८। ५९ ऋ० १।१२।१, ७, ८, इत्यादि। ६० ऋ० १।२।६। इत्यादि।

१९-१-१९५२ के ट्रिब्यून के अङ्क में पृ० ५, कालम ५ (नीचे) पर एक समाचार के अनुसार डा० प० जवाहरलाल नेहरू ने १७-१-१९५२ को बनारस मे एक सभा में भापण देते हुए कहा था कि भारत में कुछ वैज्ञानिको ने भोजन पकाने के लिए सूर्य की शक्ति के प्रयोग का उपाय खोज निकाला है और प० जी ने स्वय इस प्रकार पके हुए भोजन का स्वाद चखा है।

निर्वचन

१०८ ऊपर के लेखों से सुस्पष्ट है कि आधुनिक सम्प्रदाय का विचार है कि वेदों में अनेक देवी-देवताओं की उपासना का विधान है।[६१] आचार्य मैक्समूलर के विचार में वैदिक धर्म हिनोथीयिस्टिक (Henotheistic) है।[६२] उन के मत से यद्यपि ऋग्वेद में अनेक देवताओं को मान्यता दी गयी है तो भी प्रत्येक आप अन्यों से स्वतन्त्र रूप में वर्णित किया गया है। पूजा या प्रार्थना के समय एकमात्र वह देवता ही भक्त के मन में उपस्थित होता है। कोई भी देवता अपने पद में ऊँचा या नीचा नहीं माना गया है। पूजा के समय प्रत्येक देवता को सत्य परम और एकमात्र देवता (as a real divinity as supreme and ab olute) के रूप में अनुभव किया जाता है।[१]

१०९ प्रो० मक्डानल इस विशेषता को वैदिक कवियों की अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति का परिचायक मानते हैं।

११० आपको यह बलात मानना पड़ा है कि वैदिक देवताओं का पुरुषाकार परिच्छेदात्मक वर्णन और चरित्रगत व्यक्तित्व से हीन है। वे अभी किञ्चित मात्र ही विकसित हुए हैं। उन के व्यावर्तक गुण बहुत कम हैं। परन्तु उन में कान्ति शक्ति परोपकारिता और बुद्धिमत्ता आदि बहुत से समान गुण पाये जाते हैं। अनेक बार एक देवता की विशेषताओं को दूसरे देवता में भी बताया गया है। इस से एक देवता के दूसरे देवता से तादात्म्य सम्बन्ध की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। यह प्रवृत्ति ऋग्वेद में बहुधा पायी जाती है (उदाहरणार्थ देखो ऋ० ५।३।१)। अपि च-अग्निपूजक ब्राह्मणों की दृष्टि

६१ देखो गुरुदत्त विद्यार्थी दी टर्मीनालौजी आफ वेदाज़ एण्ड यूरोपियन स्कालर्ज प० ४९।

६२ लैक्चर्ज आन दी साइन्स ओफ रिलीजियन प० १४१–१४२।

६३ एन्शियन्ट संस्कृत लिट्रेचर पृ० ५३३।

में परम महत्त्वशाली देवता अग्नि के स्वरूप पृथ्वी पर भिन्न भिन्न अग्नियों के रूपों में उस की विविध अभिव्यक्तियों बिजली में प्राप्त अंतरिक्षस्थ अग्नि तथा सूर्य में प्राप्त दिव्य अग्नि उस के अन्य रूपों—जिन का वैदिक कवि पहेलियों में उल्लिखित करने की बड़ी रुचि रखते हैं—पर रहस्यपूर्ण विचार से यही प्रतीति होती है कि विभिन्न देवता एक ही दिव्य सत्ता के विविध रूप हैं। यह भाव ऋग्वेद के अर्वाचीन सूक्तों के अनेकों वाक्यों में पाया जाता है। ऐसे कथन बताते हैं कि ऋग्वेद काल की समाप्ति तक ऋषियों के बहुदेवतावाद में एकेश्वरवाद का पुट लग चुका था।[६४]

१११ श्री मैक्समूलर और श्री मैक्डोनल द्वारा दिये गये वैदिक धर्म के विवरण की समालोचनात्मक परीक्षा तथा विश्लेषण यह व्यक्त कर देते हैं कि तथाकथित वैदिक देवताओं की कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं है। उन का एक दूसरे से तादात्म्य है तथा उन में गुणों की समानता है। अतः ऋग्वेद के देवताओं के नाम एक ही दिव्यशक्ति परमात्मा के ही विविध नाम हैं। वही शक्ति ऋषियों की भिन्न भिन्न रुचियों तथा भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण इन विभिन्न नामों से आकारित की गयी है। इस तथ्य को इन दोनों विद्वानों ने समझ लिया है। अतः उन्होंने घोषणा की है कि देवताओं की इस सारभूत एकता अथवा वैदिक धर्म की एकेश्वरवादिता का ऋषियों द्वारा स्पष्ट उल्लेख शिष्ट सूक्तों की अपेक्षा अर्वाचीन है।

११२ ऋ० १।१६४ का दर्शन अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में दीर्घतमा औचथ्य ने ऋ० १०।११४ का अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में वैरूप सध्रि ने ऋ० ५।३।११ का भूम की तीसरी पीढ़ी में वसुश्रुत आत्रेय ने किया था। भूम का पुत्र अत्रि अनेक बार अङ्गिरा की तीसरी पीढ़ी में भरद्वाज का समकालीन वर्णित किया गया है। अतः भूम अङ्गिरा की दूसरी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। यह सम्भव है कि वह अङ्गिरा का समकालीन ही हो। इस

६४ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर पृ० ७०

प्रकार वसुश्रुत अङ्गिरा की चौथी पीढ़ी के बाद का नहीं हो सकता। अत समस्त दवताओं की एकता के स्पष्ट रूप से सूचक और प्रख्यापक ये तीन सूक्त और उन के मन्त्र बहुत से उन सूक्तों से प्राचीनतर और कुछ के समकालीन हैं जिन में प्राकृतिक दृश्यों के पुरुषाकार का वर्णन माना जाता है। अत वैदिक धर्म न बहुदेवतावादी (*Polytheistic*) हो सकता है न विश्वदेवतावादी (Pantheistic) और न तात्कालिक देवतावादी (Henotheistic)। इस की एकेश्वरवादिता।

> 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद् वदन्ति ।
> यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥'[६५]

आदि उपनिषद् वाक्यों, वेदान्त सूत्र (१ १ ४) तथा अन्य ग्रन्थों में जोरदार शब्दों में प्रतिपादित की गयी है। इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि पद परमात्मा के ही भिन्न भिन्न रूप हैं—इस तथ्य के घोषक मन्त्र चारों सहिताओं में बिखरे पड़े हैं। इस सम्बन्ध में विश्वामित्र के पिता गाथी कौशिक द्वारा दृष्ट ऋ० ३।२०।३[६६], अंगिरा की चौथी पीढ़ी के भृगु के गाद लिये

---

६५ कठोप० २।१५, श्वेताश्वतरोप० ५।६ भी देखें।

६६ ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का विषय 'विद्वांस कथ वर्तेरन्' दिया है परन्तु उन का भाष्य बताता है कि यहाँ पर परमात्मा का वर्णन है। 'देव' पद का हिन्दी अनुवाद अशुद्ध है। 'पृष्टबन्धो' के सस्कृत और हिन्दी अनुवाद में विषमता प्रतीत होती है। मेरी प्रवृत्ति भावार्थ की भावना के आधार पर हिन्दी अनुवाद को ही शुद्ध मानने की ओर है। प्रकरण के उपयोगी पद 'भूरीणि अमृतस्य नाम' है।

६७ इस मन्त्र का दयानन्द का व्याख्यान इस से भिन्न है। यह अनुवाद ग्रिफिथ आदि आधुनिक विद्वानों का है, जो प्रकृत कथन को प्रमाणित कर रहा है।

हुए पोते गृत्समद द्वारा दृष्ट ऋ० २।१।३[६७], य० ३२।१, और अर्व० १३।४ (१)।४,५ का विशेषतया उल्लेख किया जा सकता है। ऋग्वेद के दोनो मन्त्र ऋग्वेद काल के प्राचीनतम युग के हैं।

११३ प्रो० बेट्टी हाइमेन का विचार है कि प्रारम्भिक विचारक की दृष्टि को पदार्थों की एकता की अपेक्षा उन की विषमता ही अधिक प्रभावित करती है। वह प्राकृतिक दृश्यो मे परम सत्ता का अनुमान नही कर सकता। ऋग्वेदीय धर्म यद्यपि कुछ विकसित हो चुका है तो भी उस में एक से अधिक देवता है। तथाकथित ऋग्वेदीय एकेश्वरवादिता के मुख्य आधार ऋ० १।१६४।४६ मे "दो, बल्कि तीन पद हैं जो विशेष रूप से हमारे मन मे इस शिक्षा के लिए एकेश्वरवादी परिभाषा कल्पित करने के औचित्य पर सशय उत्पन्न कर देते हैं। प्रथम तो यहा पर देवता के किसी व्यक्तिगत रूप को नही वरन् नपुसक सद् एकम् को वास्तविक आधार बनाया है। दूसरे हम इस बात की उपेक्षा नही कर सकते कि यहाँ पर यह माना गया है कि यह मुख्य आधार (नपुसक) अनेक रूपों (बहुधा) मे व्यक्त हुआ माना गया है। चाहे कुछ भी हो इसी कथन के द्वारा ऋग्वेदीय धर्म की स्थिति में प्रारम्भिक एकेश्वरवाद की भावना व्यावर्तित हो जाती है।[६८]

११४ भाषावैज्ञानिको तथा भारतीय साहित्यशास्त्रियो ने यह माना है कि अपनी मातृभाषा के पदो को सीखने समय एक बालक पहले विषमता के स्थलो का व्यावर्तन कर के भिन्न भिन्न पदार्थो के अन्तर्गत एकता के या समानता के सूत्रो को पकड़ता है। वह धीरे-धीरे ही दो पदार्थों के भेद को देख और समझ सकता है। इस लिए जब वह आग, सूर्य, दीपक अथवा अन्य किसी प्रकाशमान वस्तु को देखता है तब वह उन सब के समान गुण—चमक या प्रकाश—से ही प्रभावित होता है। जब वह एक गाय, घोड़े या भैंस को

---

६८ ऐनल्स औफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट अक स० २८, १९४७ कैथोनोथियिज्म एण्ड दानस्तुतिज्ञ।

देवता है तब वह उन के समान गुण चतुष्पादत्व से ही प्रभावित होता है। प्रत्येक अवस्था में वह समान गुण वाले भिन्न-भिन्न पदार्थों को एक ही समझता है।

११५ इसी प्रकार सृष्टि के प्रारम्भ में मानव ने अग्नि, सूर्य और तारे आदि सभी पदार्थों के समान गुणों का ही अवलोकन किया हो सकता है। अपने ज्ञान की प्रथम अवस्था में उस ने उन्हें नियत रूप से समान माना होगा। पीछे जैसे-जैसे उसका ज्ञान बढ़ा उस ने भिन्न-भिन्न पदार्थों में भेद किया होगा। इस प्रकार यह समानता ही है विषमता नहीं जिस ने मानव के चिन्तन की प्रथम अवस्था में उस के मन को ग्रहण किया हो सकता है। सभ्य और सस्कृत लोगों में भी जब दो पदार्थ किसी मनुष्य के सामने लाये जाते हैं तो उन की समानताएँ तुरन्त ही उस के मन को आकर्षित कर लेती हैं। भेद का भाव क्रम से पीछे आता है और आयाससाध्य होता है। यह ठीक है कि अधिकांश अवस्थाओं में यह आयास मनुष्य की अव्यक्त चेतना में होता है और इसी लिए प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले व्यक्ति को इस का सप्रयास ज्ञान नहीं होता है। अत तथाकथित मूल-एकेश्वरवाद (Urmonotheism) ही प्राचीनतम प्रारम्भिक धर्म की एकमात्र आधारभूत विशेषता हो सकती है।

११६. ऋग्वेदकालीन मानव सभ्यता और सस्कृति के मार्ग पर बहुत दूर पहुँच चुका था। उस ने मूल-एकेश्वरवाद, विश्वदेवतावाद तथा बहुदेवतावादों की अवस्थाओं को पार कर लिया था। उस ने प्रकृति के दृश्यों और पदार्थों की सारभूत एकता को मालूम कर लिया था उस ने इस एकता के स्वरूप पर भी विचार कर लिया था। वह उसे न पुल्लिङ्ग कह सकता था न स्त्रीलिंग और न ही नपुसक लिंग। ऋ० १।१६४।४६ के 'सद् एकम्' में नपुसक लिङ्ग इसी अनुभव का परिचायक है। यह भाव ऋ० ८।३०।१; श्वेताश्वतर उप० ४।३ और ५।१० में व्यक्त किया गया है। पानी और हवा के समान वह विभिन्न रूपों को धारण करता है। अत वह प्रत्येक व्यक्ति को उस के अपने विचारों के अनुसार भिन्न रूप वाला प्रतीत होता है।

इस लिए विभिन्न व्यक्ति उस का भिन्न भिन्न ही वर्णन करते हैं। प्रो० हाइमेन की अनेक रूपों में अभिव्यक्ति तथा भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न वर्णनों के परिच्छेदात्मक रूप को समझने में भ्रान्ति हुई है। मन्त्र में ऐसी कोई व्यञ्जना नहीं है जैसी श्री हाइमेन ने निकाली है। इस का यथार्थ भाव यही है कि परमात्मा एक केवल एक ही है। ये मनुष्य ही हैं जो उस को भिन्न रूपों में वर्णित करते हैं।

११७ आधुनिक विद्वानों के ऋग्वेदीय धर्म के सम्बन्ध में विचारों का आधार उन की यह कल्पना ही है कि ऋग्वेद काल में मनुष्य अभी बहुत ही अविकसित अवस्था में था। इस कल्पना ने ही वेद और अन्य ग्रन्थों की प्राचीन साहित्यिक परम्परा की प्रभूत साक्षी को ठुकराया है। यही कल्पना वैदिक ग्रन्थों में एकान्ततः अविद्यमान देवताओं के नामों के अर्थ में अग्नि और सविता आदि के ज्ञान के लिए उत्तरदायी है। अतः इसे निराधार होने का कारण त्यागना और दयानन्द के विचारों को यथार्थ मान कर ग्रहण करना ही उचित है।

ऋग्वेद में लौकिक सामग्री

लौकिक सूक्त

११८ मुश्किल से कोई बीस सूक्तों में लौकिक (–धर्मेतर) सामग्री मिलती है। इन से भारत की प्राचीनतम संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। इन में से एक विवाह सूक्त (१०।८५) है, पाँच सूक्त (१०। १४–१८) मृत्युविषयक हैं। इन में से पहले चार में मृत्यु के देवताओं का वर्णन है और अन्तिम में शव के संस्कार के विषय में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

संवादसूक्त

११९ ऋग्वेद में कतिपय पौराणिक संवाद सूक्त भी आये हैं। इनमें वक्ता दिव्य प्राणी हैं (४।६२, १०।५१-५२, ८६, १०८)। दो सूक्तों में मानव ही पात्र हैं। पुरूरवस् और उर्वशी सूक्त (१०।९५) में उर्वशी के प्रेमी पुरूरवस् के आत्मगत विचार हैं। इस में उस कहानी का प्राचीनतम रूप है जिस को कालिदास ने विक्रमोर्वशीय में गुम्फित किया है। एक सूक्त (१०।१०) यम और यमी का संवाद है, जिन्हें सामान्यतः मानव जाति के आदि माता-पिता और परस्पर में भाई-बहन माना जाता है।[69] ये संवादसूक्त आगे आने वाले नाटकों का प्रारूप कहे जा सकते हैं।[70]

---

६९ दस० ने इस में नियोग का वर्णन माना है। यमी उन के अनुसार यम की बहन नहीं है, बल्कि कोई अन्य स्त्री है।

७० देखो सुधीर कुमार गुप्त, संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, १०। ७–१३।

नीतिसूक्त

१२० य सख्या म चार हैं। एक (१०।३४) म एक जुआरी का जुआ खेलने से बिगडी हुई अपनी दशा का चित्रण है। एक (९।११२) में मनुष्यो की लक्ष्मी के पीछे दौड एक (१०।७१) म वाणी की प्रशसा एक (१०। ११७) म शुभ कर्मों की सराहना के चित्रण मिलते हैं।

पहेलियाँ

१२१ दो सूक्तो म पहेलिया हैं। एक (८।२९) में नामो को छिपा कर बिभिन्न देवताओ का वणन किया गया है। एक ५२ मन्त्रो के सूक्त (१।१६४) में अनका समस्याएँ रक्खी गयी हैं जिन म से अधिकाश को डा० मैक्डोनल सूय से सम्बन्धित बताते हैं। इन का भाषा रहस्यात्मक और प्रतीक रूप है। उदाहरण के लिए एक समान वृक्ष पर स्थित दो पक्षी ईश्वर और जीव हैं और वृक्ष प्रकृति।

सृष्टिसूक्त

१२२ लगभग आध दजन सूक्तो म ईश्वर द्वारा सष्टिरचना का वणन है। नासदीय सूक्त (१०।१२९) में सष्टि से पहले सत और असत की सत्ता का निषध कर अपन सामथ्य से विद्यमान एक सत का वणन किया गया है। उसी से यह सष्टि उत्पन्न हुई है।

दानस्तुतियाँ

१२३ कुछ सूक्त और मन्त्रा म दानस्तुतिया हैं। य अध एतिहासिक है। इन से वैदिक ऋषियो और उन के आश्रयदाताओ की वशावलियो और कुछ जातियो के नामो का पता मिलता है। य अर्वाचीन हैं। इन में से अधिकाश प्रथम दशम और ८ वें मण्डल के परिशिष्ट भाग म उपलब्ध होती हैं।

भौगोलिक सामग्री

१२४ ऋग्वेद में वर्णित भौगोलिक परिस्थितियाँ, विशेष रूप से नदी सूक्त से आधुनिक विद्वान् यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ऋग्वेद की रचना के समय वैदिक आर्यजन पंजाब और पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर प्रान्तों के प्रदेश में रहते थे। वनस्पतियों और पशु-पक्षियों के निर्देश से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

१२५—परन्तु ऋग्वेद के ऋषि सरयू से परिचित थे। इस का उल्लेख चौथे, पाँचवें और दसवें मण्डल में एक एक बार आया है। नदी सूक्त में वर्णन पूर्व से पश्चिम की ओर चलता है। यह गंगा से प्रारम्भ होता है। अतः मन्त्र रचनाकाल में आर्य उत्तरप्रदेश के बहुत से भाग में अवश्य स्थित थे। यदि पूर्व उद्धृत सी-१४ के अणुशक्ति के परीक्षण के निष्कर्षों को स्वीकार किया जाए तो उस समय आर्य मध्यप्रदेश में भी फैल चुके थे। यह अन्तिम निष्कर्ष अभी अध्येतव्य है।

ऐतिहासिक सामग्री

१२६—ऋग्वेद में प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री से यह सुव्यक्त होता है कि आर्य अभी भारत के आदि निवासियों से युद्ध में व्यस्त थे। वे अनेकों विजय प्राप्त कर चुके थे और विजेता के रूप में आगे बढ़ रहे थे। यद्यपि वे अनेकों जनों में विभक्त थे परन्तु उन में धार्मिक और जातीय एकता की भावना प्रबल थी। वे यहाँ के निवासियों को यज्ञ न करने वाले, नास्तिक, कृष्ण वर्ण, अनार्य दास वर्ण कहते थे।

१२७—परन्तु यह मत विचारणीय है। जैसा इस संग्रह में इन्द्रसूक्त में दिखाया गया है कृष्ण और दास वर्ण पारिभाषिक पद हैं और सृष्टि से पूर्व के" अन्धकार के द्योतक है। ऋग्वेद में दास हेय नहीं हैं वे आर्यों के

७१ देखो ऊपर पाउ० भूमिका—शूद्रों की स्थिति।

समान स्तर के ही प्राणी है। अत इस समस्या पर पुन नई दृष्टि से विचार आवश्यक है।

सामाजिक अवस्था

१२८—सूक्तों में इधर उधर बिखरी हुई सामग्री से तत्कालीन सामाजिक अवस्था पर काफी प्रकाश प्राप्त होता है। वश मे पिता सर्वोपरि होता था। कुटुम्ब ही समाज की इकाई और आधार थे। स्त्रियों को बहुत स्वतन्त्रता और सम्मान प्राप्त थे। बहुत से अपराधो का भी वर्णन मिलता है जिन मे पशुओ की चोरी प्रमुख थी। ऋण लेने की प्रथा भी थी। इस का एक कारण जुआ खेलना भी था। वस्त्रो मे एक उत्तरीय और एक अधोवस्त्र होते थे। ये भेड की ऊन से बनाए जाते थे। कडे नूपुर हार और बालियाँ पहनी जाती थी। लोग डाडी-मूछ रखते थे। कुछ उन्हे मुडवाते भी थे। भोजन सामग्री मे दूध घी अन्न सब्जियाँ और फल प्रमुख थे। आधुनिक कतिपय विद्वान मानते है कि जब यज्ञो म पशुओं की बलि दी जाती थी तभी आर्य लोग मास खाते थे। डा० मैक्डोनल का विचार है कि सामान्यत यह मास गौ का होता था क्या कि यज्ञो मे बैलो की ही बलि विशेष रूप से दी जाती थी। परन्तु यह विचार मान्य नही। वेद मे कोई ऐसा स्थल नही जहा निर्विवाद रूप से ऐसी ध्वनि निकाली जा सके।[७२] पशुयज्ञ आलकारिक है।[७३] हवन की सामग्री भी पशु है।

१२९—दो प्रकार की शराब भी बनाई जाती थी। सोम यज्ञो में

७२ देखो सुधीरकुमार गुप्त, ऋग्वेद में मास भक्षण की समस्या, वेद सम्मेलन, खुरजा अधिवेशन (सक्षेप) तथा मीएमडी०, मीट ईटिंग इन दी ऋग्वेद।

७३ वेभाप० ६।

पिया जाता था परन्तु किसी अन्न से निकाली हुई शराब सुरा सामान्य अवसरों पर प्रयोग की जाती थी। परन्तु यह मत समीक्षणीय है। एक मन्त्र में (ऋ० १।११६।७) में सुरा शराब नहीं हो सकती यह अश्व के शफ से निकाली जाती है। शेष स्थलों पर इसे बुरी दृष्टि से देखा गया है (तु० कु० दुर्मदासो न सुरायाम्)।

व्यवसाय

१३०—भारतीय आर्यों की एक प्रमुख व्यापृति युद्ध थी। यह युद्ध पैदल भी होता था और रथ पर भी। परन्तु ऐसा कोई वर्णन नहीं है कि घोड़ों पर चढ़ कर भी युद्ध किया जाता था। सामान्य शस्त्र बाण और धनुष थे। भाले और कुल्हाड़ी का भी प्रयोग किया जाता था।

१३१—जीवन का प्रधान आधार पशुपालन प्रतीत होता है। अनेक बार गौओं की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाएँ की गई हैं। कृषि भी बहुत होती थी। खेतों में हल चलाए जाते थे। इन में बैल जोते जाते थे। अन्न दरातियों से काटा जाता था और कूट कर साफ किया जाता था।

१३२—हिंसक वन्य पशुओं को जाल में पकड़ा जाता था या धनुष। और बाण से मार दिया जाता था। इस में कुत्तों की भी सहायता ली जाती थी।

१३३—नौकाओं को पतवारों से खेया जाता था। नौका ही नदी तरण का प्रमुख साधन थी। वाणिज्य विनिमय द्वारा होता था जिस का साधन गाय थी। मैक्डानल के विचार में कुछ व्यवसाय और शिल्प कलाएँ अविकसित रूप में थे। परन्तु ऋभुओं के रथ और चमस के निर्माण, त्वष्टा और वृबु तक्षा के कार्यों की दृष्टि में यह कथन मान्य नहीं। रथकार और बढ़ई एक ही होते थे। लुहार लोहे को भट्टी पर पिघलाते थे और इस से धातु के बर्तन आदि बनाते थे। चमार पशुओं के चमड़े को

साफ करते थे। स्त्रियाँ घास या मूज की चटाई बनाती थी। वे सीती और बुनती भी थी।

मनोविनोद

१३४—मनोविनोदो में रथो की दौड प्रमुख थी। सर्वप्रिय सामाजिक विनोद द्यूत क्रीडा था। नाच अधिकत्तर स्त्रियो में प्रचलित था। लोग सगीत के प्रेमी थे। वे दुन्दुभि, वीणा और बाण का प्रयोग करते थे। गाने का भी उल्लेख मिलता है।

ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्यांकन

१३५—सामान्य रूप से ऋग्वेद सरल शैली में लिखा गया है। इस में सामान्यत समासो का अभाव है। जो समास हैं उन मे दो से अधिक पद नहीं मिलते है। शब्दो का चुनाव कौशलपूर्ण है। समस्या-मन्त्रो को छोड कर सामान्यत भाव-प्रकाशन में क्लिष्टता और दुरूहता नही है। शब्दो से खिलवाड भी लक्षित नहीं होती है। ग्रन्थ की प्राचीनता की दृष्टि से यह मानना पडेगा कि छन्दो की रचना मे महान् कौशल है और भाषा पर पूरा अधिकार है। इस ग्रन्थ की रचना का लक्ष्य यज्ञ में मन्त्रो को प्रयुक्त करना था। उस काल में याज्ञिक रीतियाँ बहुत सरल थी। वे पर्याप्त विकसित हो चुकी थी। अत इसके मन्त्रों में बहुश उपलब्ध याज्ञिक सकेतो ने इस काव्य के सौदर्य को बिगाड दिया है। यह स्थिति अग्नि और सोम के सूक्तो में सविशेष परिलक्षित होती है। यहा पर मिथ्या कल्पनाओ और अस्पष्ट रहस्यमय कथनो का प्रबल प्रभाव है। देवताओ की स्तुतियो में बहुत सुन्दर और उदात्त कल्पनाएँ मिलती हैं। यद्यपि विभिन्न सूक्तो मे साहित्यिक गुणो में पर्याप्त भेद है, परन्तु सामान्यत इस ग्रन्थ का साहित्यिक स्तर पर्याप्त ऊँचा है।

१३६—उषस् सूक्त ऋग्वेद के सुन्दरतम अगो में से हैं। ये अन्य साहित्यो की धार्मिक गीतियो से किसी अवस्था में अवर नही है। इन्द्रवृत्र

युद्ध के वणन में कतिपय विस्मय रोचक वणन मिलते है। मरुत्सूक्तों में स्तनयित्नु विद्युत् और वात्यावात के दृश्यों के वणन में ओजस्वी कल्पनाएँ पाई जाती है। वरुण के नैतिक शासन के विविध रूपो के वणन में काव्य का उत्कृष्ट राग ओतप्रोत है। कुछ पौराणिक सवादसूक्त स्थिति की परम ललित भाषा में प्रस्तुत करते है यथा सरमा और पणियो तथा यम और यमी के सवादों में। अक्षसूक्त करुणकाव्य का सुन्दर रत्न है। एक सूक्त (१०।१८) में मृत्यु से सम्बन्धित भावो का प्रभावोत्पादक और गम्भीर सौंदय से पूण भाषा में व्यक्त किया गया है। नासदीय सूक्त से सुव्यक्त हो जाता है कि गूढ दार्शनिक भाव भी उत्तम काव्य का विषय बन सकते हैं।

१३७—यद्यपि ऋग्वेद में पुनरावृत्ति बहुत है। वे ही शब्द और भाव पुन पुन आते हैं परन्तु उस में विरसता नहीं आने पाई है।

१३८—आधुनिक वेदाध्ययन ऋग्वेद को साहित्यिक काव्य मानता है। इस दृष्टि से यह मूल्याकन ठीक है। परन्तु ऋग्वेद की भाषा शुद्ध साहित्यिक है यह और कुछ नहीं ऐसा मानना कठिन है। ऋग्वेद के पुनरुक्त अशो का व्यावतन शैली पर अध्ययन बताता है कि वैदिक पद कृत्रिम हैं वे जान-बूझ कर रची गई परिभाषा है जिन को सामान्य काव्य के पदो के सदृश मानना कदाचित् पूणत समीचीन न हो। परन्तु उन पदो की योजना इस विलक्षण ढग से की गई है कि आपातत मन्त्र काव्य के पद मालूम पडते है और उन में काव्य का महान आनन्द भी प्राप्त होता है।

ऋग्वेद की व्याख्यान पद्धति

१३९—वेद की व्याख्यापद्धति की समस्या वैदिक काल में ही जन्म ले चुकी प्रतीत होती है। आधुनिक अध्ययन में यह मान कर चला जाता है कि वेद ऋषियों की इसी प्रकार की रचनाएँ हैं जिस प्रकार की रचनाएँ कवियो के काव्य होते है। वे किसी एक अथ को स्पष्ट करके लिखे गये।

अत उन का एक ही अर्थ मिग्ना और होना चाहिए। परन्तु जब ब्राह्मणों पर दृष्टि डालते है तो वहां अग्नि, इन्द्र आदि पदों के अनेकविध अर्थ दिए गये है। इन अर्थों में आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक दृष्टियों के साथ-साथ ऐतिहासिक और नैरुक्त आदि सिद्धान्तो का प्रयोग भी लक्षित होता है। शाखायन आरण्यक में चित्र देवानाम् मन्त्र के लगभग १३ दृष्टियों से अर्थों का उल्लेख किया है। निघण्टु में वदिक पदो का सकलन, विशेषत पदनामो का सग्रह वेदाध्ययन में सहायता पहुँचाने के लिए किया गया। निरुक्तकार ने बहुत से वेदार्थ के सम्प्रदायो-नैरुक्त, ऐतिहासिक आख्यान समय पूर्व याज्ञिक याज्ञिक नैदान परिव्राजक आर्य आदि का उल्लेख किया है। उन के मत भी दिए है और उन की आलोचना भी की है। साथ ही औपमन्यव शाकटायन शाकपूणि, स्थौलाष्ठीवि आदि अनेको वेद व्याख्याताओ के नाम और उन के मतो का निर्देश किया है। वहा कौत्स के नाम से मन्त्रों के अर्थहीन होने का विवाद प्रस्तुत कर मन्त्रो की सार्थकता और उन के अध्ययन की उपयोगिता बताई है। वेदार्थ करने के लिए यास्क स्कन्द और वेंकट माधव ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदार्थ करने के नियम भी दिये है। वेंकटमाधव ने तो वेदार्थ की समस्या को स्पष्ट शब्दो में स्वीकार कर वेदार्थ का एक नया सम्प्रदाय—ऐतिहासिक-पौराणिक चलाया।

१४०—पिछली शताब्दी में जब पश्चिमी विद्वानो को ऋग्वेद का परिचय मिला तो उन को उसे समझने में बड़ी कठिनता हुई। उस से पूर्व वे लौकिक सस्कृत से परिचित थे। परन्तु यह भाषा वेद की भाषा से साम्य रखते हुए भी उस से अनेक बातो मे भिन्न है। सौभाग्य से उन्हें सायणाचार्य का वेदभाष्य मिल गया और उस की सहायता से ऋग्वेद का अध्ययन चालू हो गया। पहले तो विद्वानों ने समझा कि सायण ने परम्परा के अनुसार अर्थ दिए है। अत विल्सन आदि ने उस के आधार पर अपने अर्थ प्रस्तुत किए।

१४१—परन्तु शीघ्र ही इस धारणा के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इस प्रतिक्रिया के प्रमुख नायक रौथ थे। इन्हों ने सायण के बहिष्कार

का नारा लगाया। उन्हों ने दिखाया कि सायण और यास्क के अर्थ विश्वसनीय नहीं हैं क्या कि उन का प्रमुख आधार व्याकरण की प्रक्रिया है। सायण वैदिक काल से बहुत दूर के युग में हुए। उन को अविच्छिन्न परम्परा नहीं मिली हो सकती। सायण ने यास्कीय निरुक्त को आधार और प्रमाण बनाकर अपना भाष्य रचा है परन्तु बहुत से मन्त्रा के अर्थ में यास्क स्वय निश्चयात्मक रूप से नहीं लिख सके हैं और इस कारण वहा एक-एक पद के कई-कई अर्थ भी दिए हैं जैसे जातवेदस के पाच अर्थ। उस का कोई प्रामाणिक आधार नहीं था। उस ने बहुत से आचार्यों और वेदार्थ सम्प्रदाया को उद्धृत किया है जिन में परस्पर महान् मतभेद लक्षित होता है। नासत्यौ का व्याख्यान और्णवाभ ने सत्य असत्य नहीं आग्रायण ने सत्य के प्रणेता और स्वय यास्क ने नासिका से उत्पन्न किया है। जब यास्क सन्देह म होने हैं तो वे निर्वचन का आश्रय लेने हैं। उन के व्याख्यान बहुधा कल्पनामात्र है। यह अवश्य है कि सायण की अपेक्षा यास्क के पास वेदव्याख्यान के अधिक अच्छे और विश्वस्त साधन रहे होंगे।

१४२—सायण ने अपने भाष्या में कई वार यास्क से भिन्न अर्थ किया है। इन दोनों में से एक ही शुद्ध हो सकता है। अत या तो यास्क भूल करते हैं अथवा सायण ने परम्परा का उल्लघन किया है। सायण ने एक ही पद के एक ही स्थान पर अथवा विभिन्न स्थलों पर एक दूसरे से भिन्न व्याख्यान दिए है—यथा असुर दिव्य सत्ता के अर्थ शत्रुओं का नाशक, शक्तिदायक जीवन देनेवाला अनिष्ट का नाशक पुरोहित प्राणहारक जलप्रद जल निकाल लेनेवाला आदि दिए हैं।

१४३—अत सायण और यास्क ऋग्वेद के बहुत से पदा के विषय में निश्चित ज्ञान से वञ्चित थ। इस कारण उन अर्थों की सम्भावना प्रकरण और समान वाक्यों से पुष्ट होने पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

१४४—इस प्रकार सायण और यास्क के अर्थों का तिरस्कार और

बहिष्कार कर के भाषाविज्ञान के प्रवतक रौथ ने आलोचनात्मक शैली का प्रतिपादन किया। उन्हा ने प्रकरण व्याकरण और निर्वचन की दृष्टि में रूप और भाव में समान समस्त पदा की सूक्ष्म तुलना रूप अन्त साक्षी पर अर्थनिणय का माग निकाला। इस में लौकिक सस्कृत से तुलना करते हुए वैदिक भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन और भाषाविज्ञान तथा अवेस्ता मे प्राप्त सामग्री का प्रयोग स्वीकार किया। इस शैली के क्रियात्मक प्रयोग मे रौथ ने भारतीय परम्परा को साक्षियों की उपेक्षा की और निर्वचन पर विशेष बल दिया है।

१४५—रौथ की इस शैली के विरुद्ध भी एक प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। पिश्चल, गल्डनर और सीग आदि ने वैदिक सूक्तो को विशुद्ध भारतीय माना और उन के अथ को प्रत्यग्वैदिक साहित्य और उस में वर्णित परम विकसित सस्कृति से सम्बद्ध किया।

१४६—डा० मैक्डोनल लिखते है कि आधुनिक समालोचनात्मक वेदाध्यायी को केवल वही सामग्री उपलब्ध नही है जो परम्परागत शैली के पण्डित को सुलभ थी जिस पर वह शोध की तुलनात्मक और ऐतिहासिक शैली का प्रयोग कर सकता है, प्रत्युत आज उस के पास ऐसी बहुमूल्य सहायक *सामग्री है जो प्राचीन परम्परा को उपलब्ध नही थी। यह सामग्री अवेस्ता,* तुलनात्मक भाषाविज्ञान, तुलनात्मक धर्म और पुराण (माइथोलौजी) तथा नृवशविद्या (ऐथ्नौलौजी) है। यह आशा की जाती है कि आलोचनात्मक शैली और उपलब्ध समस्त सामग्री के निष्पक्ष प्रयोग से ऋग्वेद के अधिकाश भाग की अस्पष्टता और दुर्बोधता दूर हो जायेगी।[७४]

१४७—यह नई शैली कर्मप्रधान (औब्जैक्टिव) अभीष्ट है, परन्तु क्रियात्मक प्रयोग में यह व्यक्तित्व प्रधान है। वस्तुत आधुनिक वेदाध्ययन

७४. वैरी० पृ० XXX—XXXI

में व्यक्तित्व की कतिपय मीमांसा में सूची छूटी है। इस में वैदिक विषयों के व्याख्यान विद्वानों ने अपनी अपनी भावनाओं के अनुरूप किए हैं। डा० आर० एन० दाण्डेकर ने बहुत ठीक कहा है कि वेदाध्ययन में विद्वानों ने वेद की उत्पत्ति और स्वरूप के सम्बन्ध में धारणाओं के अनुरूप विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए ए० बर्गने वेद और आख्यान में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते हैं। अरविंदघोष का विचार है कि वेद रहस्यवादी और प्रतीकात्मक रचना है। जे० हौवेर वेद का अर्थ अवेस्ता के रहस्यवादी और दार्शनिक व्याख्यान द्वारा करना चाहते हैं। आ० कु० स्वामी वेदाध्ययन में रहस्यवादी अध्ययन और संसार की रहस्यवादी रचनाओं का पूर्णज्ञान विशेष आवश्यक समझते हैं। वे इस अध्ययन में उपनिषदों का विशेष महत्त्व स्वीकार करते हैं। डा० वा० श० अग्रवाल अध्यात्मविद्या के अनुसार वेदार्थ करना चाहते हैं। डा० फतहसिंह ने दार्शनिक पृष्ठभूमि पर व्याख्यान किया है।

१४८—तुलनात्मक भाषाविज्ञान विभिन्न भाषा० भाषाओं में समान पदों की तुलना कर के उन के समान भावों का अध्ययन करता है और उन समान भावों को मूल अर्थ मान कर उन के आधार पर वेदार्थ करता है। उदाहरण के लिए सं० अग्नि लैटिन इग्निस सं० वरुण और ग्रीक आरेनास के अर्थ क्रमशः आग और वरुण ही हो सकते हैं। परन्तु ये निष्कर्ष तभी यथार्थ और प्रामाणिक हो सकते हैं जब सब देशों और जातियों में एक सी अनुकूल प्राकृतिक धार्मिक सामाजिक राजनैतिक दार्शनिक—संक्षेप में सांस्कृतिक परिस्थितियों में भाषा का विकास हुआ हो। वह भाषा का विकास भी एक निश्चित स्तर पर निश्चित अवधि में निश्चित नियमों के अनुसार हुआ हो। अन्यथा भाषाविज्ञान के समस्त निष्कर्ष कल्पनामात्र रहेंगे। यदि वे परम्परागत अर्थों को पुष्ट करते हैं तो ठीक अन्यथा वे त्याज्य ही हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। भाषाओं के विकास की भौतिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ और गतियाँ समान नहीं हैं। शब्दों के अर्थों का

सम्पत्ति मे ह्रास और वृद्धि होते है। नये अर्थो का विशेष परिस्थितिया में शब्द के प्रयोग से पूर्व एक भाषा में विकास हो जाता है। दूसरी भाषा मे वे परिस्थितियाँ उत्पन्न ही नही हुई तो वह अर्थ वहाँ मिल ही नही सकता।

१४९—भाषाविज्ञान का वेदार्थ विषय मे प्रयोग भी बडे अनुचित रूप में *किया गया है। प्रो० राजवाडे और डा० प्राणनाथ का भाषा विज्ञान के* आधार पर वेदमन्त्रो का अर्थ उपहासास्पद ही कहा जा सकता है। भाषा-विज्ञान के नियमो के आधार पर वेदमन्त्रो के मूलरूप के निर्माण का पादरी एस्टलर का प्रयास ठीक ऐसा ही है जैसा कि यह कहा जाए कि तुलसीदास और शेक्सपियर, कालिदास और गेटे आदि महाकवियो की भाषा मे बहुत विकार आ गया है, उस को समझने के लिए उस का मूल स्वरूप निर्माण करना आवश्यक है।

१५०—वेद के पद परम कृत्रिम है। वे साहित्यिक नही। उन की परिभाषाएँ भाषाविज्ञान से नही सुलझ सकती। उदाहरण के लिए मृत्यु के अपैण्डिसाइटिस नामक रोग, क्षीर के फटे दूध का पानी, मण्डूक के प्राण, सिन्धु के धमनी, वरुण के कराम और सविता के यकृत् अथ भाषाविज्ञान देने में असमर्थ रहा है। वेद मे 'एक पद का एक ही अर्थ हो सकता है' के भाषाविज्ञान के नियम ने बडी समस्याएँ उत्पन्न की है। इस को समझने के लिए वृष पद के प्रयोगो पर दृष्टि डाली जा सकती है।

१५१—डा० वूलनर के मत मे भाषाविज्ञान से और तुलनात्मक शैली पर अर्थ करने के लिए ज्योतिष, भूगभ विद्या, मानवविज्ञान प्रागितिहास, लोक साहित्य, पुरातत्त्व और भाषाशास्त्र के निष्कर्षो और उन के आधारो का साक्षात् ज्ञान परम अनिवार्य बताया है। परन्तु प्रयोग मे इस सिद्धान्त का स्थान नगण्य है।

१५२—आधुनिक शैली में भारतीय परम्परा की घोर उपेक्षा की जाती है। इस कारण मन्त्रो और पदो से असम्बद्ध भावो की उन मे कल्पना की गई

है। वेद का इन्द्र ईरान का रुस्तम बना दिया गया है, इन्द्रसेना नल और दमयन्ती की पुत्री और शिश्नदेवा लिंगपूजकों का नाम।[75]

१५३—डा० देशमुख ने दिखाया है कि अवेस्ता[76] प्रत्यग्वैदिक ग्रंथ है। *उस का कोई अंग अपरिवर्तित रूप में—मूलरूप में उपलब्ध नहीं है।* पिछला ईरानी धर्म वेद में उपलब्ध भारतीय-ईरानी धर्म से भिन्न है। अवेस्ता में इसी पिछले धर्म और अर्वाचीन सामग्री की प्रधानता है। अवेस्ता की भाषा में भी अन्तर आ गया है। वैदिक देव और असुर अवे० के दइव और *अहुर से भिन्न ही कहे जा सकते हैं। वेद में अवेस्ता के अहुरमज्दा के समान* कोई देवता नहीं है। वहाँ वैदिक द्यौ और वरुण नहीं के बराबर है। अवेस्ता में कोई ऐसा वाक्य नहीं जो पूरा मन्त्र हो। भाषाविज्ञान के आधार पर विभिन्न कल्पनाओं को जन्म मिला है। जरथुष्ट्र जरदष्टि, जरद्-उष्ट्र, जरत्-त्वष्टा से सम्बद्ध किया गया है। वैसे भी अवेस्ता का अर्थ भी अनिश्चित प्राय है। स्वयं अवेस्ता के अर्थ करने के लिए वेदाध्ययन आवश्यक माना गया है।

१५४—तुलनात्मक आख्यान, मानव और धर्म विज्ञानों का लक्ष्य सब धर्मों में समानता और विषमताओं के कारणों की खोज करना है। इन में वेदार्थ गौण स्थान रखता है। साथ ही यहाँ वेद को किसी भावविशेष को खोजने के लिए पढ़ा और व्याख्यान किया जाता है। वह निष्पक्ष अध्ययन

---

७५ देखो सीएमडी०, दी मैथड ओफ इण्टरप्रेटेशन ओफ दी वेदाज़।

७६. यह पारसियों की धर्म पुस्तक है और उन को इसी प्रकार मान्य है जैसे हिन्दुओं को वेद। यह ईरानी धर्म संस्थापक जरथुष्ट्र की रचना मानी जाती है। इस की भाषा वैदिक संस्कृत से मिलती-जुलती है। भावों में भी दोनों में महान् साम्य प्रतिपादित किया गया है।

नही है। उदाहरण के लिए वदिक ऋत और अत का एक मानना तथ्या का तिरस्कार करना है।

१५५—इतिहास और पुराण को भी इतिहास-पुराणाभ्या वेद समुपबहयत्। बिभत्यल्पश्रुताद वेदो मामय प्रहरिष्यति ॥[77] के लेख के आधार पर वेदाथ म महायक माना गया है। निरुक्त में इतिहास और आख्यान पद ममानाथक है। अथववेद में पुराण सृष्टिविद्या का द्योतक है। यदि इम पद्य म य अथ अभीष्ट है तब ठीक है। परतु मामायत पुराण से १८ पुराण और इतिहास से उन म तथा अयत्र वर्णित लौकिक इतिहास समझा जाता है। उन से वेदाथ असम्बद्ध और जटिल हो जाता है। उदाहरण के लिए ऋ० १।३१।११ म ऋषि हिरण्यस्तूप अपन से छै पीढिया के पश्चात होने वाले आय का वणन करने हैं। आख्याना की वैदिक पष्ठभूमि मे भी वेदाथ म कोई महायता नही मिलती है। हा यह सम्भव है कि पौराणिक आख्यानो का भाव खोला जा सके।[1]

१५६—प० च द्रमणि पालीरत्न ने पाली भाषा की महायता से वेदाथ करने का सुझाव दिया है। परन्तु उन के समस्त उदाहरणा म कोई एसा नही जो वेदाथ पर काई नवीन प्रकाश डालता हो। वस्तुत यह भाषाविज्ञान के अन्तगत हा है। अत इस के निष्कष पोषक प्रमाण के रूप में परम महायक हो सकत हैं।

---

७७ वसिष्ठ धमसूत्र २७।६।

७८ देखो सुधीरकुमार गुप्त—ऋग्वेद में इतिहास नही ऋग्वेद का धम म सकलित।

७९ हमारी मेघदूत की वैदिक पष्ठभूमि और उस का सास्कृतिक सन्देश में कुछ पौराणिक आख्याना का व्याख्यान किया गया है।

८० देखो चद्रमणि वदाथ करन की विधि।

१५७ कुछ विद्वानों का विचार है कि वेदमन्त्रों का प्रधान लक्ष्य यज्ञ में विनियोग है। अत मूलत उन का याज्ञिक व्याख्यान अभिप्रेत है। निरुक्त में भी ऐसे दो सम्प्रदाया—पूर्वे याज्ञिक और याज्ञिकों का निर्देश है। दोनों सम्प्रदायों में यह अन्तर स्पष्ट लक्षित होता है कि पूर्वे याज्ञिकों के व्याख्यानों में कर्मकाण्ड का पुट पर्याप्त कम है। अत यज्ञ 'हवन आदि' वेदमन्त्रों का प्रमुख विषय या लक्ष्य नहीं। वास्तव में वेद में यज्ञ पद बहुत व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वह प्रत्येक कल्याणकारी ज्ञान, कर्म और भाव आदि का द्योतक है।

१५८—ऋग्वेद के पुनरुक्त अशों से वेदार्थ और ऋषियों की अभीष्ट वेदार्थशैली पर पुष्कल सामग्री मिलती है। इन अशों में उपलब्ध पर्यायवाची पदों के समानार्थक होने का आधार निर्वचन है। वहाँ स्वतन्त्र रूप में भी कतिपय निर्वचन दिये गये हैं। ऋषि, देवता और छदों के नाम साधारण पद हैं, व्यक्तिवाचक सज्ञाएँ नहीं हैं। वहाँ समस्त देवों में एकता है। सर्वत्र एक सत् की ही भावना पाई जाती है। शाखाओं में यह शैली अक्षुण्ण रूप में पाई जाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में इस शैली का विस्तार और क्रियात्मक प्रयोग दिया गया है। उपनिषदों, पदपाठ, वेदागों, अनुक्रमणियों, छ दर्शनों और स्मृतियों में भी यही शैली परिलक्षित होती है।

१५९—परम्परा की अविच्छिन्नता भी एक विचित्र पद समूह है। आज भी रहस्यवादी कविताओं के भी एक से अधिक अर्थ निकलते हैं। किस भावना को ले कर कवि ने रचना की है, यह बात समस्त पाठकों को ज्ञात नहीं होती है। इस का यह अर्थ नहीं कि अर्थ की परम्परा विच्छिन्न हो गई है। विभिन्न विद्वान् अपनी-अपनी भावनाओं से अनुप्राणित हो कर अर्थ करते हैं और इन अर्थों का विस्तार और प्रसार उन की शिष्य परम्परा से होता रहता है। कवि स्वय व्याख्या नहीं करते हैं। यदि करते हैं तो श्रोताओं की ग्रहण और विस्तार शक्ति के अनुरूप काव्यार्थ का विकास और ह्रास होता रहता है। यही स्थिति प्राचीन साहित्य, विशेषत ब्राह्मण ग्रन्थों और निरुक्त में

उपलब्ध वेद व्याख्यानों की है। वहाँ विभिन्न आचार्यों के विभिन्न दृष्टियों से अर्थ मिलते हैं। आदि से ही वेद को परम कृत्रिम रचना बनाया गया। उस की परिभाषाओं को उस से सम्बन्धित निकटतम साहित्य से ही जाना जा सकता है। उदाहरण के लिए हिरण्यपाणि—ज्योतिर्मय, नासत्यौ=नासिकाप्रभवौ=प्राण और अपान के भावों को ब्राह्मण ग्रन्थ ही स्पष्ट करते है।

१६०—अत वेदमत्रो में प्राप्त वेदार्थ शैली—जिस का शाखा सहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यको, उपनिषदो, निरुक्त, दर्शन, स्मृति, अनुक्रमणियों और वेदागो मे विस्तार किया गया है, तथा जो निर्वचन प्रधान है—ही अवलम्बनीय है। शेष सब सामग्री पोषक प्रमाण के रूप में ही प्रयोज्य है। वेंकट माधव ने एक नई शैली—ऐतिहासिक पौराणिक का सूत्रपात किया है। अत इस के भाष्य का प्रयोग परम सावधानी की अपेक्षा रखता है।

प्रस्तुत संग्रह के देवताओं का स्वरूप

विष्णु का स्वरूप

१६१—वेद की व्याख्यान शैली के अनुरूप विष्णु आदि देवताओ का स्वरूप भी बदल जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने विष्णु को यज्ञ, सोम अन्न, वीर्य, प्रादेशमात्र गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सब देवो का द्वाररक्षक, आशाओ (=दिशाओ) का पति, यज्ञ के दुरिष्ट का रक्षक, श्रोत्र, पुरुष और यूप आदि समझा है। दयानन्द सरस्वती इसे परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि, विद्युत्, शिल्पविद्याव्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जय, व्यान, सेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ समझते है। सामान्यत इसे √विश् व्याप्त होना से व्युत्पन्न किया जाता है।[८१]

१६२—परन्तु आधुनिको की दृष्टि एकदम भिन्न है। इस दृष्टि मे ऋग्वेद में विष्णु का स्थान गौण है। इस की स्तुति केवल पाँच सूक्तो में की गई है। इस के पुरुषविध रूप और वर्णन भी अल्प है। वह तीन पद चलता है। वह विशालकाय युवा है, बच्चा नही है। इस का प्रमुख कर्म तीन पदक्रमण है। इसी कर्म के लिए उसे उरुक्रम (विस्तृत पदो वाला) और उरुगाय (दूरदेशगामी) कहा गया है। इन तीन चरणो से वह समस्त पार्थिव लोकों को पार कर लेता है—'पार्थिवानि विममे रजांसि'। इस के दो पद मानवो को दिखाई देते हैं, तीसरा उच्चतम पद पक्षियों के उडान और मनुष्यो की पहुँच के परे है। इस का परम पद द्युलोक में नेत्रवत् जमा हुआ है। यह परम प्रकाशमान है—'परममवभाति भूरि'। यह पद उस का

---

८१. देखो आगे मस० १।१।

प्रिय निवास है—तदस्य प्रियमभि पाथ'। पुण्यात्माएँ और देवता यहाँ आनन्दमग्न रहते हैं—नरो यत्र देवयवो मदन्ति । विष्णु के ये तीन पद सूर्य की तीनों लोकों—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में गति का वर्णन करते हैं।

१६२ अ—विष्णु चक्र के समान अपने ९० घोड़ों (=दिनों) को उन के चार नामों (=चार ऋतुओं) के साथ घुमाता है। इस प्रकार वह वर्ष के ३६० दिनों का नियामक है। आदि में यह सूर्य की गति का ही पुरुषविध रूप रहा होगा। विष्णु इन पदों को जनहित के निमित्त चलता है। इन से मनुष्यों की स्थिति बनी रहती है और रहने के लिए पृथिवी रूप घर मिलता है।

१६३—विष्णु के गौण रूपों में से प्रमुख कर्म उस की इन्द्र से मैत्री है। वह बहुधा इन्द्र की वृत्रवध में सहायता करता है। विष्णु सूक्तों में केवल इन्द्र ही निपात देवता है। एक सूक्त में दोनों की सम्मिलित स्तुति की गई है। इन्द्र का सहायक होने के नाते विष्णु की इन्द्र के साथी मरुतों के साथ एक सूक्त में स्तुति की गई है।

१६४—इस सग्रह में सकलित सूक्त में टिप्पणियों के अनुसार विष्णु सृष्टि के पहले भी विद्यमान एक मन' है। वह सृष्टि रचना के लिए प्रकृति के परमाणुओं का स्थूल और रजोगुण प्रधान बनाता है—'य पार्थिवानि विममे रजांसि । इन गतिशील बने हुए परमाणुओं को वह जीवात्मा के सम्पर्क में लाता है—यो अस्कभायदुत्तर सधस्थम् । वह प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों से सब कुछ का व्याप्त कर देता है—'विचक्रमाणस्त्रेधोरुगाय'। तथा 'यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।' वह खोजने योग्य (मृग), सौम्य (न भीम), वाणीरूप (कुचर) वह हृदयों में स्थित है (गिरिष्ठा)। उस की प्राप्ति गुरु और उपदेशकों से ज्ञान प्राप्त कर के ही हो सकती है—'ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै अत्राह तदुरुगायस्य परमं पदमवभाति भूरि॥'

इन्द्र का स्वरूप

१६५—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इन्द्र को परमेश्वर, सूर्य, वायु, विद्युदादिपरमैश्वर्ययुक्त विद्वान्, विद्वान् सभाध्यक्ष, जीव, राजा, सेनाध्यक्ष, ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए कर्म करने वाला पुरुष, न्यायाधीश, शूरवीर, योधा, प्राण, दुष्ट शत्रुओं का नाशक, दुःखों का नाशक, अग्नि, स्तनयित्नु, पृथिवी पर राज्य देने वाला, ऐश्वर्यप्राप्ति, विद्युद्रचित शस्त्र आदि समझा है। ब्राह्मण ग्रंथों में इसे तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, क्षत्र, अशनि, ब्रह्म, प्रजापति, देवलोक, वीर्य, शिश्न, उद्गाता, और अश्व आदि कहा है।

१६६—इस की व्युत्पत्तियां अनेकविध है। सब में √इन्द् धातु से व्युत्पत्ति ही अधिक आदरणीय है।[८२]

१६७—आधुनिक दृष्टि से यह वीर देवता ऋग्वेद में सर्वप्रमुख है। इस के सूक्त सब से अधिक हैं। यह वैदिक आर्यों का राष्ट्रीय देवता है। यह सब देवताओं से अधिक पुरुषविध वर्णनों से युक्त किया गया है। आख्यानिक कल्पनाएँ भी इसी के सूक्तों में सर्वाधिक समृद्ध है। मूलत यह घोर तूफानी वर्षा और गर्जन का देवता है। यह अन्धकार के राक्षस का हनन कर के जलों और प्रकाश की किरणों को मुक्त करता है। अपने गौण रूप में यह युद्ध का देवता है और आर्यों को अनार्यों से युद्ध में सहायता दे कर उन्हें विजय दिलाता है।

१६८—उस के शारीरिक अगों का बहुधा वर्णन किया गया है। सोम पीकर वह अपने जबड़ों और श्मश्रु को गति देता है। उस के पेट का भी बहुधा वर्णन किया गया है। उस का रग हरा (हरि) है। उस के बाल

---

८२. देखो आगे मम० ७।१४

और डाढी मूछ भी हरे है। वह वज्रबाहु और वज्रहस्त है। यह वज्र बिजली ही है। वज्र ही इन्द्र का एकमात्र आयुध है। इस वज्र को त्वष्टा ने लोहे (आयस) का बनाया था। यह सुनहरी, तीक्ष्ण और अनेकों धाराओ वाला है। कभी-कभी इन्द्र को धनुष और बाण से युक्त भी कहा गया है। वह अकुश भी रखता है।

१६९—उस का रथ सुवर्णमय है। उस मे दो घोड (हरि) जोते जात है। वह रथष्ठा योधा है। य रथ और घोड ऋभुओं न बनाए थे।

१७०—साम इन्द्र का अभिमत पेय पदार्थ है। इस के बराबर और कोई देवता साम नही पीता। इसी लिए यह सोमपा है। सोम उसे युद्धों के लिए उत्साह और शक्ति देता है। वृत्र को वध करने के लिए वह तीन कद्रु (तालाब) सोम पी जाता है। एक सूक्त (१०।११९) मे सोम की मस्ती म इन्द्र अपनी शक्ति और महिमा की उदघोषणा करता है।

१७१—बहुधा उसे उत्पन्न हुआ कहा गया है। दो सूक्तों मे उस के जन्म का वर्णन किया गया है। उस का पिता द्यौ मालूम होता है। कुछ मन्त्रो मे वह त्वष्टा प्रतीत होता है। अग्नि और पूषन इन्द्र के भाई है। उस की पत्नी इन्द्राणी है। मरुत इन्द्र के प्रमुख सहायक हैं। वह इसी लिए मरुत्वान इन्द्र कहलाता है। युग्मों में अग्नि विष्णु वायु सोम, वरुण, बृहस्पति पूषा और विष्णु के साथ इन्द्र की स्तुति की गई है।

१७२—इन्द्र बृहदाकार है। वह दस गुना पृथिवी से भी अधिक बडा है। देवता और मनुष्य उस की सामर्थ्य की सीमा को नही पहुँच पाते है। कोई देवता उस के समान नही है। इसी कारण उसे शक्र शचीवान शचीपति और शतक्रतु कहा गया है।

१७३—सोमपान से समर्थ हो कर मरुतो के साथ वह अनावृष्टि के प्रमुख असुर वृत्र पर आक्रमण करता है। वृत्र को बहुधा अहि भी कहा

गया है। इस युद्ध के समय द्युलोक और पृथिवीलोक काँप उठते हैं। वह वृत्र को वज्र से मार कर अप्सुजित् कहलाता है। यह युद्ध पुनः पुनः होता है। इस के फलस्वरूप जल मुक्त हो जाते हैं। ये जल बहुधा पार्थिव हैं। कभी-कभी आकाशस्थ और द्युलोकस्थ भी बताए गए हैं। बादल ही पर्वत, अद्रि या गिरि हैं जहाँ वृत्र रहता है। जलों को गौ भी कहा गया है और जल युक्त बादलों को भी। बादलों को ही उत्स कबन्ध और काश कहा गया है। वे आकाशीय असुरों के पुर हैं। ये पुर गतिशील हैं शारदी, लोह या पत्थर के बने हुए और ९०,९९ या १०० हैं। इन्द्र इन्हें नष्ट करता है। इन कर्मों के कारण वह पूर्भिद् और वृत्रहन् कहलाता है।

१७४—वृत्रवध से प्रकाशप्राप्ति का भी सम्बन्ध बताया गया है। वृत्र को मार कर जलों को मुक्त कर के इन्द्र सूर्य को आकाश में ऊँचा चमकाता है। अनेक बार वृत्र के युद्ध का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। केवल इन्द्र को प्रकाश लाने वाला ही कहा है। वह उषस् और सूर्य को उत्पन्न करता है और इन से अन्धकार को अनावृत कर देता है।

१७५—इन्द्र अनेक महान् सृष्टिकर्मों का सम्पादक भी है। वह चञ्चल पर्वतों और पृथिवी को स्थिर करता है—'यः पृथिवीं व्यथमानाम दृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।' वह दृति के समान द्युलोक और पृथिवीलोक को पृथक्-पृथक् धारण करता है। उस ने एक क्षण में असत् को सत् बना दिया। कई बार द्युलोक और पृथिवीलोक के पृथक्करण और धारण को वृत्रवध का परिणाम भी बताया गया है।

१७६—योधा इन्द्र की बहुधा स्तुति करते हैं—'यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते। समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवन।' वह आर्यवर्ण की रक्षा करता है।—'आर्यं वर्णमावत्' और दास वर्ण को वशीभूत करता है—'दासं वर्णमधरं गुहाकः'। उस ने ५० ००० कृष्ण वर्णों का वध किया, दस्युओं को आर्यों के अधीन कर के उन्हें भूमि दी।

१७७—इन्द्र भक्ता का रक्षक, सहायक और मित्र है—'य सुन्वन्तमवति य पचन्त य शसन्त य शशमानमूती'। वह उन्हें धन देता है—'य सुन्वते पचते वाज दर्दर्षि।' इसी लिए वह मघवा है।

१७८—वह उषस् के रथ का भजक है। वह सूर्य के घोडा को रोकनेवाला है। वह सोम को जीतता है। श्येन उसी के लिए स्वर्ग से सोम लाता है।

१७९—ऋग्वेद मे सुदास आदि के लिए पार्थिव शत्रुओ से युद्ध करने की कथाएँ भी इन्द्र से सम्बद्ध की गई है।

१८०—इन्द्र के विशेष गुण प्राकृतिक जगत् पर शासन और भौतिक उत्कर्ष है। वह उत्साही कर्मो में उग्र दुर्धर्ष योधा, मानव जाति को खुले मन से समृद्धि देने वाला है। साथ ही वह इन्द्रियासक्त और कुछ दृष्टियो से अनैतिक भी है। वह अत्यधिक खाने-पीने वाला है। अपने ही पिता त्वष्टृ का वध करता है। वह वरुण से भिन्न स्वभाव का है। वरुण ऋग्वेद मे शान्ति, ऋत और व्रता का व्यवस्थापक है।

१८१—इन्द्र प्राग्भारतीय है क्यों कि अवेस्ता मे यह एक राक्षस है। वहाँ भी वेरेत्रघ्न (=वृत्रहन्) विजय का देवता है यद्यपि वह इन्द्र से सम्बन्धित नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत ईरानी काल मे वैदिक इन्द्र के अनुरूप एक वृत्रहन्ता देवता था।

१८२—इस सग्रह के सूक्त मे इन्द्र विष्णु, और पुरुष के अनुरूप स्रष्टा और धर्ता के रूप में वर्णित किया गया है। वह सृष्टि के पहले से विद्यमान है। मनस्वी और अपनी सामर्थ्य से देवों को प्रकाश देने वाला है—'देव देवान् क्रतुना पर्यभूषत्'। वह सृष्टि के पहले के प्रकाश के अवरोधक अन्धकार को नष्ट कर के समस्त परमाणुओ मे गति लाता है और सृष्टि रचना करता है—'येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दास वर्णमधर गुहाक'। वह द्युलोक,

पृथिवीलोक, जल आदि, चारों वर्णों और समस्त प्राणियों का शासक है। जो पापी और नास्तिक हैं उन्हें उन के पुण्यों के क्षय द्वारा धीरे धीरे नष्ट करता है—'य शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान'। वह ही वनस्पतियों को उगाता और बढ़ाता है—'यो रौहिणमस्फुरद्'।

पुरुष का स्वरूप

१८३—यह पुरुष सूक्त का देवता है। यह सूक्त दार्शनिक है और सृष्टिरचना विषयक छः सूक्तों में से एक है। इस में देवता सृष्टि यज्ञ करते हैं। इस यज्ञ की सामग्री पुरुष स्वयं है। यहां सृष्टि को यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है जिस में पुरुष ही बलि का पशु है। उस के शरीर से काटे गये अंग ब्रह्माण्ड के अंग बन जाते हैं।

१८४—इस सूक्त के भाषा और विषय स्पष्ट इंगित करते हैं कि यह सूक्त अर्वाचीन है। इस को तीनों वेदों का ज्ञान है। यह उन का नाम लेता है और ऋग्वेद में पहली बार चारों वर्णों का उल्लेख करता है। इस में धार्मिक दृष्टि भी प्राचीन भागों से भिन्न है। यह विराड्वादी है—'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्'।

१८५—इस संग्रह की टिप्पणियों के अनुसार पुरुष बहुविध शक्तियों से युक्त है। वह धारक और ग्रसन शक्तियों से संसार में व्याप्त रहता है। यह ब्रह्माण्ड उस का चतुर्थांश है। तीन चौथाई भाग अमर और मानव की पहुँच से बाहर है। पुरुष से विराट् उत्पन्न होता है परन्तु दोनों में श्रेष्ठ पुरुष ही रहता है—'विराजो अधि पूरुषः'। पुरुष सृष्टि की साधक शक्तियों—जीव और प्रकृति के द्वारा अपने को साधन बना कर सृष्टि करता है। उसी से सब पशु आदि भौतिक पदार्थ और ऋग्वेदादि ज्ञानमय पदार्थों की उत्पत्ति होती है। जब उस ने यह सृष्टि रची तो विभिन्न, शक्तियों के कारण उस के नाम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र, चन्द्रमा सूर्य, इन्द्र, अग्नि,

वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि और दिन हो गये। इस यज्ञ में जो भावनाएँ और शक्तियाँ थी वे ही ससार की धारक और आनन्द का स्रोत है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाक महिमान मचन्त
यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ॥'

ॐ

ऋ० १।१५४—विष्णुसूक्तम्

ऋषिः—दीर्घतमाः। देवता—विष्णुः। छन्दः—त्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः।

संहितापाठ	पदपाठ
१. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि। यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥१॥	विष्णोः। नु। कम्। वीर्याणि। प्र। वोचम्। यः। पार्थिवानि। विऽममे। रजांसि। यः। अस्कभायत्। उत्ऽतरम्। सधऽस्थम्। विऽचक्रमाणः। त्रेधा। उरुऽगायः॥१॥

सायणभाष्यम्—"विष्णोर्नु कम्" इति षडृचं पञ्चदशं सूक्तं दैर्घतमसं त्रैष्टुभं वैष्णवम्। अनुक्रमणिका—"विष्णोः षड् वैष्णवं हि" इति। अभिप्लवषडहपृष्ठ्येषु तृतीयसवने स्तोमवृद्धावच्छावाकस्य स्तोमातिशंसनार्थम् इदमादिसूक्तद्वयं विनियुक्तम्। 'स्तोमे वर्धमाने' इति खण्डे सूत्रितम्—"विष्णोर्नु कम् इति सूक्ते परो मात्रयेत्यच्छावाकः" (आश्व० श्रौ० ७।९) इति। तथा तृतीयसवने सोमातिरेके उत्तरोत्तरशस्त्रोपगन्तव्या आतिरात्रात् ततोऽप्यतिरिक्ते तदर्थमेव शस्त्रमुपजनयितव्यम्। तत्रैतदेव सूक्तम्। "सोमातिरेके" इति खण्डे सूत्रितम्—"महाँ इन्द्रो नृवद्विष्णोर्नु कम्" (आश्व० श्रौ० ६।७) इति। आग्निमारुतशस्त्रे आद्या विनियुक्ता। "अथ यथेतम्" इति खण्डे सूत्रितम्—"विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि" (आश्व० श्रौ० ५।२०) इति॥

हे नरा विष्णोर्व्याप्तशीलस्य देवस्य वीर्याणि वीरकर्माणि नु क्षिप्रं प्रवोचम्। प्रब्रवीमि। अत्र यद्यपि नुकमिति पदद्वयं तथापि, यास्केन "नवोत्तराणि पदानि" (निघ० ३।१२) इत्युक्तत्वात्, शाखान्तर एकत्वेन पाठाच्च, नु इत्येतस्मिन्नेवार्थे नु कमिति पदद्वयम्। कानि तानीति तत्राह। यो विष्णु पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि रञ्जनात्मकानि क्षित्यादिलोकत्रयाभिमानीन्यग्निवाय्वादित्यरूपाणि रजांसि विममे विशेषेण निर्ममे। अत्र त्रयो लोका अपि पृथिवीशब्दवाच्याः। तथा च मन्त्रान्तरम्, "यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः" (ऋ० १।१०८।९) इति। तैत्तिरीयेऽपि—"योऽस्यां पृथिव्यामस्यायुषा" इत्युपक्रम्य "यो द्वितीयस्यां तृतीयस्यां पृथिव्याम्" (तै० सं० १।२।१२।१) इति। तस्माल्लोकत्रयस्य पृथिवीशब्दवाच्यत्वम्। किञ्च यश्च विष्णुरुत्तरमुद्गततरमतिविस्तीर्णं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयाश्रयभूतमन्तरिक्षमस्कभायत् तेषामाधारत्वेन स्तम्भितवान्। निर्मितवानित्यर्थः। अनेनान्तरिक्षाश्रितं लोकत्रयमपि सृष्टवानित्युक्तं भवति। यद्वा। यो विष्णुः पार्थिवानि पृथिवीसम्बन्धीनि रजांसि पृथिव्या अधस्तनसप्तलोकान् विममे विविधं निर्मितवान्। रजःशब्दो लोकवाची, "लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरु० ४।१९) इति यास्केनोक्तत्वात्। किञ्च यश्चोत्तरमुद्गततरमुत्तरभाविनं सधस्थं सहस्थानं पुण्यकृतां सहनिवासयोग्यं भूरादिलोकसप्तकमस्कभायत् स्कम्भितवान्। सृष्टवानित्यर्थः।

स्कम्भेः 'स्तम्भुस्तुम्भु' इति विहितस्य श्नः 'छन्दसि शायजपि' (पा० ३।१।८४) इति व्यत्ययेन शायजादेशः। अथवा पार्थिवानि पृथिवीनिमित्तकानि रजांसि लोकान् विममे। भूरादिलोकत्रयमित्यर्थः। भूम्यामुपार्जितकर्मभोगार्थत्वादितरलोकानां तत्कारणत्वम्। किञ्च यश्चोत्तरमुत्कृष्टतरं सर्वेषां लोकानामुपरिभूतम्। अपुनरावृत्तेस्तस्योत्कृष्टत्वम्। सधस्थमुपासकानां सहस्थानं सत्यलोकमस्कभायत्। स्कम्भितवान्। ध्रुवं स्थापितवानित्यर्थः। किं कुर्वन्। त्रेधा विचक्रमाणस्त्रिप्रकारं स्वसृष्टान् लोकान् विविधं क्रममाणः। विष्णोस्त्रेधा क्रमणम् "इदं विष्णुर्विचक्रमे" (ऋ० १।२२।१७) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम्। अत एवोरुगायः उरुभिर्महद्भिर्गीयमानः। अति

प्रभूतं गीयमानो वा। य एव कृतवान् तादृशस्य विष्णोर्वीर्याणि प्र वोचम् ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—(म) [नु कम्] पूर्ण रूप से (और उत्तमता के साथ) [विष्णो] (उस) (व्यापक) विष्णु (नामक परमात्मा) के [वीर्याणि] महत्त्वपूर्ण कर्मों का [प्र वोचम्] घोषणा करता हू [य] जिस ने [पार्थिवानि] (विस्तृत) पृथिवी से सम्बन्धित [रजांसि] लोकों का [विममे] निर्माण किया है (और) [त्रेधा] तीन प्रकार स [विचक्रमाण] बारम्बार गति करने वाले [उरुगाय] दूर देश गामी (अर्थात्—सर्वव्यापक) [य] जिस ने [उत्तरम्] परे विद्यमान (उत्तम सुखसाधक) [सधस्थम्] मिलन के स्थान को [अस्कभायत्] स्थिर किया है।

टिप्पणियाँ—१ विष्णो —वैदिक विद्वानो ने इस पद की व्युत्पत्ति विष्णु के स्वरूप के विषय मे अपनी-अपनी विचारधाराओं के अनुरूप दी है। ओल्डेन्बर्ग इसे 'विस्तृत उद्यम करने' के अर्थ में वि + स्नु से, ब्लूमफील्ड 'उच्चतम चोटी पर चढने वाला' अर्थ मे वि + स्नु (सानु–चोटी से) से आर मेक्डोनल √विष् उद्योगी होना, व्यवसायी होना से व्युत्पन्न करते हैं। सायण ने √विश् व्याप्त करना ओर कौषीतकि ब्राह्मण ने √विश् प्रवेश करना से व्युत्पन्न किया है। (देखो वैए० ६६३)। यास्क ने नि० १२।१८ मे विष्णु को 'शिपित' कह कर √विश् या वि+√अश् से व्युत्पन्न किया है। ऐया० (१४४) ने शिपित' को वि + √सि का रूप होने की कल्पना की है, परन्तु यास्क की व्युत्पत्तियों की दृष्टि मे यह कल्पना अनावश्यक है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे व्याप्त्यर्थक √विश् से और पदनामों मे पाठ के आधार पर गत्यर्थक √विश् से व्युत्पन्न माना है। वस्तुत व्याप्ति-अर्थ गति-अर्थ का ही रूप है, और प्रवेश करना, चढना, उद्योगी होना आदि भी। अत दस० की दूसरा निरुक्ति समीचीन प्रतीत होता है।

(ii) सामान्यत. 'विष्णु' का अर्थ 'एक दिव्य शक्ति-सम्पन्न अदृष्ट सत्ता का द्योतक देवताविशेष' समझा जाता है। भाष्यकारों ने कहीं कहीं पर इस का अर्थ 'परमात्मा' भी किया है। दस० ने परमात्मा, महात्मा, मेधावी, अग्नि,

विद्युत्, शिल्पविद्याध्यापनशील पुरुष, सूर्य, वायु, धन, जय, व्यान, सेनेश, धनञ्जय और हिरण्यगर्भ अर्थ किए हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ, सोम, अन्न, वीर्य, प्रादेशमात्र गर्भ, दिन और रात के बीच का समय, देवों में श्रेष्ठ, सत्र देवता, देवों का द्वाररक्षक, आशाओं (=दिशाओं) का पति, यज्ञ के दुरिष्ट का रक्षक, श्रोत्र, पुरुष, यूप आदि अर्थ पाए जाते हैं।

२ नु कम्—सायण ने इस का अर्थ 'शीघ्र' और मैक्डोनल ने 'अब' किया है। यास्क ने नि० १। ४ में 'नु' को बहुविध अर्थों वाला और नि० १। ९ में कम् को पदपूरण माना है। निघ० ३। १२। २ में नुकम् को सर्वपद के अर्थ में उत्तरपद कहा गया है। यह नुकम् पूर्वोक्त नि० १। ४ और १। ९ के नु और कम् से स्वरभेद के कारण भिन्न है। प्रकृत मन्त्र में यही पाठ है। अतः पदकार का इन का पृथक्करण और सायण आदि का अर्थ स्वर की दृष्टि से विचारणीय हैं। वेभाप० १३। ३६ के अनुसार यह पद 'सर्व' 'उत्तर' और 'पद' के अर्थों का द्योतक है। अतः अनुवाद में 'पूर्णरूप से और उत्तमता के साथ' अर्थ ग्रहण किया गया है। दत्त ने 'नु' का अर्थ—'तुरन्त' और 'कम्' का 'सुख' अर्थ किया है। परन्तु निघ० ३। ६। २० में सुखवाचक 'कम्' उदात्त है, अनुदात्त नहीं।

३ वीर्याणि—यहाँ पर 'र्या' में प्रतीयमान स्वतन्त्र स्वरित है। छन्द की दृष्टि से इस का उच्चारण वीरि-आणि अभीष्ट है। सम्भवतः यह मूलपाठ था और सन्धि से पहले यहाँ पर सामान्य स्वरित था। सन्धि होने पर उदात्त 'रि' और अनुदात्त 'आ' के एक हो जाने से यहाँ स्वतन्त्र स्वरित दिखाई देने लगा। वेद में अधिकांश स्वतन्त्र स्वरित इस प्रकार के ही हैं।

४ प्र वोचम्—प्र + √ ब्रू या √ वच् + लुङ् उत्तम पु० एक व०। अट् का लोप हो रहा है। आधुनिक परिभाषा में यह √ वच् से इन्जाक्टिव (निश्चयद्योतक) लुङ् है। भाषावैज्ञानिकों के मत में √ वोच् एक स्वतन्त्र धातु है।

५ पार्थिवानि—पृथिव्या इमानि इति। सा० के विचार में यहाँ पर १. पृथिवी के नीचे के सात लोक। २. भूरादि पृथिवीनिमित्तक तीन लोक अथवा

३. पृथिवी आदि तीनों लोकों के अभिमानी देवता—अग्नि, वायु और आदित्य अभिप्रेत हैं, मैक्डोनल के विचार में 'पृथिवी और समीपस्थ वायुलोक और मही-धर के विचार में 'पार्थिव परमाणु। अगले पाद में 'उत्तर सधस्थ' के द्युलोकरण की दृष्टि में सायण का अर्थ स्वतः ही अप्रामाणिक हो जाता है। वायुलोक की योजना पार्थिव रजस् और उत्तरसधस्थ से समान रूप में की जा सकती है।

(ii) इस सूक्त में विष्णु के रूप में एकं सत् (=ईश्वर) के सृष्टिकर्म, उस के उपादानों, विष्णुलोक आदि का वर्णन है। अतः यहाँ 'पार्थिव रजस्' से प्रकृति के परमाणुओं के स्थूल और रजोगुणप्रधान हो जाने का उल्लेख है। तु. क.—'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये प्रजानां पालने' । (कादम्बरी १) । उत्तर (—उत्कृष्ट) सधस्थ से (प्रकृति) से सम्पर्क प्राप्त करने वाले 'जीव' का वर्णन किया गया है।

६. विममे—वि + √मा + लिट् प्रथम पु० एक व०) । √मा धातु का अर्थ नापना भी है और निर्माण करना भी। सायण आदि भारतीय विद्वान् इस का अर्थ 'निर्माण करना' लेते हैं। परन्तु आधुनिक विद्वान् कतिपय ऐसे स्थलों की दृष्टि में जहाँ द्युलोक और पृथिवीलोक में सूर्य के व्याप्त हो जाने का वर्णन पाया जाता है। जैसे—इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य मही माया वरुणस्य प्र वोचम् मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण ॥ ऋ० ५।८५।५ इस का अर्थ मापना करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में इस के अर्थ 'अभ्यवतनोति—विस्तार करता है' से भी यही अर्थ प्राप्त होता है। श्री पीटर्सन ने लिखा है कि मन्त्र ३ में क पदों 'विममे त्रिभिरित्पदेभिः' में विष्णु के तीन पदों से 'सधस्थ' का निर्माण सम्भव नहीं। परन्तु यह कठिनता सूर्य के तीन आक्रमणों पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक की दृष्टि में आती है। त्रिभिः पदेभिः का सत्त्व, रजस् और तमस् अर्थ करने पर यह समस्या समाप्त हो जाती है।

७. यो अस्कभायत्—वेद में बहुधा पदान्त ए ओ के पश्चात् 'अ' को पूर्व-रूप नहीं होता है। पीछे के साहित्य और भाषा में यह पररूप क्रमशः नियत हो गया है। पूर्वरूप के इस अभाव को बहुधा मन्त्रों की प्राचीनता का द्योतक

और पूनरूप वाले प्रयोगों को अर्वाचीनता का द्योतक माना जाता है। परन्तु दोनों ही प्रकार के प्रयोग अनेक बार वर्गमण्डलों में भी साथ-साथ पाए जाते हैं।

८ अस्कभायत्—√स्कम् + लङ् प्रथम पु० एक व०।

९ उत्तरम्—पस्कार ने इस उत्‌ऽतरम् माना है। इस से ज्ञात होता है कि उपसर्ग भी संज्ञा और विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते थे, अन्यथा उत् के साथ तरप् और तमप् का प्रयोग सम्भव नहीं था। वेमाप० ४।२१–३० ६।५८ वैसी० ३००–३१०, निघ० के ऐकपदिक में उपसर्गों और निपातों का पाठ और उस पर वमाप० ३०।२७–२८ भी देखें।

(11) ऋ० ८।६।३।२३ और ९।२।३।३ में उत्तर सधस्थम् का अर्थ 'द्यौ' किया है। सा० ने इस (१) अतिविस्तीर्ण अन्तरिक्ष, (२) पुण्यशालों के एक साथ रहने योग्य भू आदि सात लोक (३) स्वर्लोक का द्योतक माना है। श्री मैक्डानल ने इस मन्त्र में जगत् के दो विभागों का वर्णन मान कर इस का अर्थ स्वर्लोक किया है। आकाश के धारण की क्रिया को सवितृ, अग्नि और अन्य देवताओं से भी सम्बद्ध किया गया है।

(11) इस मन्त्र में सृष्टि के तीन मूल कारणों का वर्णन किया गया है—विष्णु पार्थिवरजस् और उत्तरसधस्थ। अतः यह उत्तरसधस्थ 'द्यौ' ही है।

१० सधस्थम्—सह स्थानम् सधस्थम्। तु कु सधमादस्थयोश्छन्दसि। वेद में सह के आगे स्थ' आने पर 'सह' को 'सध' हो जाता है।

११ विचक्रमाण —वि + √क्रम् + कानच् स। सायण और मैक्डानल ने अपने-अपने भावों के अनुरूप इस के अर्थ क्रमशः 'अनेक प्रकार से आक्रान्त करता हुआ' और 'पग भरे' किए हैं। √क्रम् गत्यर्थक है। वि + √क्रम् का अर्थ है—विशेष गति करते हुए, तप की महिमा से गतिशील हो कर सृष्टि रचना करते हुए।

१२ त्रेधा—छन्द की दृष्टि में इस का उच्चारण त-र-य-धा होगा। आर्नोल्ड त्रयधा पढ़ते हैं। मैक्डानल ने इस का अर्थ—'तीन बार' अर्थात्

'तीन (पद)' किया है । ऊपर प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में इसका अर्थ 'सत्त्व, रजस्, और तमस्—इन तीन गुणों से विशिष्ट' करना उचित होगा ।

१२ उरुगाय.—सा०—बहुतों से स्तुति किया गया, पुष्कलकीर्ति वाला । मैक्डोनल—विस्तृत पद वाला । पीटर्सन—दूर गन्ता । एक अन्य मन्त्र में सा० ने बहुतों से स्तुति करने योग्य, प्रभूत यश वाला, शत्रुओं को रुलाने वाला अर्थों के साथ 'बहुत से देशों में जाने वाला' अर्थ भी दिया है । ये अर्थ सूर्य के तीन क्रमणों पर लागू होते हैं, सृष्टिरचना पर नहीं । अतः यहां पर विस्तीर्ण आच्छादक (उरु—√ ऊर्णु या √वृ से) गति=शक्ति (—गाय) वाला अर्थ उपयुक्त रहेगा । तु. क. तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् । ऋ० १०।१२९।३ तथा किमावरीवः कुहकस्य शर्मन् । वही, मन्त्र १ ।

संहितापाठ.	पदपाठः
२.प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्व् अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥२॥	प्र । तत् । विष्णुः । स्तवते । वीर्येण । मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरिऽस्थाः । यस्य । उरुषु । त्रिषु । विऽक्रमणेषु । अधिऽक्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा ॥ २ ॥

सायणभाष्यम्—तृतीयसवने सोमातिरेक एव शस्त्रमुपजनयितव्यम् । तत्र "प्र तत्" इत्ययमनुरूपस्तृचः । "सोमातिरेके" इति खण्डे सूत्रितम्—"प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण स्तोत्रियानुरूपौ" (आश्व० श्रौ० ६।७) इति । 'वाजपेयेनाधिपत्य काम' इति खण्डे सूत्रितम् "—प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नाम (ऋ० ७।१००।५) प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण" (आश्व० श्रौ० ९।९) इति ॥

यस्येति वक्ष्यमाणत्वात् स इत्यवगम्यते । स महानुभावो वीर्येण स्वकीयेन वीरकर्मणा पूर्वोक्तरूपेण स्तवते । स्तूयते सर्वैः । कर्मणि व्यत्ययेन शप् । वीर्येण स्तूयमानत्वे दृष्टान्तः । मृगो न सिंहादिरिव । यथा स्वविरोधिनो मृगयिता सिंहो भीमो भीतिजनकः कुचरः कुत्सितहिंसादि-

कर्ता दुर्गमप्रदेशगन्ता वा गिरिष्ठा पर्वतादुन्नतप्रदेशस्थायी सर्वैः स्तूयते। आसमर्थे निरुक्तम्—"मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठा । मृग इव भीम कुचरो गिरिष्ठा मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणो भीमो बिभ्यत्यस्माद् भीष्मो ऽप्येतस्मादेव । कुचर इति चरति कर्म कुत्सितम् । अथ चेद्देवताभिधानं क्वायं न चरतीति वा । गिरिष्ठा गिरिस्थायी । गिरि पर्वतः समुद्गीर्णो भवति । पर्ववान् पर्वतः । पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा" (निरु० १।२०) इति ॥ तद्द्वयमपि मृगोऽन्वेष्टा शत्रूणां भीमो भयानकः सर्वेषां भीत्यपादानभूतः । परमेश्वराद् भीतिः 'भीषास्माद् वातः पवते' (तै० आ० ८।८।१) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धा । किञ्च कुचरः शत्रुवधादिकुत्सितकर्मकर्ता कुषु सर्वासु भूमिषु लोकत्रये सञ्चारी वा तथा गिरिष्ठा गिरिवदुच्छ्रितलोकस्थायी । यद्वा । गिरि मन्त्रादिरूपायां वाचि सर्वदा वर्तमानः । ईदृशोऽयं स्वमहिम्ना स्तूयते । किञ्च यस्य विष्णोरुरुषु विस्तीर्णेषु त्रिसङ्ख्याकेषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपेषु विश्वा सर्वाणि भुवनानि भूतजातान्यधिक्षियन्त्याश्रित्य निवसन्ति स विष्णुः स्तूयते ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद— [भीम] भयानक [कुचर] विषम स्थलों पर विचरण करने वाले [गिरिष्ठा] पर्वतों में रहने वाले [मृग] सिंह के [न] समान [कुचर] नाना लोकों में व्याप्त [गिरिष्ठा] मन्त्रों में वर्णित [तत्] वह [विष्णु] विष्णु [वीर्येण] अपने वीर कर्मों के कारण [प्र स्तवते] स्तुत किया जाता है [यस्य] जिस के [उरुषु] विस्तृत [त्रिषु] तीन [विक्रमणेषु] पदों में [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] लोक [अधि क्षियन्ति] विद्यमान रहते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१ प्र—वेद में उपसर्गों को क्रिया से बहुधा पृथक् प्रयुक्त किया गया है । तु० क० व्यवहिताश्च ।

२ तत्—यहाँ पुलिंग के स्थान पर नपुंसकलिंग का प्रयोग किया गया है । तु० क० व्यत्ययो बहुलम् । आधुनिक अध्ययन में यह पद एक समस्या है । साइबेनाजग लाइडर के अनुवाद में इसे वीर्येण का विशेषण बनाया गया है और वृत्तान्त माना गया है—विष्णु इस वीर कर्म के लिए प्रशंसा को प्राप्त होता है । "प्राचीन ऋचाओं में विष्णु का एक ही वीरकर्म वर्णित हुआ है—

वह तीन पदों में समस्त ब्रह्माण्ड का लघन, स्वर्गलोकों का दृढ करना, और उस के तृतीय पद में समस्त प्राणियों के रहने के लिए विस्तृत स्थान की सत्ता का धारण करना है (ऋ० ६ । ६९ । ५)। वह स्वय ऊपर विष्णुलोक में रहता है जहाँ उस के साथ पुण्य आत्माएँ निवास करती हैं"। (—मा० ला०)। ग्रासमैन इसे स्तवते का कर्म मान कर 'इस वीर कर्म को करना स्वीकार करता है' अर्थ देते हैं। ये वीर्येण का अर्थ 'सामर्थ्य' करते हैं। पीटर्सन वीर्येण को क्रियाविशेषण ओर स्तवते को कर्तृवाच्य मान कर 'विष्णु प्रशसा करता है ओर इस का सघोष विकत्थन करता है' अर्थ करते हैं। मेक्डोनल इसे प्रथम मत्र के वीर्याणि का निर्देशक द्वितीयान्त रूप मानते हैं।

(ii) परन्तु इस मन्त्र म प्र तद्विष्णु आदि अगले वाक्य यस्योरुषु आदि का प्रधान वाक्य है। यत्तदोर्नित्यम् की दृष्टि म तत् का भाव म ही हो सकता है, अन्य नही।

(iii) स्तवते को कर्मवाच्य का प्रयोग मानना अस्वाभाविक नही। ऋग्वेद के मन्त्रों—आ भर। होतर्विभ्वासह रयि स्तोतृभ्य स्तवसे च न उतैधि पृत्सु नो वृधे (५. १० ७), तथा यत् स्तवन्ते सधवार बाराम्ब्बरुथन नहुषा शविष्ठ (६ । २६ । ७) और एवा हि वार स्तवत सदावृध (८ । २४ । १६) म 'स्तवत' का कर्मवाच्य में प्रयोग प्रत्यक्ष ही है।

(iv) वीर्येण मे पिछले मन्त्र के वीर्याणि का निर्देश है। समस्त सृष्टि-रचना एक ही कर्म है। अत एक वचन का प्रयोग किया गया है। उस के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों को दृष्टि मे रख कर पिछले मन्त्र में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। इस पद मे स्वर की स्थिति पहले मन्त्र के 'वीर्याणि' के समान ही है।

३ मृगो न भीम —श्री पीटर्सन लिखते हैं कि यह उपमा विष्णु के सामान्य स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है, इस का सम्बन्ध द्युलोक का सानु पर पैर रखने वाले आर अब अपने वीर कर्म की घोषणा करने वाले विष्णु से सम्बन्धित है। वह पर्वतों पर विचरण करने वाले भयानक सिंह के समान (गरजन करता) है।

मृग का प्राचीनतम अर्थ एक हिंसक या आरण्यक पशु है जैसा मृगेन्द्र पद में व्यक्त होता है।

(ii) श्री मैक्डोनल का कहना है कि यद्यपि सायण ने मृगः का अर्थ सिंह आदि हिंसक पशु किया है और यद्यपि 'भीम' सिंह और वृषभ दोनों के ही विशेषण के रूप में आया है, तथापि गिरिष्ठाः तीन-चार बार वृषभ के विशेषण के रूप में तो आया है, सिंह के विशेषण के रूप में कभी नहीं आया है। अगले मन्त्र में विष्णु को 'पर्वतनिवासी बैल' (गिरिक्षिते वृष्णे) कहा गया है। अतः यह उपमा सिंह की अपेक्षा बैल की ओर निर्देश करती है।

(iii) वस्तुस्थिति कुछ अन्य प्रतीत होती है। यास्क ने 'न' को उपमावाचक माना है। यही यहाँ भ्रान्ति है। 'न' को 'भीम.' के साथ लगा कर 'न भयंकर = सौम्य' अर्थ करने और मृगः आदि को विष्णु के विशेषण मान लेने पर कोई समस्या नहीं रहती है। मृगः — √मृग् खोजना से। खोजा जाने वाला, खोजने योग्य। देखो अग्नेसु०। अथवा √मृज् जाना से (यास्क)। अतः गतिशील। कामना रूपी बीज के मन में पड़ने से विष्णु गतिशील हो जाता है और उस से सृष्टि होती है। देखो ऋ० १०।१२९।

४. कुचर — का प्रयोग केवल एक और मन्त्र (ऋ० १०।१८०।२) में आया है। वहा पर यह सारा वाक्य इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने इस के अर्थ (१) कुत्सित कर्म करने वाला (२) यह कहा नहीं जाता [कु (या क्व) + √चर से] किए हैं। सायण ने दूसरा अर्थ 'तीनों लोकों (कु = पृथिवी से) में घूमने वाला' किया है।

(ii) पदकार ने इसे अवग्रहीत नहीं किया है। श्री मैक्डोनल का विचार है कि 'कु' स्वतन्त्र पद के रूप में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः अनवग्रहीत है। परन्तु 'कुवित्' (ऋ० ९।८७।८; १०.।४५।।९३.।११) के 'कु' का स्वतन्त्र प्रयोग ऋग्वेद में नहीं मिलता है, फिर भी इसे अवग्रहीत किया गया है। सम्भवतः पदकार इसे कु + चर और √कुच् (शब्द करना) + अच् (उणा० ८।६२) —दोनों प्रकार से छिन्न करके अर्थ करना चाहते हैं, अथवा पिछला निर्वचन ही उन्हें अभीष्ट था। अतः शब्दकारी।

(iii) ऋ० १०।१२९।४ में कहा है कि सृष्टि की रचना के समय सर्वप्रथम परमात्मा के मन में सृष्टि करने की इच्छा हुई और यह इच्छा ही उस के मन में सृष्टि का मूल यज्ञमय बीज (=रेतस्) बनी। इस रेतस् रूपी तप से उस में तेज और गति उत्पन्न हुई। इस गति से ही शब्द भी उत्पन्न हुआ (तु कु शब्दकर्मा स्वरति का निघं० में गतिकर्मा धातुओं में पाठ)। ब्रह्म (—विष्णु) की वाक् के रूप में भी कल्पना की गई है। देखो वाक्सूक्त तथा वैदिकदर्शन और वैए० में वाक्पद।

५ गिरिष्ठा—सा० ने (१) उन्नत लोकों का निवासी, (२) मन्त्रों मन्त्रवाणी में स्थित अर्थ किए हैं। उपरोक्त दार्शनिक दृष्टि में गिर—गिर् से हृदय गुहा मन। अतः अपने मन में रेतस् रूप में स्थित। यद्यपि ईश्वर मन आदि से हीन है, परन्तु लौकिक प्रणाली पर समझाने के लिए अलंकार बनाया गया है। वह स्वयं ही मन है और स्वयं ही रेतस्।

६ त्रिषु विक्रमणेषु—सा० आदि तीन पदों में। प्रथम मन्त्र के समान यहां भी त्रिविध गुणों सत्त्व, रजस् और तमस् का निर्देश है। इन्हीं तीन गुणों में समस्त प्राणिलोक स्थित है।

७ विश्वा—विश्वानि। वेद में अनेक बार नपुंसक लिंग प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन की इ (=नि) का लोप दिखाई पड़ता है।

संहितापाठ	पदपाठ
३. प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे। य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥३॥	प्र। विष्णवे। शूषम्। एतु। मन्म। गिरिऽक्षिते। उरुऽगायाय। वृष्णे। यः। इदम्। दीर्घम्। प्रऽयतम्। सधऽस्थम्। एकः। विऽममे। त्रिऽभिः। इत्। पदेभिः॥३॥

सायणभाष्यम्—विष्णवे सर्वव्यापकाय शूषमस्मत्कर्तृकाभिजन्यं बलं महत्त्वं मन्म मननं स्तोत्रं मननीयं शूषं बलं वा विष्णुमेतु। प्राप्नोतु। कमंग

सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । कीदृशाय । गिरिक्षिते वाचि गिरिवदुन्नतप्रदेशे वा तिष्ठते। उरुगायाय बहुभिर्गीयमानाय । वृष्णे वर्षित्रे कामानाम् । एवम्महानुभावं शूषं प्राप्नोतु । कोऽस्य विशेष इत्युच्यते । यो विष्णुरिदं प्रसिद्धं दृश्यमानं दीर्घमतिविस्तृतं प्रयतं नियतं सधस्थं सहस्थानं लोकत्रयमेक इदेक एवाद्वितीयः सन् त्रिभिः पदेभिः पादैर्विममे विशेषेण निर्मितवान् ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद— [गिरिक्षिते] मन्त्रों में वर्णित [उरुगायाय] दूरदेशगामी (अर्थात्—सर्वव्यापक) [वृष्णे] वीर्य-सेचक [विष्णवे] (उस) विष्णु को (मेरा) [शूषम्] स्फूर्तिदायक [मन्म] (मननीय) स्तोत्र [प्र एतु] पहुँचे [यः] जिस [एक] अकेले ने [त्रिभिः] [तीन] [पदेभिः] पदों से [इत्] ही [इदम्] इस [दीर्घम्] विस्तृत [प्रयतम्] स्थिर [सधस्थम्] (प्राणियों के) निवास स्थान को [विममे] निर्माण किया है ॥ ३ ॥

टिप्पणियाँ—१. शूषम्—छन्द की पूर्ति के लिए 'शू' को 'शू-ऊ' पढ़ना आवश्यक है। निघं० में यास्क ने और सा० ने इस के दो अर्थ—बल और सुख माने हैं। दस० ने सर्वत्र 'बल'-अर्थ ग्रहण किया है। केवल एक मन्त्र में विकल्प में 'सुख'-अर्थ भी दिया है। नि० २।२४ में इस के सदृश पद 'शुष्म' को √शुष् सुखाना से व्युत्पन्न किया गया है। अवेस्ता में इस के अनुरूप पद 'हुस्क'—सूखा हुआ है। रौथ इसे श्वस् से निष्पन्न मानते हैं और यहाँ तथा अन्य चार ऋचाओं में इसे 'सीटी बजाना, (अव्यक्त) शब्द करना, ठन्-ठन् का शब्द करना' अर्थ में विशेषण मानते हैं। इन में से एक मन्त्र (ऋ० १० । ५४ । ६) में सा० ने 'शूष मन्म' का अर्थ 'शूषं बलं शत्रूणां शोषकत्वाद् बलकरं मन्म मननीयं स्तोत्रम्' दूसरे (१०. ६. ४) में 'शूषेभिः अर्कैः' का 'शूषेभिर्हविर्लक्षणबलैः । बलनिमित्तैर्हविर्भिरित्यर्थः । अर्कैः स्तोत्रैश्च' । अतः सायणीय व्याख्यान की दृष्टि में श्री पीटर्सन 'शूषम्' के विशेषण होने को सन्दिग्ध समझते हैं। अन्यत्र (३. ७. ६ में) 'अनु घोषं शूषम्' का 'अनुघुष्यमाणं सुखम्' और 'स्तोम शूषम्' (६।१०।२) का 'स्तोत्रं सुखकरम्' अर्थ किया है। अन्य दो ऋचाओं में रौथ 'शूषम्' को 'नाक से घर्घर शब्द करना, तेजस्वी वीर्यवान् साहसी' अर्थों में विशेषण मानते हैं। इन दोनों स्थलों (ऋ० ३।४९।२; ९।७१।२)

में सा० ने इस का अर्थ 'शोषक बल' और 'शोषक बलवान्' किया है। ल्यूडिग ने इस का अर्थ 'शक्ति के लिए' (अर्थात् सामर्थ्य प्रदान करने के लिए) किया है।

(११) स्तोता अपने इष्ट देव की जो स्तुति करता है उस से प्रधानतया स्फूर्ति, सामर्थ्य आत्मतोष आदि सुख उस स्तोता को ही प्राप्त होते हैं, स्तुत देव पर उस का प्रभाव विचारणीय है। विष्णु ऋग्वेद का 'आनीदवातं स्वधया तदेकम्' (ऋ १०।१२९।२) और 'एकं सत्' (ऋ १।१६४।४६) ही है। उस के मनस्तोष का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः यहाँ पर 'पापों दुर्वासनाओं स्वार्थ आदि का शोषक—नाशक और इस प्रकार सद्भाव का सृजन करने वाला बल और सुखदायक स्तोत्र' भाव अभिमत है। इस भाव को गीता ने 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' तथा—'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥' कह कर व्यक्त किया है।

२ उरुगायाय—दूसरे मन्त्र में 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' से तुलना करने पर इस की समता कुचर (सायण का अर्थ) से होती है। उधर एकमात्र विष्णु का विशेषण 'उरुक्रम'—(नि०—महागति) है। अतः मैक्डोनल इसे √गा जाना से ले कर इस का अर्थ 'लम्बे पग भरने वाला' करते हैं। पीछे मन्त्र १ में उरुगाय पर भी टिप्पणी देखें।

३ वृष्णे—श्री मैक्समूलर लिखते हैं कि "वृषन् एक ऐसा पद है जिस का ठीक-ठीक अर्थ करना असम्भव है। यह वेदमन्त्रों में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है। यदि एक बार उन सब भावों को जान लिया जाए जिन का यह प्रकाशन करता है तो इस के भाव को सामान्य किन्तु अस्पष्ट रूप में समझने में कोई कठिनता न रहेगी। यह √वृष्—वर्षा सेचन करना से बना है। इस का मूल अर्थ 'नर' था। यह शक्ति, प्राधान्य, श्रेष्ठता विशिष्टता, प्रतिष्ठा का द्योतक है। बहुधा यह पुरुष के कामासक्ति पक्ष को प्रकाशित करता है। फिर इस का अर्थ अमोघवीर्य, उपजाऊ और बलयुक्त हो गया। यह 'वीर, बली' के अर्थ में विशेषण पद भी है, देवताओं का नाम और प्रशंसावाचक पद भी।'

(ii) सा० ने इस का अर्थ 'कामनाओं की वर्षा करने वाला' और दस० ने 'अनन्त वीर्य वाला' किया है। इस पद में सृष्टि के पूर्व असत् रूप से सत् की उत्पत्ति के निमित्त ब्रह्म के द्वारा तप की महिमा कामनारूप रेतस् के अपने में ही स्थापन करने† का निर्देश उपलब्ध होता है। इस अनन्त रेतस्—वीर्य से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति और प्राणियों की इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। यही अर्थ यहां अभिप्रेत है।

४. इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम्—मैक्डोनल इस से मन्त्र १ के 'उत्तरं सधस्थम्' के प्रतिपक्ष में 'पृथिवी' का भाव ग्रहण करते हैं, सा० 'लोकत्रय' का और दस० 'बढ़ा हुआ उत्तम यत्नसाध्य सिद्धान्तावयवों से एक स्थान' का। ऋ० १०।१२१।५—'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः' की दृष्टि में यहां इस पदसमूह का अर्थ 'यह समस्त दृश्यमान दृढ सृष्टि' ही है। उत्तरं सधस्थम् में जीवात्मा का निर्देश होने से भी यहां पर पार्थिवपरमाणुजन्य जगत् का बोध ही अभीष्ट है।

५. एकः—विष्णु—ईश्वर अकेला ही समस्त सृष्टि का उत्पादक है, वह दूसरे किसी प्राणी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता है।

६. त्रिभिः पदेभिः—दस०—स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म जानने योग्य अंश। सा०—तीन पग। दस०—का अर्थ ही प्रकरणोपयोगी प्रतीत होता है।

संहितापाठः	पदपाठः
४. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्य् अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति। य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्याम् एको दाधार भुवनानि विश्वा॥४॥	यस्य। त्री। पूर्णा। मधुना। पदानि। अक्षीयमाणा। स्वधया। मदन्ति। यः। ऊँ इति। त्रिऽधातु। पृथिवीम्। उत। द्याम्। एकः। दाधार। भुवनानि। विश्वा॥४॥

सायणभाष्यम्—यस्य विष्णोर्मधुना मधुरेण दिव्येनामृतेन पूर्णा पूर्णानि त्रीणि पदानि पादप्रक्षेपणान्यक्षीयमाणाक्षीयमाणानि स्वधयान्नेन

† देखो ऋ० १०।१२९।

मदन्ति मादयन्ति तदाश्रितजनान्। य उ य एव पृथिवीं प्रख्याता भूमिं द्यामुत द्योतनात्मकमन्तरिक्षं च विश्वा भुवनानि सर्वाणि भूतजातानि चतुर्दश लोकांश्च। यद्वा। पृथिवीशब्देनाधोवर्तीन्यतलवितलादिसप्तभुवनान्युपात्तानि। द्यशब्देन तदवान्तररूपाणि भूरादिसप्तभुवनानि। एवं चतुर्दश लोकान् विश्वा भुवनानि सर्वाण्यपि तत्रत्यानि भूतजातानि। त्रिधातु। त्रयाणां धातूनां समाहारस्त्रिधातु। पृथिव्यप्तेजोरूपधातुत्रयविशिष्टं यथा भवति तथा दाधार धृतवान्। तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घत्वम्। उत्पादितवानित्यर्थः। छन्दोगारण्यके—"तत्तेजोऽसृजत तदन्नमसृजत ता आप ऐक्षन्त' इति भूतत्रयसृष्टिमुक्त्वा 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवतास्तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" (छा०उ० ६।२।३ ४) इत्यादिना त्रिवृत्करणसृष्टिरुपपादिता। यद्वा। त्रिधातु कालत्रयं गुणत्रयं वा दाधारेत्यन्वयः ॥ ४॥

हिन्दी अनुवाद—[**यस्य**] जिस (विष्णु) के [**मधुना**] शहद (आदि मधुर गुण वाले पदार्थों) से [**पूर्णा**] भरे हुए [**त्री**] तीन [**पदानि**] पग [**अक्षीयमाणा**] विनाशरहित होते हुए [**स्वधया**] (दिव्य) अन्न से [**मदन्ति**] तृप्त करते हैं (और) [**उ**] निश्चय से [**य**] जो [**एक**] अकेला ही [**त्रिधातु**] तीन धातुओं से [**पृथिवीम्**] पृथिवी [**उत**] और [**द्याम्**] द्युलोक (और) [**विश्वा**] सम्पूर्ण [**भुवनानि**] लोकों को [**दाधार**] धारण किए हुए हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणियां—१ **मधुना**—मधु (नपु०) तृतीया एक व०। सा०—मधुर दिव्य अमृत से। दया०—मधुर आदि गुण से। राथ—मिठास, तीनों लोकों में प्राप्त होने वाले सुख और भोग विष्णु से ही प्रवाहित होते हैं। इसे 'स्वधया' का विशेषण भी बनाया जा सकता है—मधुर दिव्य अन्न से। नपु० का प्रयोग व्यत्यय से स्त्रीलिंग के लिए किया गया है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में मधु के अर्थों में प्राण, रस, ओषधियों का परम रस, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का ज्ञान (श० ११।५।४।१८), यह सब कुछ (श० ३।७।१।११) और अन्न आदि दिए हैं। इस मन्त्र में 'पदानि' के अर्थ के अनुरूप अर्थ किया जा सकता है। यदि पद का अर्थ 'पग' ही मान लें,

तो भी शब्द से भरे हुए पदों का भाव 'पदों से नापे गए लोक' होगा क्यों कि स्वयं पगों के मधुपूर्ण होने का कोई अर्थ नहीं है। अतः मधु का 'प्राण' अर्थ उचित प्रतीत होता है। प्राण = शक्ति से युक्त। श्री मै० आदि ने पदानि का भाव 'पगों में रहने वाले प्राणी' लिया है। पादपूर्ति के लिए पदान्यक्षीय० को पदानि अक्षीय० पढ़ना होगा।

२ त्री, पूर्णा—दोनों क्रमशः त्राणि और पूर्णानि के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

३ अक्षीयमाणा—अक्षीयमाणान। मै० बिना किसी कमी के। कर्मधारय समासों में नञ् का 'अ' स्वर उदात्त होता है। ऐसे समास पदपाठ में अनव गृहीत रहते हैं।

४ स्वधया—सा०—अन्नेन। दस०—अपने अपने रूप के धारण करने वाला क्रियाएं।

(ii) लौकिक संस्कृत में स्वधा के अर्थ पितरों को दी गई आहुति के अन्त में उच्चारित पद, पितरों को प्रदत्त अन्न, माया या सांसारिक भ्रान्ति के पुरुषवध रूप का नाम और एक अप्सरा का नाम मिलते हैं। अभी वेदमन्त्रों में प्रयुक्त स्वधा शब्द का परिचय नहीं था कि प्रो० बेनफी ने ग्रीक सेथोस्, जर्मन सित्ते ओएचएम० सित् उ, गोथिक सिद् उ के आधार पर एक संज्ञा 'स्वधा' की कल्पना का जो वैदिक साहित्य में मिल गई। प्रो० मैक्समूलर के मत में इस पद का मूल अर्थ-किसी का अपना स्थान था और पीछे 'अपना स्वभाव' हो गया।

(iii) परन्तु रौथ की योजना भिन्न है। उन का विचार है कि भारत में स्वधा का वैदिक अर्थ बिल्कुल भूला जा चुका है। रौथ ने तीन मन्त्रों—ऋ० ४ ३३।६ ४।५८।६ ४।१३।५ में (१) रीति-रिवाज, शासन, ऋ० १।१०३। ५ ६।४।८, ८।३२।६, १०।१२९।५, १।८६।१० में (२) परिचित स्थान घर, ऋ० ७।८।३, १।१६५।५-६, १।११३।१० में (३) सामान्य अवस्था, आराम, कल्याण, सन्तोष, ऋ० १।६।४ ३३।११, ६।१६।१५ आदि तथा प्रकृत मन्त्र में (४) सामान्य रूप में स्वच्छन्दता से, इच्छानुसार, निर्विघ्न, स्वाभाविक रूप में अर्थ किए हैं। इस मन्त्र के समान अन्य भी कई मन्त्रों में इस का प्रयोग 'मदन्ति' के साथ हुआ है। रौथ के मत में मधुर पय, हविस्, पितरों को

प्रदत्त आहुति अर्थों वाला पद उपरोक्त स्वधापद से भिन्न है। इस दूसरे स्वधा को ही निघण्टु में उदक के नामों में पढ़ा गया है और नि० ७।२९ में अन्न वाचक माना है। रौथ यह भी मानते हैं कि प्रकृत मन्त्र का स्वधापद अन्य मन्त्र--ऋ० १०।१४।६ के स्वधयान्ये मदन्ति से बिल्कुल भिन्न है। प्रकृत मन्त्र में स्वधया क्रिया विशेषण है, जिस के अर्थ—प्रसन्नता से, स्वाधीन रूप से हैं। दूसरा पद मदा है—हर्षिया के साथ। अगर श्री राथ की इस कल्पना को ठीक मान लिया जाए, तो दोनों मन्त्रों की रचना के बीच में समय का बड़ा अन्तर रहा होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ—रस और शरद् भी दिए हैं।

५ उ—मै०—भी। दस०—पादपूरण। सा०—एव=ही।

(ii) इस मन्त्र में विष्णु के दो वीर कर्मों का वर्णन किया गया है—१. विष्णु के पदों का अक्षुण्ण रूप में मधु से पूर्ण स्वधा से आनन्दित होना २. तीन प्रकार से पृथिवी, द्युलोक और समस्त लोकों का धारण करना। अतः यहां समुच्चय-बोधक निपात अभीष्ट होने से 'उ' का अर्थ 'और' करना उचित होगा। पद-पाठ में इस के आगे 'इति' लगा कर इसे सानुनासिक कर दिया जाता है।

६ त्रिधातु—मै० लिखते हैं कि इस नपुं० रूप को मन्त्र १ के पाद ४ के त्रेधा पद के समान क्रियाविशेषण के रूप में लेना अत्युत्तम रहेगा—तीन प्रकार से, अपने तीन चरण चल कर। यह पृथिवी और द्युलोक के रूप में शिथिलता से व्याख्यात तीन लोकों का द्योतक भी हो सकता है। श्री पीटर्सन त्रिधातु को पृथिवीमुत द्याम् का समानाधिकरण मान कर दोनों को एक ही भाव का द्योतक मानते हैं—पृथिवी और द्युलोक ही त्रिविध जगत् है। रौथ ने ऋ० ४।४२।४—उत त्रिधातु प्रथयद् वि भूम को उद्धृत किया है। सा० ने इस का अर्थ—और परमेश्वर ने व्याप्त आकाश को तीन प्रकार से विशेष रूप से फैलाया है—पृथिवी आदि तीन लोक बनाया है—किया है। यहां पर सा० का अर्थ—पृथिवी, जल और अग्नि—इन तीन तत्त्वों से विशिष्ट, दस० का सत्त्व, रजस् और तमस् आदि धातुओं वाले समस्त लोक-लोकान्तर (=विश्वा भुवनानि) है। ऋ० ४।४२।४ में भी दस० ने यही भाव लिया है। सूक्त के पिछले तीन मन्त्रों की दृष्टि में दस० का

व्याख्यान उचित मालूम पड़ता है। सा० का अर्थ भी उपयुक्त है। परन्तु उस में पाँच भूतों में केवल तीन का ही निर्देश होता है। इस अर्थ में 'त्रि' को उपलक्षण मानना पड़ेगा। 'त्रि' को उ० ५।६६ ने √तॄ पार करना से व्युत्पन्न किया है। इस आधार पर त्रिधातु का अर्थ—पार करने वाली, सब को वश में करने वाली धातु = धारक तत्त्व हो कर यह पृथिवी आदि पञ्च भूतों और सत्त्व, रजस् आदि गुणों और सांख्य दर्शन के पञ्चतन्मात्रा आदि तत्त्वों का द्योतक हो जायेगा।

७. दा॒धार॑—√धृ से लिट् प्रथम पु० एक व०। वेद में बहुत से धातुओं के अभ्यास का स्वर दीर्घ पाया जाता है। दाधार ब्राह्मण में और पीछे भी प्रयुक्त हुआ है। पदपाठ में इसे ह्रस्व नहीं किया जाता है।

८. भुव॑नानि॒ विश्वा॑—इस को पृथिवी और द्युलोक के साथ तीसरे लोक का द्योतक भी माना जा सकता है और 'पृथिवी और द्युलोक इन की सीमाओं में बन्धे हुए ब्रह्माण्ड के सब लोक' का द्योतक भी। अन्ततो गत्वा भाव समान रहेगा।

संहितापाठ.	पदपाठः
५.तद॑स्य प्रि॒यम॒भि पाथो॑ अश्यां॒ नरो॒ यत्र॑ देव॒यवो॒ मद॑न्ति । उ॒रु॒क्र॒मस्य॒ स हि बन्धु॑रि॒त्था विष्णो॑: प॒दे प॑र॒मे मध्व॒ उत्स॑: ॥ ५ ॥	तत् । अ॒स्य॒ । प्रि॒यम् । अ॒भि । पाथ॑: । अ॒श्या॒म् । नर॑: । यत्र॑ । दे॒व॒ऽयव॑: । मद॑न्ति । उ॒रु॒ऽक्र॒मस्य॑ । स: । हि । बन्धु॑: । इ॒त्था । विष्णो॑: । प॒दे । प॒र॒मे । मध्व॑: । उत्स॑: ॥ ५ ॥

सायणभाष्यम्—आतिथ्याया "तदस्य" इत्येषा प्रधानस्य याज्या। "अथा-तिथ्या" इति खण्डे सूत्रितम्—"इदं विष्णुर्विचक्रमे, तदस्य प्रियमभि पाथो अश्याम्" (आश्व० श्रौ० ४।५) इति॥ अस्य महतो विष्णोः प्रियं प्रियभूतं

तत् सर्वं सेव्यत्वेन प्रसिद्धम् पाथ । अन्तरिक्षनामैतत्, "पाथोऽन्तरिक्षं पथा (नि० २ । २८) व्याख्यातम्" (निरु० ६ । ७) इति यास्कोक्तत्वात् । अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः । अश्याम् । व्याप्नुयाम् । तदेव विशिष्यते । यत्र स्थाने देवयवो देवं द्योतनस्वभावं विष्णुमात्मनः इच्छन्तो यज्ञदाना दिभिः प्राप्तुमिच्छन्तो नरो मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति । तदश्यामित्य न्वयः । पुनरपि तदेव विशेष्यते । उरुक्रमस्यात्यधिकं सर्वं जगदाक्रममा णस्य तत्तदात्मना, अतएव विष्णोर्व्यापकस्य परमेश्वरस्य परमे उत्कृष्टे निरतिशये केवलसुखात्मके पदे स्थाने मध्वो मधुरस्योत्सो निष्यन्दो वर्तते । तदश्याम् । यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरणपुनरावृत्त्यादिभयं नास्ति सङ्क ल्पमात्रेणामृतकुल्यादिभोगाः प्राप्यन्ते तादृशमित्यर्थः । ततोऽधिकं नास्तीत्याह । इत्था इत्थमुक्तप्रकारेण स हि बन्धुः स खलु सर्वेषां सुकृ तिनां बन्धुभूतो हितकरो वा, तस्य पदं प्राप्तवतां न पुनरावृत्तिः । 'न च पुनरावर्तते" (छा० उ० ८ । १५।१) इति श्रुतेस्तस्य बन्धुत्वम् । हिशब्द सर्वश्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रसिद्धिद्योतनार्थः ॥ ५ ॥

हिन्दी अनुवाद—(मैं) [अस्य] इस (विष्णु) के [तत्] उस [प्रियम्] (कल्याणकारक होने से) अभीष्ट [पाथः] (रूप के) स्थान को [अभि अश्याम्] प्राप्त कर सकूँ [यत्र] जिस में [देवयवः] कल्याण के इच्छुक [नरः] मनुष्य [मदन्ति] आनन्द प्राप्त करते हैं । [हि] निःसन्देह [सः] वह (मैं) [इत्था] इस प्रकार [उरुक्रमस्य] व्यापक गति वाले (विष्णु) का [बन्धुः] भक्त (रूप मित्र) हूँ । [विष्णोः] विष्णु के [परमे] सर्वोत्कृष्ट [पदे] (प्राप्तव्य) स्थान में [मध्वः] शहद का [उत्सः] झरना है ॥ ५ ॥

टिप्पणियाँ—१ तत्—इसे उ० १ । १३२ में √तन् से व्युत्पन्न किया गया है—तनुते विस्तृतो भवतीति तत् । अतः वह विस्तृत पाथ, जिस का वर्णन अगले पाद में किया है ।

२ अस्य—उ० ४ । १५७ में 'इदम्' को √इन्द् परमैश्वर्यवान् होना से व्युत्पन्न किया गया है—इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति । निघ० ४ । १ । ६२ में 'अस्य' को पदनामों में पढ़ कर इसे गति, प्राप्ति और ज्ञान—अर्थ वाला माना

है। निघं० १ । १२ । १०१ में 'इदम्' को जल का पर्याय बताया है। (वेभाप० ३० । २९–३० भी देखें।) अतः यह 'परमैश्वर्यशाली, सर्वव्यापक और कल्याणप्रद विष्णु का द्योतक है।

३. प्रियम्—√प्री से। प्रसन्न करने वाला। तु. क. दभा०—येन प्रीणाति तत्। अतः कल्याणकारी, अभीष्ट।

४. पाथः—√पा रक्षा करना से। रक्षा करने वाला। सा०—१. अन्तरिक्ष, २. ऋ० ७। ४७। ३ में—स्थान। दस०—धर्म। पीटर्सन—घर। मै०—क्षेत्र शासित प्रदेश।

(११) यहाँ पर 'रक्षा, छाया' अर्थ लेना ही पर्याप्त है। तु. क० 'यस्य च्छायामृतम्'। ऋ० १०। १२१। २।

५. अभि अश्याम्—मै० इसे √अंश् पहुँचना का लुङ्लकारीय विधिलिङ् का रूप मानते हैं और सा० √अश् व्याप्त होना का विधिलिङ् उत्तम पुरुष एक व० का रूप। दस० ने इसे प्रार्थनार्थक माना है।

६. नर.—√नी से। ले जाने वाले। अतः नेता, मनुष्य आदि। परन्तु मनुष्य सशरीर विष्णुलोक में नहीं पहुँचते हैं। वहाँ आत्माओं का ही निवास होता है। 'आत्मा' पद भी √अत् सतत गति करना से बनता है। अतः यहाँ पर भी 'आत्माएँ' भाव लेना उचित प्रतीत होता है।

७. यत्र—मै०—विष्णु के तीसरे पद में—स्वर्ग, जिस में पितर यम के साथ सोम पीते हैं। इस में प्रथम पाद के 'प्रियं पाथ.' का निर्देश मानना अधिक उपयुक्त रहेगा।

८. देवयवः—देवं देवान् वा आत्मन इच्छतीति देवयुः। उस का प्रथमा बहुवचन पु०। सा०—देव = द्योतनस्वभाव विष्णु। दस०—देव = दिव्य भोग। देव पद क्रीडा विजिगीषा कान्ति गति मोद मद स्वप्न आदि अर्थ वाले √दिव् से निष्पन्न होता है। अतः इस का अर्थ 'कल्याणकारक' भी है। मै०—देवों के भक्त। पीटर्सन—देवभीरु जन।

९ उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था—सा०—'स हि बन्धुरित्था'—'नि सन्देह इस प्रकार वह विष्णु सब पुण्यशीलों का मित्र या हितकारी है' अर्थ कर के इस निक्षेप वाक्य मानते हैं और 'विष्णो पदे परमे मध्व उत्स'—'व्यापक परमेश्वर के उत्कृष्ट केवल सुखात्मक स्थान में माधुर्य का झरना है' को प्रधान वाक्य। इस में 'तद् अश्याम्' की पूर्वार्द्ध से अनुवृत्ति लाते हैं।

(ii) राथ और ग्रा० ने 'स हि०' और विष्णो पदे०' को पृथक् पृथक् वाक्य मान कर 'वहां शक्तिशाली गन्ता के मित्रों की समाज है और विष्णु के उच्चतम निवास में माधुर्य का झरना है' अर्थ करते हैं। इस प्रकार रोथ बन्धु' को स्वर्ग का समाज—दूसरे पाद के नरों देवयव की द्योतक समुच्चयवाचक संज्ञा मानते हैं और इस ऋ० १०। १५। ३ में वर्णित सुमित्र, बाहस्पद, विष्णु के नपात् और विक्रमण पितरों का द्योतक मानते हैं।

(iii) ल्यूड्विग का विचार है कि सा० बन्धु और उस को एक मानते हैं। इस आधार पर उन्हों ने अपना अनुवाद— उस से सम्बन्धित वहां विस्तृत गति वाले विष्णु के उच्चतम स्थान में मधु का झरना है' दिया है। परन्तु सा० बन्धु को विष्णु से सम्बद्ध करते हैं, उस से नहीं। देखो ऊपर (i) में सा० की योजना का व्याख्यान। ल्यूड्विग यह भी कहते हैं कि भक्त की विष्णुलोक में निवास के लिए कामना का कारण उस लोक में बन्धुभूत मधु के उस की सत्ता है। सा० विष्णो पदे परम० को पाथ' का विशेषण मानते हैं और इस प्रकार के विशिष्ट पद का स्वामी होने के कारण ही विष्णु को बन्धु कहते हैं। अतः ल्यूड्विग का एक मात्र आधार ही भ्रान्तिपूर्ण है।

(iv) पीटर्सन का विचार है कि बन्धु' में 'देवता और उस के भक्त के बीच के बन्धन का निर्देश हो सकता है—'निश्चय से विष्णु का भ्रातृत्व इस प्रकार का है कि मैं भी वहाँ जाने की आशा कर सकूँ'। वे इस की पुष्टि में ऋ० ७। ७२। २—युवयोर्हि न सख्या पित्र्याणि समानो बन्धुरुत तस्य वित्तम्—देते हैं। इस में बन्धु को सख्या का समानार्थक मानते हैं।

(v) मै० 'स' में 'पायस्' का निर्देश मानते हैं और 'बन्धु' की समीपता के कारण नपुंसक लिंग के स्थान में पुल्लिंग का प्रयोग।

(vi) पिश्चल ने उत्तरार्द्ध का अनुवाद—'विस्तृत गन्ता विष्णु क उच्चतम प्रदेश म नि सन्देह हमारा सम्बन्ध है, वहा मधु का झरना है।'—किया है। वे इत्था का अर्थ—'वहा' करते हैं।

(vii) जैसा हिन्दी अनुवाद म दिखाया गया है यहा पर 'स हि बन्धुरि था' 'अभि अदयाम्' के कर्ता—स्तोता भक्त का निर्देशक प्रतात होता है। स्तोता अपने को विष्णु का कृपापात्र इस लिए समझता है कि उस को विष्णु क उस लोक का प्राप्त करने की लालसा है जिस में कल्याण क इच्छुक आनन्दित होते हैं और वहा मधु = कल्याण का उत्स = झरना = निरन्तर निवास है। इस लोक को वह विष्णु की कृपा से ही प्राप्त कर सकता है। तु क—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम्॥ मुउ० ३।२।३ तथा—उत त्वस्मै तन्व विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा। ऋ० १०।७१।४।

१० इत्था—कुछ विद्वान् इसे 'अत्र' से व्युत्पन्न करते हैं। परन्तु इदम् + था = इत्था रूप बिल्कुल स्पष्ट है। उ० ४।१५७ में इदम् को √इन्द् से व्युत्पन्न किया गया है। अत इत्था—इस प्रकार कल्याणरूप ऐश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण।

११ बन्धु—बध्नाति इति बन्धु (उ० १।१०)। बन्धक। उभयपक्ष एक दूसरे क स्नेह में फस जाने क कारण मित्र या सम्बन्धी बनने वाले दोनों ही पक्ष बन्धु कहलाते हैं। भक्त भी विष्णु का कृपा से उस क प्रेम में बध जाने के कारण विष्णु का बन्धु है।

१२ पदे—√पद् जाना, प्राप्त करना, जानना स। अत गन्तव्य, प्राप्तव्य और ज्ञातव्य स्वरूप में। विष्णु का स्थान उस का अपना स्वरूप ही है, क्यों कि वह सर्वव्यापक है—वेवेष्टि विष्टप सर्वमिति विष्णु। वेदमन्त्रों म वर्णित विष्णु क पद का यही भाव है।

१३ परमे—परम 'ईश्वर' अर्थ का द्योतक है। इसे √पॄ पूरणार्थक धातु स अमच् प्रत्यय लगा कर भी व्युत्पन्न किया जा सकता है। (देखो दपाउ०

पृ० २८१ पाटि० १)। अत यह पद पूर्ण उत्कृष्ट नि श्रेय स पूर्ण करने वाला' भावों का द्योतक है।

१४ मध्वं—मधुन का वैदिक रूप है। उ० १ १८ आर २। ११६ म इस √मन् स व्यु पन्न माना गया है—मन्यत विशेषण जानन्ति यस्मिन स मधु =(उ० १। १८ पर दभा०)। मन्यत बुध्यते यनेन वा तत् मधु (—स मधु १ –उ० २। ११६ पर दभा०)। श० ७।५।१।३ में मधु को स्वर्ग लोक का रूप आर त ३।८ १४।२ मे महती देवता का रूप कहा गया है। ना० ३।७।१।११ क अनुसार यह सब कुछ मधु है। श० ६।४।३।२ म मधु को रस ओर श० १४।१।३।३० में प्राण कहा गया है। तै० ३।२।८।८ म प्राणों को ब्रह्म कहा गया है।

१५ उत्स—को उ० ३।६८ में √उन्द् भिगोना से व्यु पन्न किया गया है—उनत्ति क्लिद्यतीत्युत्स (दभा०)। श० ६।७।४।४। में आप को उत्स कहा गया है। क्षाप व्याप्ति क द्योतक हैं। अत मध्व उत्स का भाव विष्णु = ब्रह्म के स्वरूप, ज्ञान, रस और तत्त्व की व्याप्ति' होगा।

१६ तदस्य०—श्री पाटसन क विचार म यह मन्त्र आगामी जन्म में सुखप्राप्ति क विश्वास का सूचक है। दूसरे जन्म में सुख का अभिप्राय सामान्यत स्वर्ग समझा जाता है। ऊपर की टिप्पणियों के अनुसार यहा स्वर्ग निर्देश्य नहीं है प्रत्युत विष्णु क स्वरूप में व्याप्ति = लय अथात् मोक्ष का कथन किया गया है। इस से कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद और सुखदु ख का कारण पूर्व जन्म क कर्मो का फल होना आदि विचारो की सत्ता और व्यापकता का अनुमान किया जा सकता है।

सहितापाठ	पदपाठ
६. ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः । अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥६॥	ता। वाम्। वास्तूनि। उश्मसि। गमध्यै। यत्र। गावः। भूरिऽशृङ्गाः। अयासः। अत्र। अह। तत्। उरुऽगायस्य। वृष्णः। परमम्। पदम्। अव। भाति। भूरि॥६।

सायणभाष्यम्—हे पत्नीयजमानौ वा युष्मदर्थं ता तानि गन्तव्यत्वेन प्रसिद्धानि वास्तूनि सुखनिवासयोग्यानि स्थानानि गमध्यै युवयोर्गमना योश्मसि कामयामहे। तत्रं विष्णु प्रार्थयाम इत्यर्थः। तानीयुक्तानी त्याह। यत्र येषु वास्तुषु गावो रश्मयो भूरिशृङ्गा अत्यन्तोन्नत्युपेता बहु भिराश्रयणीया वायासोऽयना गन्तारोऽतिविस्तृता। यद्वा। यासो गन्तार। अतादृशा। अत्यन्तप्रकाशयुक्ता इत्यर्थः। अत्राह अत्र खलु वास्त्वाभ्यान्तरे ... ... स्तुत्यस्य वृष्ण ... ... वन प्रसिद्ध परम ... ... स्फुरति। अथ मन्त्रा यास्केन गाशब्दो रश्मिवाचक इति व्याख्यातेन व्याख्यात — तानि वा वास्तूनि कामयामहे गमनाय यत्र गावो भूरिशृङ्गा बहुशृङ्गा भूरीति बहुनो नामधेय प्रभवतीति सत। शृङ्ग श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गत मिति वायासोऽयना। तत्र तदुरुगायस्य विष्णोर्महागत परम पद पराध्यस्थमव भाति भूरि। पाद पद्यते' (निरु० २।७) इति ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[वाम्] आप दोनों के (अभीष्ट) [ता] उन (पूर्वोक्त प्रसिद्ध) [वास्तूनि] निवास स्थानों को [गमध्यै] प्राप्त करने की [उश्मसि] इच्छा करते हैं [यत्र] जहाँ [भूरिशृङ्गा] अनेक बड़े बड़े सींगों वाली [अयासः] गतिशील [गावः] गाएं (रहती हैं)। [अह] निश्चय से [अत्र] वहाँ [उरुगायस्य] महान् गति (अथवा प्रशंसा) वाले [वृष्ण]

इच्छाओं के पूरक (विष्णु) का [तद्] वह [परमम्] उच्चतम [पदम्] स्थान [भूरि] अत्यधिक [अव भाति] जाज्वल्यमान है ॥ ६ ॥

टिप्पणियां—१ ता—तानि का वैदिक रूप। √तन् धातु से व्युत्पन्न होने के कारण इस का भाव—वे प्रसिद्ध सुविस्तृत—होता है। मन्त्र ५ में तद् पर टिप्पणी भी देखें।

२ वाम्—यह युष्मद् का द्वितीया, चतुर्थी या षष्ठी का रूप हो सकता है। सा० ने चतुर्थी का और दस० और मे० आदि ने षष्ठी का रूप माना है। सा० ने इस में यजमान और यजमानपत्नी का निर्देश माना है। पीटर्सन लिखते हैं कि सा० का यह विचार ठीक नहीं। यहां विष्णु के सहचारी किसी अन्य देवता का निर्देश ही अभीष्ट है। वह देवता कौन सा है—यह समस्या सरल नहीं। रौथ इस मन्त्र को मित्रावरुण का मानते हैं, जो 'परम पदम्' के प्रयोग के कारण इस सूक्त में अव्यवस्थित रूप में डाला गया है। इसी प्रकार का अन्य देवता—मित्र का निर्देश दूसरे देवता—वरुण के सूक्त में उस के सहचर के रूप में बिना उस का नाम लिए ऋ० १।२०।६ में भी आया है—तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः। धृतव्रताय दाशुषे ॥ मे० इस (वाम्) में इन्द्र और विष्णु का निर्देश मानते हैं, क्यों कि विष्णु के साथ इन्द्र का ही घनिष्ठ साहचर्य है। इस कारण उसी की विष्णुसूक्त में आनुषंगिक रूप में कल्पना सम्भव है। इस द्विवचनान्त वाम् पद के कारण अगले सूक्त (ऋ० १।१५५) के प्रथम दो मन्त्रों में इन्द्राविष्णू की स्तुति की जानी स्वाभाविक रही होगी।

(ii) दस० ने यहां योगी अध्यापक और उपदेशक का निर्देश माना है। दस० ने इस के लिए कोई प्रमाण नहीं दिया है, न कोई व्याख्यान किया है। यह प्रकरण या मन्त्रस्थ वर्णन के आधार पर ही किया गया प्रतीत होता है। जैसा पिछले मन्त्र की टिप्पणियों में दिखाया गया है वहाँ परम पद का भाव विष्णु का स्वरूप ही है। वही वर्णन यहां है। इस स्वरूप को जानने और प्राप्त करने वाले योगी जन ही होते हैं, यह सिद्धान्त वैदिक काल से चला आ रहा है। तु. क. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः। वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ऋ० ५।८१।१, य० ५।१४।

उपह्वरे गिरीणा सगथे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ॥ ऋ० ८।६।२८ । आदि । उपनिषदों और योगदर्शन आदि की भी यही भावना है ।

(iii) उ० १।१३९ में युष्मद् को √युप् सेवन करना से व्युत्पन्न किया गया है । √युष् का रूप योयिष्टि निघ० २।१४।९७ में गत्यर्थक है । अत: निघ० ४।३।२९ में 'अस्मे' के पदनामों में पाठ के आधार पर 'युष्मे' को भी पदनाम मानना अनुचित न होगा । उधर 'वामः' के समान 'वाम्' को √वा जाना से भी ग्रहण किया जा सकता है । ऐसी परिस्थित में दस० का अर्थ ही ग्राह्य माना जा सकता है ।

३. वास्तूनि—उ० १।७० में इसे √वस् धातु से 'अगार' अर्थ में व्युत्पन्न किया गया है । √वम् को निवास और आच्छादन-दोनों अर्थों में लिया जा सकता है । आच्छादक निवास ।

४. उश्मसि—√वश् इच्छा करना से लट् लकार उत्तम पु० बहुवचन का वैदिक रूप । इच्छा करते हैं ।

५. गमध्यै—√गम् जाना से अध्यैन्-प्रत्ययान्त तुमुन्नर्थ में वैदिक रूप । जाने के लिए, प्राप्त करने के लिए ।

६. गावः भूरिशृंगाः—सा०—अत्युन्नत या सब के आश्रय के योग्य किरण । पीटर्सन—असख्य किरणों वाले तारे; ब्रु० क० पुराणों में वर्णित गोलोक और गोकुल । मै०—सा० और यास्क के किरण-अर्थ को सम्भव मानते हैं क्यों कि उषस् की किरणों की गौओं से उपमा दी गई है और प्रकाश के लोक विष्णु के तृतीय पद के अनुरूप सूर्य के प्रकाश से सम्बन्धित वस्तु ही उपयुक्त हो सकती है । ये पीटर्सन द्वारा स्वीकृत रौथ के 'तारे' अर्थ को निराधार मानते हैं । भूरिशृगाः—बहुत से सींगों वाली का भाव अनेकों दिशाओं में सूर्य की किरणों का फैलना है । दस०—भूरिशृग-उत्कृष्ट तेजी वाली ।

(ii) तै० ३ । ९ । ८ । ३ में गौः को अन्न कहा गया है । अन्न को श० ८ । ३ । २ । १ में श्रीः, तै० ३ । २ । ३ । ४ में चन्द्रमा, श० ७ । ५ । २ । ६० में अपां पाथः कहा गया है । प्रत्येक भोग्य पदार्थ अन्न है (√अद्

से) । श० ७ । ५ । २ । १९ में गौ को विराट्, ता० ४ । ९ । ३ में विराट् का रूप, श० ७ । ५ । २ । १९ में अजस्र सोम और श० १२ । ९ । १ । ४ में पुरुष का रूप कहा गया है। अत यहा गाव का भाव 'आनन्ददायक व्यापिशील भोग्य सनेह शान्तिप्रद विष्णु का स्वरूप' है।

(III) ने० ३ । २१ में भूरिज को √भृ धारण-पोषण करना से व्युत्पन्न किया है, यास्क ने नि० २ । ७ में बहु से, और बहु को प्रभवतीति सत — समर्थ होने के कारण कह कर प्र + √भू स । अत भार-धारक, पोषक और सर्वशक्तिमान्।

(IV) श्रृग को नि० २ । ७ में √श्रि सेवा करना आश्रय लेना, √शॄ हिंसा करना, √शम् शान्त होना (या करना), और शरण + उद्√गम् से व्युत्पन्न किया गया है। अत श्रृग—सेवनीय, दु खनाशक शान्तिदायक और शरणभूत।

(V) अत पूर्वार्द्ध के महत्त्वपूर्ण पदों का सामूहिक भाव यह हुआ—धारक पोषक सर्वशक्तिमान् सेवनीय दु खनाशक शान्तिदायक शरणभूत आनन्दमय व्यापक प्राप्त करने योग्य शान्तिमय परमेश्वर के स्वरूप रूप आच्छादक निवासों। ये निवास विष्णु के स्वरूप से भिन्न नहीं हैं।

७ अयासः —सा०—१ चलने वाला, गतिमान्, अतिविस्तृत २ गर्तहीन—परम प्रकाशमान। स्क०—प्राप्त हुए, पहुँचे हुए। ये भाष्यकार यास्क के अनुसार इसे √इ जाना के रूप 'अय' का प्रथमा बहुवचन मानते हैं। मै० कहते हैं कि ऋग्वेद में अयासम् (द्वितीया एक व०) अयासः (२ तीया बहु व०) अयासाम् (६ ठी बहु व०) के प्रयोगों से ज्ञात होता है कि यह पद अयास् है। सिंह, मरुतों, और अश्व का विशेषण होने से इस का अर्थ चुस्त तीव्रगामी, चपल होना चाहिए। रौथ इसे अ + यास् (√यस से) में मान कर इस का अर्थ अपने पर जोर न डालने वाले, हल्के, चुस्त, कुशल करते हैं। ऋग्वेद में यह अर्चय और अजरा का भी विशेषण है। पीटर्सन—न थकने वाला। उ० ४।२२ में इसे √इ से व्युत्पन्न किया गया है और अग्नि का पर्याय बताया गया है। देखो स्भा०—एति प्राप्नोति अयः। अग्निः। स्वरादिपाठादव्ययम्। अत एव नीयादिरात्म प्रत्यय। इस का अव्ययप्रत्ययैरिक

है। दपाउ० १। ८१ में इस को अव्यय नहीं माना है। वहा पर वृत्तिकार ने इस के दो अर्थ काल और आदित्य दिए हैं। अतः ऊपर गातः आदि के भाव के अनुरूप इस का भाव—'सृजक होने के कारण गतिमान्, काल रूप, सब का आधाता' होगा।

(11) उरुगायस्य—के लिए मन्त्र १ में उरुगायः पर, वृष्णः के लिए मन्त्र ३ में वृष्णे पर, परमं पदम् के लिए मन्त्र ५ में पदे परमे पर टिप्पणियां देखें।



ऋ० २।१२–इन्द्रसूक्तम्

ऋषिः–गृत्समदः । देवता–इन्द्रः । छन्दः–त्रिष्टुप् । स्वरः–धैवतः ।

संहितापाठः	पदपाठः
७. यो जात एव प्रथमो मनस्वान्	यः । जातः । एव । प्रथमः । मनस्वान्
देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।	देवः । देवान् । क्रतुना । परिऽअभूषत्
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां	यस्य । शुष्मात् । रोदसी इति ।
नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥१॥	अभ्यसेताम् । नृम्णस्य । मह्ना । सः ।
	जनासः । इन्द्रः ॥१॥

सायणभाष्यम्—द्वितीयेऽनुवाक एकादश सूक्तानि । तत्र "यो जात" इति पञ्चदशर्चं प्रथम सूक्त गार्त्समद त्रैष्टुभमैन्द्रम् । सप्तमे निष्केवल्ये निविद्धानीयस्य पुरस्ताद् "यो जात एव" इति [सूक्त] शसेत् । "यदि पयायान्" इति खण्डे सूत्रितम्—"यो जात एवेति निष्केवल्ये" (आश्व० श्रौ० सू० ६।६) इति । आभिप्लविके तृतीयेऽहनि निष्केवल्ये "यो जात एव" इति निविद्धनीयम् । सूत्रित च—"तृतीयस्य त्र्यर्यमा यो जात एवेति मध्यन्दिन" (आश्व० श्रौ० सू० ७।७) इति । विश्वजिति माध्यन्दिनसवने मैत्रावरुण स्वशस्त्रे प्राकृतात् सूक्तात् पूर्वं "यो जात" इति साममूक्तं शसेत् । "विश्वजितोऽग्नि नर" इति खण्डे सूत्रितम्—"सत्रा मदासो यो जात एवाभूरेक इति साममूक्तानि" (आश्व० श्रौ० सू० ८।७) इति । अग्निष्टुनिष्केवल्ये निविद्धानमिदम् "श्येनाजराभ्याम्" इति खण्डे सूत्रितम्—"तिष्ठा हरी [इति] यो जात एवेति मध्यन्दिन" (आश्व० श्रौ० सू० ६।७) इति । महाव्रते निष्केवल्ये "यो जात एव" इति सूक्तम् 'उरू' इति खण्डे सूत्रितम्—"वने न वा यो न्यधायि चाकन् यो जात एव प्रथमो मनस्वान्" (ऐ० आ० ५।१२) इति ॥

अत्रेतिहासो बृहद्देवतायाम् (४।६५-७९) उक्त —

"सयुज्य तपसात्मानमैन्द्र विभ्रन्महद् वपु ।
अदृश्यत मुहूर्तेन दिवि च व्योम्नि चेह च ॥
तमिन्द्र इति मत्वा तु दैत्यौ भीमपराक्रमौ ।
धुनिश्च चुमुरिश्चोभौ सायुधावभिपेततु ॥
विदित्वा स तयोर्भावमृषि पाप चिकीर्षितो ।
यो जात इति सूक्तेन कर्माण्यैन्द्राण्यकीर्तयत् ॥"

(बृहद्दे० ४।६६ ६८)

अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति—पुरा किलेन्द्रादयो वैन्ययज्ञ समाजग्मु । गृत्समदोऽपि तत्रागत्य सदस्यासीत् । दैत्याश्चेन्द्रजिघासया तत्र समागमन् । तान् दृष्ट्वा निर्जगामेन्द्रो यज्ञाद् गृत्समदाकृति । स च गृत्समदो वैन्येन पूजितो यज्ञवाटान्निरगच्छत् । निर्गच्छन्त तमृषि दृष्ट्वायमेवेन्द्र इति मन्यमानास्तमसुरा परिवव्रु । नाहमिन्द्रस्तुच्छः किन्त्वेवङ्गुणोपेत स इत्यनेन सूक्तेन तान् प्रत्युवाच ॥

अपरे त्वेवं कथयन्ति—गृत्समदस्य यज्ञे प्रविष्टमेकाकिनमिन्द्र ज्ञात्वासुरा परिवव्रु । स इन्द्रो गृत्समदरूपेण यज्ञावाटान्निर्गत्य स्वर्गं जगाम । ततोऽसुरा इन्द्रो विलम्बित इत्यन्त प्रविश्य गृत्समद दृष्ट्वा पूर्वमेव गृत्समदो गत, अय त्विन्द्रोऽस्म द्भयात् गृत्समदरूपेणास्त इति त जगृहुः । स तान् नाहमिन्द्रोऽयमित्यनेन सूक्तेन प्रत्युवाच । अयमेवार्थो महाभारते प्रपश्चितः ॥

गृत्समदो ब्रूते । जनासो जना हे असुरा यो जात एव जायमान एव सन् प्रथमो देवाना प्रधानभूतो मनस्वान् मनस्विनामग्रगण्यो देवो द्योतमानः सन् क्रतुना वृत्रवधादिलक्षणेन स्वकीयेन कर्मणा देवान् सर्वान् यागदेवान् पर्यभूषत् । रक्षकत्वेन पर्यगृहीत् । "भूष अलङ्कारे" भूवादिः, लङि रूपम् । यद्वा—सर्वानन्यान् देवान पर्यभूषत् पर्यभवद् अत्यक्रामत् । अस्मिन् पक्षे भवतेर्व्यत्ययेन क्स । "श्र्युकः किति" (पा० ७।२।११) इतीट्प्रतिषेधः । यस्येन्द्रस्य शुष्मात् शरीराद् बलाद् रोदसी द्यावापृथिव्यावभ्यसेतामबिभीताम् । "भ्यस भये" अनुदात्तेत् । "भ्यसते रेजत इति

भयवेपनयोः" (निरु० ३।२१) इति नैरुक्ताः। अभ्यसेतामवेपेता वा। तथा च मन्त्रान्तरम्--'इमे चित्तव मन्यवे वेपेते भियसा मही" (ऋ० १।८०।११) इति। नृम्णस्य सेनालक्षणस्य बलस्य मह्ना महत्त्वेन युक्तः स इन्द्रो नाहमिति। अत्र निरुक्तम्—"यो जायमान एव प्रथमो मनस्वी देवो देवान् क्रतुना कर्मणा पर्यभवत् पर्यगृह्णात् पर्यरक्षदत्यक्रामदिति वा। यस्य बलाद् द्यावापृथिव्यावप्यबिभीता नृम्णस्य मह्ना बलस्य महत्त्वेन स जनास इन्द्र इत्यृषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता" (निरु० १०।१०) इति ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस [प्रथमः] प्रमुख पहले से ही वर्तमान [मनस्वी] महानुभाव [देवः] द्योतनशील देव ने [जातः] उत्पन्न होते [एव] ही [क्रतुना] (अपने) सामर्थ्य से [देवान्] (सब) देवों को [पर्यभूषन्] सब ओर से अलङ्कृत किया हुआ है, [यस्य] जिस के [शुष्मात्] बल से (और) [नृम्णस्य] नेतृत्व की [महित्वा] महिमा से [रोदसी] द्युलोक और पृथिवी लोक [अभ्यसेताम्] काँपते रहे हैं, [जनासः] (हे) पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥१॥

टिप्पणियाँ—१. यः—उ० १।१३२ में इसे √ यज् (देवपूजा, सगतिकरण और दान) से व्युत्पन्न किया गया है—यजति सर्वैः पदार्थैः सगतो भवतीति यत् (दभा०)। दस० ने यहाँ पर इसे ब्रह्म का नाम भी माना है। दपाउ० ६।४३ में इसे √यत् प्रयत्न करना से व्युत्पन्न किया गया है। अतः इस का भाव 'सृष्टिरचना में प्रयत्नशील प्रकृति के परमाणुओं और जीवों की योजना द्वारा समस्त पदार्थों का रचयिता ब्रह्म' है।

२. जात एव – पुरुषसूक्त में पुरुष से विराट् की उत्पत्ति बताई गई है। विराट् से ही शेष समस्त वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में विराट् के वृष्टि, अग्नि, वाक्, पृथिवी, अन्न, आपः, यशः आदि बहुविध अर्थ कर के इसी बात को व्यक्त किया है। विराट् पद वि + √राज् चमकना से व्युत्पन्न होने के कारण 'परम दीप्तिमान् स्थिति का द्योतक है। अतः उसे उत्पन्न होते ही सब देवों को विभूषित करने वाला कहा गया है। सब पदार्थों में

विराट् का तेज ही प्रभा और शक्ति है। इस दृष्टि से मै० का 'पछाड देने, नीचा दिखा देने' का भाव भी ग्राह्य है।

३ प्रथम —सृष्टि से पहले न सत् था, न असत्। केवल 'एक तत्' ही बिना वायु के अपने सामर्थ्य से श्वास ले रहा था। देखो ऋ० १०।१२९।१–२। उसी से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। अत उस 'तत् एक' ब्रह्म को प्रमुख, पहले से ही वर्तमान कहा गया है। 'प्रथम' पद √प्रथ् से (दपाउ० ७।२६,४६) बनता है, अत इस का अर्थ 'प्रसिद्ध, विस्तृत—व्यापक' भी होता है।

४ मनस्वान्—पदपाठ में इसे अवगृहीत नहीं किया गया है। मै० लिखते हैं कि यह स्थिति सन्धि के कारण है। यदि सन्धि मनोवान् होती तो इसे अवगृहीत कर दिया जाता। उन का यह लेख ऋ० ९।११।८ के मन इ चित् की दृष्टि में मान्य नहीं है।

(ii) इस के अर्थ सा० ने 'मनस्वियों में अग्रगण्य', दस० ने 'विज्ञान युक्त', मै० ने 'बुद्धिमान्' और पीटर्सन ने 'भयङ्कर, घोर, उग्र' किए हैं।

(iii) ऋ० १०।१२९।४ का मन्तव्य है कि सृष्टि की उत्पत्ति के समय पुरुष के मन में कामना उत्पन्न हुई। यह कामना ही उस के मन में सृष्टि का स्वयम्भू, स्वतन्त्र यज्ञमय व्यापक बीज बनी। यही भाव यहाँ 'मनस्वान्' पद से व्यक्त किया गया है।

५ देव देवान्—सा० और आधुनिक विद्वानों ने विभिन्न शक्तिविशेष देवताओं की कल्पना की हुई है। ये देवता उत्पन्न होते हैं। इन के नाम इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र आदि हैं। इस मन्त्र के दूसरे पाद में इस कल्पना के आधार पर इन्द्र देवता को अन्य देवताओं को अभिभूत करने वाला बताया गया है। इस में देवासुर सग्राम अभिप्रेत नहीं, प्रत्युत एक की दूसरे देवता से उत्कर्ष के लिए स्पर्धा लक्षित होती है।

(ii) दस० का विचार भिन्न है। वे 'देव' पद को √दिव् धातु से निष्पन्न

कर इस धातु के क्रीडा आदि दसो अर्थों के प्रकाशक पदार्थों आदि को देवता मानते हैं। शतपथ ब्राह्मण मे ३३ देवताओं के व्याख्यान, ब्राह्मण ग्रन्थों के देव-पद के अर्थों तथा वेदो में देवताशब्द से निर्दिष्ट और ज्ञात पदार्थों आदि से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इस प्रकार न केवल ब्रह्म या परमेश्वर ही देवता है, प्रत्युत समस्त उपकारक पदार्थ, विचार आदि देवता हैं। देव और देवता समानार्थक हैं। अतः 'परमात्मा सब पदार्थों को अपनी शक्ति से तेजस्वी बनाता है, अपने सृष्टिकर्म से उन्हें उत्पन्न कर अपने शासन मे स्थापित करता है।'

६. क्रतु॑ना—सा०—वृत्रवध आदि अपने कर्मों से। दस०—प्रकाश कर्म से। रौथ शक्ति से। मै०—सामर्थ्य में।

(ᵻᵻ) इस मन्त्र और सूक्त में इन्द्र को सूर्य मानने पर सा० और दस० के अर्थ उपयुक्त हैं। परन्तु सृष्टिरचना प्रकरण मे ये अर्थ उपयुक्त नहीं। यहाँ पर ब्रह्म का अपने मन से सृष्टिरचना की कामना रूपी यज्ञमय स्वयभु स्वतन्त्र और व्यापक रेतस् कहलाने वाले बीज को धारण कर के सृष्टिरचना रूप कर्म और शक्ति अभिप्रेत है।

७. पर्य॑भूषत्—मै० के विचार मे परि + √भूष का अर्थ अनिश्चित है। परन्तु इस सूक्त मे इन्द्र की महिमा के वर्णन के कारण इस का अर्थ अभिभूत करना' होना चाहिए। सा० ने इस का अर्थ यहाँ पर 'रक्षाओं से अभिभूत किया, और तैसं० मे 'नीचा दिखाना', 'उत्कृष्ट हो जाना' किया गया है। रौथ-सुशोभित किया।

८. शुष्म॑न्—पीटर्सन इसे √श्वस् सास लेना से व्युत्पन्न कर इस के अर्थ 'जिस के श्वास पर, जिस के सास के सामने से' करते हैं। यह पद मरुतों के विशेषण के रूप मे भी प्रयुक्त हुआ है। ऋ० १।५२।४ मे यह मरुतः का विशेषण है। वे लिखते हैं कि यहाँ 'श्वास' का अर्थ 'शक्ति' करना पद्य को गद्य में बदलना है।

(ᵻᵻ) इस के अनुरूप पद 'शूषम्' का प्रयोग पिछले सूक्त (१।१५४) के

मन्त्र ३ में किया गया है। जैसा यहाँ की टिप्पणियों में दिखाया गया है भारतीय भाष्यकार इसे √शुष से व्युत्पन्न करते हैं। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्म के यज्ञमय कामना रूपी बीज को मन में धारण करने से सर्वप्रथम अप्रकेत सलिल (= आप) की उत्पत्ति हुई। इसी आप से समस्त सृष्टि का आविर्भाव हुआ। इस से पदार्थों की विविध गुण युक्त रचना और विभिन्न स्थलों में दृढ होना— सब कुछ इन्द्र की शोषक शक्ति से सम्पन्न हुआ है। अत शुष्मात् का प्रयोग साभिप्राय है।

९. रोदसी—रोदस्यौ का वैदिक रूप है। यह पद द्युलोक और पृथिवी लोक का द्योतक है (देखो वैको०, निरु० ३।१०।४)। निघ० ५।५।३६ में इसे पदनामों में पढ कर गति, प्राप्ति और ज्ञान अर्थ वाला माना है। नि० ६।१ में इसे नि + √रुध् से निरुक्त किया गया है। नि० ११।४६ म एकवचनान्त रोदसी को रुद्र की पत्नी कहा गया है। तै० २।२।६।४ म 'यदरोदीत् (प्रजापति) तन्नयो (द्यावापृथिव्यो) रोदस्त्वम्' कह कर इसे √ रुद् से व्युत्पन्न माना है। सृष्टिरचना के समय के अप्रकेत सलिल ही प्रजापति हैं। पृथिवी और द्युलोक के पृथक्करण के समय महान् शब्द की सत्ता के कारण इन्हें रोदसी कहा गया है। उन का शब्द ही रोना है। डा० फतहसिंह लिखते हैं कि एक दूसरे से पृथक् ज्ञात जीव और प्रकृति को भी रोदसी कहते हैं। (देखो वैए० ६०९)।

१०. अभ्यसेताम्—√भ्यस् कापना से लङ् प्रथम पु० द्विवचन। वेदस्थ भूतकालिक क्रियाएँ बहुधा वर्तमान काल का अर्थ देती हैं। यहाँ पर इस पद का भाव 'अलग अलग हो कर अपने अपने स्थाना पर जमे' होगा। दस०—अलग होते हैं। मै० डरते हैं।

११ नृम्णस्य मह्ना—सा०—सेनारूप बल की महिमा से। दस०—धन की महिमा से। मै०—वीरता की महिमा से।

(११) नृम्ण पद √ नृ (ले जाना) से बनता है। अत इस का अर्थ 'नेतृत्व' किया जा सकता है। समस्त ब्रह्माण्ड का उत्पादक, धारक और नाशक

होने के कारण परमात्मा (= इन्द्र) ही नायक है। उस के नायक गुण से ही समस्त सृष्टि की सत्ता है।

१२. मह्ना—महिमन् से तृतीया का एक व०। वैदिक रूप।

१३. स जनास इन्द्रः—यह प्रतीक अन्तिम मन्त्र को छोड़ कर इस सूक्त के शेष सब मन्त्रों के अन्त में पाई जाती है।

(*ii*) श्री पीटर्सन लिखते हैं कि इस का सायणीय व्याख्यान—'मैं नहीं, वह इन्द्र है'—बृहद्देवता से उस के द्वारा उद्धृत उपहासास्पद कथा की ओर निर्देश करता है। इस कथा से बृहद्देवता के रचयिता और इस सूक्त के रचयिता के काल और भावनाओं में दूर का अन्तर सुलक्षित होता है।

(*iii*) सायण ने इस सूक्त के सम्बन्ध में तीन आख्यान दिए हैं। तीनों का भाव यह है कि असुर गृत्समद को ही इन्द्र मान कर उस पर आक्रमण करते हैं। गृत्समद उन के भाव को जान कर अपनी रक्षा के लिए इस सूक्त के मन्त्रों से असुरों को बताता है कि वह इन्द्र नहीं है, प्रत्युत इन्द्र का स्वरूप उस के वर्णन के अनुसार है। असुरों को यह तथ्य जान कर गृत्समद को नहीं मारना चाहिए।

(*iv*) इन्द्र की स्थिति तो स्पष्ट है। वह इस समस्त जगत् का रचयिता सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही है। गृत्स को 'नघ० ३।१५।३ में मेधाविनामों में पढ़ा गया है। अतः मेधावियों में मद के समान उत्कृष्ट या आनन्द लेने वाले को गृत्समद कहते हैं। जब लोग इस व्यक्ति को ही ब्रह्म समझने लगते हैं तो ब्रह्मज्ञानी मेधावी (= गृत्समद) उन्हें बताता है कि जीवात्मा ब्रह्म नहीं है। उस में ऐसी सामर्थ्य नहीं जो ब्रह्म में है और इस सूक्त में वर्णित की गई है। उत्पन्न होने वाले का नाम जन है। असून् प्राणान् राति गृह्णाति धारयतीत्यसुरः —इस व्युत्पत्ति से 'असुर' 'जन' का पर्यायवाची हो जाता है। अलङ्कार से रहित इस सूक्त से सम्बन्धित कथाओं का उपरोक्त भाव सुस्पष्ट हो जायगा।

१४. इन्द्रः—ऋग्वेद के धर्म में यह प्रमुख देवता है। यह वीरकर्म करता है और सोमरस पीने में सर्वाधिक रुचि लेता है। इस का प्रमुख कर्म वृत्र या अहि या सर्प का वध है। सामान्यतः इसे सूर्य माना जाता है।

(*ii*) एक मन्त्र (ऋ० ९।१०७।१९) में इसे इन्दु+रन् से व्युत्पन्न माना प्रतीत होता है। डा० फतहसिंह ने वैदिक साहित्य से इस की लगभग १७ व्युत्पत्तियाँ संकलित की हैं और उन को पाँच वर्गों में रक्खा है—

१. इन्धः

२. इदम्+√द ; इदम्+√दृश् ; इदम्+√धर् ; इद+कर।

३. इराम्+√द , इराम्+√दा ; इराम्+√धा।

४. इन्दु+√द्रु , इन्दु+√रम् ; इन्दु+रन्।

५. इन्द—र ; इन्द्+√द ; इन्द्+√द्रु ; इन्द्+आ द।

उन के विचार में इन्द—र ही सब से उपयुक्त निर्वचन है। इस की अवे० ओदिन् या वादिन् से घनिष्ठ समानता है। (देखो वैद० पृ० ६४ ; १०२)। दस० ने भी इसे √ इदि परमैश्वर्ये से निरुक्त किया है और इस के अनेकविध अर्थ जैसे परमेश्वर, सूर्य, राजा, और विद्वान् आदि किए हैं। आधुनिक विद्वानों ने अपनी अपनी कल्पनाएँ दौड़ा कर इन्द्र का मूल स्वरूप बताने का भगीरथ प्रयत्न किया है। एक ने तो इसे ईरान का रुस्तम नामक पहलवान ही घोषित कर दिया है।

(*iii*) परन्तु विचारणीय यह है कि ऋ० १।१३६।६ में 'इन्द्र' अग्नि का विशेषण है और ऋ० ७।७६।३ में उषस् के विशेषण 'इन्द्रतमा' में इस के साथ तमप् प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। पुनरुक्त ऋग्गण में इस का अग्नि, इन्दु, सोम और विष्णु से तादात्म्य पाया जाता है। इसे 'एक सत्' का नाम भी कहा है। अतः 'इन्द्र'-पद ऋग्वेद में किसी एक वस्तु या दृश्य विशेष का द्योतक नहीं। भिन्न भिन्न स्थलों पर इस का विषयानुसार अर्थ करना उचित प्रतीत होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के इन्द्रपद के अनेकविध अर्थों—तपन सूर्य, आदित्य, आकाश, वाक्, वायु, प्राण, हृदय, मन, यजमान, क्षत्र, अशनि, वज्र, प्रजापति, देवलोक, वीर्य, शिश्न, उद्गाता, अश्व, आदि से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

संहितापाठः	पदपाठः
८. यः पृ॒थि॒वीं व्यथ॑माना॒मदृं॑ह॒द् यः पर्व॑तान् प्रकु॑पिताँ॒ अर॑म्णात्। यो अ॒न्तरि॑क्षं वि॒म॒मे वरी॑यो॒ यो द्याम॒स्तभ्ना॒त् स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥२॥	यः। पृ॒थि॒वीम्। व्यथ॑मानाम्। अदृं॑हत्। यः। पर्व॑तान्। प्र॒ऽकु॑पि॒तान्। अर॑म्णात्। यः। अ॒न्तरि॑क्षम्। वि॒ऽम॒मे। वरी॑यः। यः। द्याम्। अस्त॑भ्नात्। सः। जना॒सः। इन्द्रः॑ ॥२॥

सायणभाष्यम्—हे जना य इन्द्रो व्यथमानां चलन्तीं पृथिवीमदृंहत् शर्करादिभिर्दृढामकरोत्। "दृह दृहि [बृह बृहि] वृद्धौ"। यश्च प्रकुपितानितस्ततश्चलितान् पक्षयुक्तान् पर्वतानरम्णान्नियमितवान् स्वे स्वे स्थाने स्थापितवान्। अरम्णात्—"रमु क्रीडायाम्" अन्तर्भावितण्यर्थस्य व्यत्ययेन श्नाप्रत्ययः। यश्च वरीय उरुतममन्तरिक्षं विममे निर्ममे विस्तीर्णं चकारेत्यर्थः। यश्च द्यां दिवमस्तभ्नात् तस्तम्भ निरुद्धामकरोत्। "स्तम्भु रोधने" इति सौत्रो (पा० ३।१।८२,८।३।११६) धातुः। स एवेन्द्रो नाहमिति ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस ने [व्यथमानाम्] कांपती हुई [पृथिवीम्] पृथिवी को [अदृंहत्] स्थिर किया हुआ है, [यः] जिस ने [प्रकुपितान्] चचल [पर्वतान्] पहाडों को [अरम्णात्] शान्त किया हुआ है, [यः] जिस ने [वरीयः] महान् विस्तृत [अन्तरिक्षम्] अन्तरिक्ष लोक को [विममे] बनाया है और [यः] जिसने [द्याम्] द्युलोक को [अस्तभ्नात्] जमाया हुआ है, [जनासः] हे मनुष्यो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ २ ॥

टिप्पणियाँ—१. व्यथमानाम्—मैत्रायणी संहिता १।१०।१३ में एक आख्यान मिलता है जिस में कहा गया है कि पर्वत प्रजापति के बड़े पुत्र थे

उन के पत्त थे। अतः जहाँ चाहते थे वे बैठ जाते थे। इस से पृथिवी शिथिल रहती थी। इन्द्र ने पर्वतों के इन पखों को काट दिया और पृथिवी को स्थिर कर दिया। पर्वतों के कटे हुए पख बादल (—जीमूत) बन गए। अपना उत्पत्ति-स्थान होने के कारण ही बादल वर्षा ऋतु में पर्वतों पर आश्रय लेते हैं।

(ii) इस आख्यान में मानवसृष्टि से पूर्व का वर्णन है। उस समय सब कुछ अस्थिर, चञ्चल था। अभी वस्तुओं का स्वरूप बन रहा था। इस स्वरूप का निर्माता इन्द्र था—यह इस सूक्त से ज्ञात होता है।

(iii) दस० ने इस भाग का भाव '(परमेश्वर ने) सूर्य के निर्माण द्वारा चलते हुए पृथिवी आदि लोकों को अपनी अपनी परिधि में गति करने के लिए धारण किया हुआ है' लिखा है।

२. प्रकुपिताँ अरंम्णात्—प्रकुपितान् + अरम्णात्। वैदिक सन्धि। ऋग्वेद में पदान्त आन् को स्वर आगे आने पर आँ लिखा जाता है। ऐसे अधिकांश स्थलों में आन् मूल आन्स् के लिए प्रयुक्त हुआ है। आगे स्वर आने पर इस आन्स् को आस् के समान ही समझ कर सन्धि की जाती है। (देखो पीटर्सन हिम्ज फ्रौम दी ऋग्वेद, भाग १, पृ० ७२—ऋ० १।२५।११ में चिकित्वाँ पर टिप्पणी।

(ii) आधुनिक विद्वानों का कहना है कि इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में √कुप् का अर्थ 'गति' था और यह बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखता था। लक्षणा से यह धातु भौतिक जगत् से हट कर भावात्मक मानसिक जगत् में प्रयुक्त होने लगी और वहाँ संस्कृत में यह 'क्रोध' की और लैटिन में 'इच्छा' की द्योतक बन गई।

(iii) अरंम्णात् में भी शब्दार्थ के प्रसार पर इसी प्रकार का प्रकाश मिलता है। वेद में इस का अर्थ 'विश्राम करना' है, परन्तु लोक में यह सब प्रकार के आनन्द का उपभोग करने में प्रयुक्त होती है, केवल विश्रामजन्य सुख के उपभोग का ही नहीं।

(iv) परन्तु ऋग्वेद १।५४।४ के 'त्वं दिवो बृहतः सानु कोपय.', ५।५७।३

के 'कोपयय पृथिवीं पृश्निमातरः', १०।४४।८ के 'द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत्' और प्रकृत मन्त्र में √ कुप् का प्रयोग एकान्ततः बाह्य गति का द्योतक नहीं माना जा सकता। इस में क्रोध का भाव स्पष्ट झलकता है। ऋ० १।१४।१३ मे 'कुपयम्' की भी ऐसी ही स्थिति मानी जा सकती है।

(ए) ऋ० ८।१०१।४ के 'न सवाराय रमते', १०।१४५।४ के 'नो अस्मिन् रमते जनः'[1] ५।५२।१३ के 'समृषे मारुत गण नमस्या रमया गिरा'[3], १०।४२।१ के 'नि रामय जरितः सोम इन्द्रम्'[4], ७।५६।१६ के 'इमे तुर मरुतो रामयन्ति'[5], १०।३४।१३ के 'वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः' में √रम् का प्रयोग लौकिक अर्थों में ही हुआ है। इन मन्त्रों के ऋषियों में से जमदग्नि, श्यावाश्व, कृष्ण और वसिष्ठ प्राचीनतम काल के हैं। वे गृत्समद से पीछे के नहीं हैं। अतः प्रकृत मन्त्र में √रम् के प्रयोग को उपर निर्दिष्ट निष्कर्ष का पोषक मानना विचारणीय है।

(ऐ) दस० ने निघ० २।१९।२४ (वधकर्मा) के आधार पर इसे वध—अर्थ में लिया है—जो (सूर्य) अत्यन्त कोपयुक्त शत्रुओं के समान वर्तमान मेघों को छिन्न भिन्न करता है।

३. विममे—पीछे ऋ० १।१५४।१ में विममे पर टिप्पणी देखें। श्री म्यूर लिखते हैं कि यहाँ पर इस का अर्थ 'निर्माण किया' हो सकता है। दस०—विशेष रूप से मान करता है।

४. वरी'यः—उरु + ईयस्, नपु० द्वितीया एक व०। मै० का विचार है कि इस का प्रयोग 'विस्तृत होने के लिए फैला हुआ' भाव का व्यञ्जक है। तु० क०—'अकृणुतमन्तरिक्षं वरीयोऽप्रथतं जीवसे नो रजांसि' (ऋ० ६।६९।५)—'इन्द्र और विष्णु तुम ने अन्तरिक्ष को चौड़ा किया है और हमारे रहने के लिए स्थानों को फैलाया है।'

---

१. जमदग्निर्भार्गवः।	२. इन्द्राणी ऋषिका।
३. श्यावाश्व आत्रेयः।	४. कृष्ण आंगिरसः।
५. मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः।	६. कवष ऐलूषः, अक्षो मौजवान् वा।

(*ii*) उरु—पद √ऊर्णु (ढकना) से बनता है। अतः यहाँ आच्छादक अर्थ अभिप्रेत है। ऊपर उद्धृत ऋ० ६।६६।५ में भी वरीयः का यही अभिप्राय है।

५. द्याम्—द्यो का द्वितीया एक व०। सा०—स्वर्ग। मै०—आकाश, स्वर्ग। दम०—प्रकाश।

६. अदृंहत्, अरम्णात्, अस्तभ्नात्—क्रमशः √दृह्, √रम् और √स्तम्भ् से लङ् लकार प्रथम पु० एक व० के रूप हैं।

संहितापाठः	पदपाठः
३. यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्	यः। हत्वा। अहिम्। अरिणात्। सप्त। सिन्धून्। यः। गाः।
यो गा उदाजदपधा वलस्य।	उत्ऽआजत्। अपऽधा। वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान	यः। अश्मनोः। अन्तः। अग्निम्।
संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः ॥३॥	जजान। सम्ऽवृक्। समत्ऽसु। सः। जनासः। इन्द्रः ॥३॥

सायणभाष्यम्—योऽहिं मेघं हत्वा मेघहननं कृत्वा सप्त सर्पणशीलाः सिन्धून् स्यन्दनशीला अपोऽरिणात् प्रैरयत्। यद्वा सप्त गङ्गायमुनाद्या मुख्या नदीररिणात्। "रीङ् स्रवणे" क्र्यादिः। यश्च वलस्य वलनामकस्यासुरस्य अपधा तत्कर्तृकान्निरोधान्निरुद्धा गा उदाजन्निरगमयत्। अपधा। अपपूर्वाद्दधातेः—"आतश्चोपसर्गे" (पा० ३।३।१०६) इति भावेऽङ् प्रत्ययः। 'सुपां सुलुक्००' (पा० ७।१।३९) इति पञ्चम्या आकारः। यश्चाश्मनोः—अश्नुते व्याप्नोत्यन्तरिक्षमित्यश्मा मेघः। अत्यन्तमृदुरूपयोर्मेघयोरन्तर्मध्ये वैद्युतमग्निं जजानोत्पादयामास। यश्च समत्सु—सम्भक्षयन्ति योद्धॄणामायूंषीति समदः सङ्ग्रामाः तेषु—संवृक् भवति। वृणक्तेर्हिंसार्थस्य क्विपि रूपम्। स इन्द्रो नाहमिति ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस ने [अहिम्] सर्प (—सदृश वृत्र) को [हत्वा] मार कर [सप्त] सात [सिन्धून्] धाराओं को [अरिणात्] बहाया है। [यः] जिस ने [वलस्य] वल के [अपधा] बाड़े से [गाः] गौओं को [उदाजत्] बाहर निकाला है [यः] जिस ने [अश्मनोः] दो पत्थरों के [अन्तः] बीच में [अग्निम्] आग [जजान] उत्पन्न की है, (और जो) [समत्सु] युद्धों में [संवृक्] मार-काट करने वाला (है), [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥३॥

टिप्पणियाँ—१. अहिम्—ऋग्वेद में इन्द्र वृत्र युद्ध का बहुत वर्णन आया है। वृत्र को एक राक्षस माना जाता है जो जलों को आवृत किए रहता है। इस को 'अहि' भी कहते हैं। सोमपान कर के इन्द्र मरुतों के साथ इस राक्षस का वध करता है और जलों को मुक्त करता है।

(ii) इस आलंकारिक वर्णन के व्याख्यान में विद्वानों में भारी मतभेद रहा है। ऐतिहासिक वृत्र को त्वाष्ट्र असुर मानते थे और नैरुक्त मेघ। कुछ इसे रात्री का अन्धकार, हिलेब्राण्ड पानी को जमाने वाली घोर सर्दी, तिलक ध्रुव प्रदेशों में प्राप्त दीर्घकालीन अन्धकार समझते हैं। इस प्रकार इस के व्याख्यान में आजकल चार मुख्य वाद मिलते हैं—१. मेघवाद २. उषोवाद ३. वसन्तवाद और ४. ध्रुवप्रदेशवाद। (देखो घाटे-लेक्चर्ज औन दी ऋग्वेद पृ० १३७—१४१)। प० बलदेव उपाध्याय ने इसे दुर्भिक्ष और अकाल का असुर माना है। ऐतिहासिकों के पक्ष में इन्द्र देवताओं का राजा है। शेष सब वादों में इन्द्र सूर्य ही है।

(iii) ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही इस वर्णन में अनेक दृष्टियों—वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक आदि का समावेश कर दिया गया। ऐसी स्थिति में किसी एक मत या वाद द्वारा इन्द्र-वृत्र युद्ध के समस्त वर्णनों का व्याख्यान सम्भव नहीं। जैसा वर्णन सामने हो वैसा ही व्याख्यान कर देना उचित होगा। ब्राह्मण ग्रन्थों के वृत्र के सब कुछ का आच्छादक, पाप्मा, उदर, सोम, चन्द्रमा आदि अर्थ और दय० के वृत्र के मेघ, शत्रु

सेना, धर्म के ध्वंसक, जलदाता, प्रजाजन्य सुख में मग्न, कुटिल, अज्ञान, आवरण, जल, धन, और शत्रुओं को पराजित करने वाले क्रम आदि अर्थ इस दृष्टि से ही प्रस्तुत किए गए हैं। डा० फतह सिंह ने वैदिक दर्शन में इस आख्यान के दार्शनिक पक्ष का व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

(iv) वृत्र का वध केवल इन्द्र का ही कर्म नहीं है। अग्नि, आप, देवों को भी वृत्र का हन्ता कहा गया है।

(v) भाष्यकारों ने 'अहि' को √इ जाना, √अह् व्याप्त करना, आ + √हन् मारना आदि से व्युत्पन्न किया है। डा० फतहसिंह इसे न + √हि जाना से व्युत्पन्न मानते हैं (देखो वैद०—अहिपद)।

२ अरि'णान्—√रि बहना, + लङ् प्रथम पु० एक व०। मै०—मुक्त कर दिया। मन्त्र के इस भाग में इन्द्र-वृत्र युद्ध की ओर संकेत है जिस में इन्द्र वृत्र को मार कर जलों को मुक्त करता है। तु० क० ऋ० २।१४।२—यो अपो वव्रिवांसं वृत्रं जघान—जिस ने जलों को आच्छादित करने वाले वृत्र को मारा।

३ सप्त सिन्धू'न्—सा० ने इस के दो व्याख्यान प्रस्तुत किए हैं—एक सामान्य-बहने वाले जल। दूसरा—गंगा आदि सात नदियाँ। इन नदियों के नाम गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी दिए गए हैं। श्री मैक्स मूलर का विचार है कि ऋग्वेद के आर्यों का जीवन सिन्धु की घाटी और पंजाब में बीता। यही क्षेत्र वैदिक सप्तसिन्धु है। उस काल में गंगा दोआब का ज्ञान विरलातिविरल था और दक्षिण की खोज तो अभी हुई ही न थी। आजकल सामान्यतः यही मत प्रचलित है। इन के विचार में पंजाब की पाँच नदियाँ, सिन्धु और सरस्वती ही सात नदियाँ हैं। ल्यूडविग आदि सरस्वती के स्थान पर कुभा को रखते हैं। थामस के विचार में ओक्सस प्रारम्भिक सात नदियों में अवश्य रही होगी। ज़िम्मरमैन इन नदियों की पहचान पर कोई बल नहीं देना चाहते। वैद० इस से सहमत है और 'सात' को आर्यों की प्रियसंख्या बताता है। अन्य भी कई विद्वानों ने सप्त सिन्धुओं को संसार के विभिन्न देशों

में खोजने का प्रयास किया है। एक विद्वान् ने ईरान में एक सप्तसिन्धु प्रदेश की कल्पना की है।

(*ii*) इस में सृष्टिरचना के समय हिन्द महासागर, प्रशान्त महासागर आदि सात प्रसिद्ध महासागरों के निर्माण का वर्णन अभिप्रेत हो सकता है।

(*iii*) पुनरुक्त अर्थों में 'सप्त' 'बहु' के अर्थ में आया है। इस आधार पर 'समस्त जल की धाराएँ और कोष' भाव लिया जा सकता है। तु० क० ऋ० १।३२।१२ में दस० का व्याख्यान—बड़े-बड़े जलाशय, नदी, कुँआ और साधारण तालाब ये चार जल के स्थान पृथिवी पर और समीप, बीच और दूर देश में रहने वाले तीन जलाशय (मिल कर कुल सात जलाशय)।

४. गाः गो का द्वितीया बहुवचन। सा० मै० आदि—गौएँ। दस०—पृथिवियाँ।

(*ii*) सा० और आधुनिक विद्वानों ने इस मन्त्र में वलनामक राक्षस के गायों को चुराने, इन्द्र का उस को मारने और उस के स्थान से गायों के उद्धार का वर्णन माना है। श्री मै० ने इस अर्थ की पुष्टि में ऋ० २।१४।३—'यो गा उदाजद् अप हि वलं व.'—'जिस ने गौओं को बाहर निकाला, क्यों कि उस ने वल को अनावृत कर दिया'—दिया है। दस० ने गाः उदाजत् और वलस्य अपधा—ये दो वाक्य बना कर 'पृथिवियों को ऊपर प्रेरित करता अर्थात् एक के ऊपर एक को नियम से चला रहा है' और 'बल को धारण करने वाला' अर्थ किए हैं। सायणीय अर्थ में इन्द्रवृत्र युद्ध के दो पक्षों का वर्णन स्पष्ट लक्षित है—१. मेघ के हनन द्वारा वर्षा करना और २. अन्धकार को नष्ट कर के प्रकाश की किरण फैलाना।

(*iii*) परन्तु पिछले मन्त्रों में इन्द्र के सृष्टिकर्म का वर्णन किया गया है जो अभी चालू है। इस में जलीय प्रदेशों की रचना, लोकों का अर्क[1] की स्थिति से निकाल कर उन्हें दृश्यमान रूप में स्थापित करना, समस्त शक्ति (अंग्रेजी—एनर्जी) को प्रवृत्त करना, विद्युत् के उत्पादन और सहारशक्ति की प्रवृत्ति

१. अर्क—अप्रकेत सलिल के पश्चात् की द्रवमय तेजःपूर्ण स्थिति। देखो बृआउ० १।२।१-२; । इस में सृजक शक्ति का वर्णन है।

का वर्णन किया गया है। आगे मन्त्रों में वर्णित इन्द्र के कर्म इन कर्मों के प्रतिप्रसव कहे जा सकते हैं।

५ उदाजत्—उत्+√अज् (गति, क्षेपण)+लङ् प्रथम पु० एक व०। सा०—निकाला। मै०—बाहर हाँका। दोनों का भाव एक ही है। दस०—ऊपर प्रक्षेप किया करता अर्थात् एक के ऊपर एक का नियम से चला रहा है।

६ अपधा—इस पद के ठीक ठीक अर्थ करने में कुछ संशय है। यह पद केवल इसी स्थल पर प्रयुक्त हुआ है। पीटर्सन इसे अगले मन्त्र के गुहा पद के समान सप्तम्यन्त मानते हैं। रौथ, ग्रैसमैन, ग्रासमैन और मै० इसे तृतीयान्त मानते हैं। रौथ का अर्थ है—वल के छिपने के स्थान से और ग्रासमैन का रहस्य, चाबी (बन्धन)। मै० इसे अपऽधा का तृतीयान्त रूप मानते हैं और ऋ० २।१४।३ के अपवृ (ऊपर गा की टिप्पणी में उद्धृत) के समानान्तर मान कर इस का अर्थ 'अनावरण'—'वल की गुहा का अनावरण' करते हैं। इस की पुष्टि ऋ० १।११।५—त्वं वलस्य गोमतोऽपावरद्रिवो बिलम्—तुम ने गौओं से भरे हुए वल के बिल को अनावृत कर दिया है—से करते हैं। दुर्ग ने इस का अर्थ उद्घाटन=अनावरण किया है। सा० इसे पञ्चम्यन्त मानते हैं—वल के बाड़े से। दस० ने इसे प्रथमान्त मान कर 'योऽपदधाति स—धारण करने वाला' अर्थ किया है।

७ वृत्रस्य—सा० आदि ने इसे गौओं का चोर और इन्द्र का वध्य असुर माना है। मै० आदि के लेख से ऐसा आभास मिलता है कि यह अन्धकार के असुर आदि किसी अलंकार का द्योतक नहीं, प्रत्युत वास्तविक गौओं के चोर व्यक्ति-विशेष का नाम हो। वैइ० ने इस पर कुछ नहीं लिखा है। दस० ने इसे 'वल' समझा है। इस की पुष्टि श० ११।४।३।१२ के लेख—[१]

१ इन्द्र की धारक शक्ति।

२ महाशक्ति। इन तीनों के बिना जगत् का विकास सम्भव नहीं। अतः इन का वर्णन अनिवार्य है।

'इन्द्रो बल बलपतिः । बलमस्मिन् यज्ञे मयि दधातु स्वाहेत्याहुतिमेवादायेन्द्र उदक्रमत् पुनरस्यै बलमददात्--इन्द्र बल और बल का स्वामी है। इस यज्ञ मे वह मेरे में बल स्थापित करे--मेरी यह इच्छा पूरी हो। (इस) आहुति को ले कर इन्द्र ने गति की और उस को फिर बल दिया'--से भी होती है। ऋ० १।६२।४ मे 'बलम्' फलिगम् का विशेषण है—फलिगमिन्द्र शक्र बल रवेण दरयो दशग्वैः। अधिकाश वर्णनो मे इन्द्र द्वारा बल के हनन का ही कथन किया गया है। ऋ० ६।३९।२ मे बल की सानु का कथन है। ऋ० १०।६८।६ मे उसे गोवपुष कहा है। ऋ० १०।६८।५ में बृहस्पति अग्नि के समान तप्त अर्कों (=जलो) से बल को मारता है। ऋ० ३।४५।२ मे इन्द्र के विशेषणों--वलरुजः और अपामव्रजः से ऐसा आभास मिलता है कि बल का वध और आपः (=गाः ?) का प्रेरण इन्द्र के पृथक्-पृथक् दो वीर कर्म है, एक नहीं। साथ ही बल का वध इन्द्र का ही कर्म नही है, प्रत्युत बृहस्पति, पितर, ऋत के धारक यजमान भी बल का नाश करते है। अतः ऋग्वेद मे 'बल' पद किसी एक भाव का ही द्योतक नहीं, वह अनेकार्थक है। दस० ने इस के मेघ, बलवान्, बल, कुटिल गति (वाला), बलवान शत्रु अर्थ किए हैं। इसे निघ० १।१०।४ में मेघ का पर्याय माना गया है। ऋग्वेद के वर्णनों से ऐसा प्रतीत होता है कि यह मेघ सृष्टि की रचना के समय का अन्धकाराच्छन्न अप्रकेत सलिल का घनीभूत रूप हो।

८. अश्मनोरन्तरग्निं जजान—सा०--दो बादलों (की टक्कर) में। दुर्ग—द्युलोक और पृथिवी लोक के बीच मे। मै०—इस मे अग्नि के वैद्युत रूप का वर्णन है जिसे कई मन्त्रों में 'चट्टानो मे वर्तमान' 'चट्टानो से पैदा होने वाला' और 'चट्टानों का पुत्र' (—अद्रेः सूनुः) कहा गया है।

१ उ० ४।१४७ में अश्मन् को √अश् व्याप्त होना से व्युत्पन्न माना गया है।

९. संवृक्—यह पद ऋग्वेद मे अन्यत्र प्रयुक्त नही हुआ है। सा० और दस० इसे √वृज् (वर्जने) से निष्पन्न करते हैं। इसे √वश्च् का रूप भी

माना जा सकता है । इस का भाव यह है कि इन्द्र की शक्ति से ही युद्ध में मारकाट होती है । वही सब कर्मों का अधिष्ठाता है ।

संहितापाठ	पदपाठ
१०. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि	येन । इमा । विश्वा । च्यवना । कृतानि ।
यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।	यः । दासम् । वर्णम् । अधरम् । गुहा ।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददद्	अकरित्यकः । श्वघ्नीऽइव । यः ।
अर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥४॥	जिगीवान् । लक्षम् । आदत् । अर्यः ।
	पुष्टानि । सः । जनासः । इन्द्रः ॥४॥

सायणभाष्यम्—येनेन्द्रेणेमा इमानि विश्वा विश्वानि च्यवना नश्वराणि भुवनानि कृतानि स्थिरीकृतानि । यश्च दासं वर्णं शूद्रादिकम् । यद्वा—दासमुपक्षपयितारम् । अधरं निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढस्थाने नरके वा अकार्षीत् । करोतेर्लुङि "मन्त्रेघस ००" (पा० २।४।८०) इत्यादिना च्लेर्लुकि रूपम् । लक्षं लक्ष्यं जिगीवान् । "जि जये" क्वसौ "सन्लिटोर्जेः" (पा० ७।३।५७) इत्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम् । दीर्घश्छान्दसः । जितवान् । योऽर्योऽरेः । षष्ठ्येकवचने छान्दसो यणादेशः । शत्रोः सम्बन्धीनि पुष्टानि समृद्धानि आददद् आदत्ते । तत्र दृष्टान्तः । श्वघ्नीव । श्वभिर्मृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याधः । यथा व्याधो जिघृक्षितं मृगं परिगृह्णाति तद्वत् ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[येन] जिस के द्वारा [इमा] ये [विश्वा] सम्पूर्ण (पदार्थ) [च्यवना] गतिमान् [कृतानि] किए गए हैं [यः] जिस ने [दासम्] दास [वर्णम्] रंग को [अधरम्] वश में (कर के) [गुहा अकः] नष्ट कर दिया है । [यः] जिस ने [लक्षम्] दाँव के धन को [जिगीवान्] विजयी [श्वघ्नी] जुआरी के [इव] समान [अर्यः] शत्रु की [पुष्टानि] समृद्धि को [आदत्] छीन लिया है, [जनासः] हे मनुष्यो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ ४ ॥

टिप्पणियाँ १. इमा विश्वा—इमानि और विश्वानि के वैदिक रूप। व्युत्पत्ति के अनुसार ऐश्वर्य के कारण सर्वत्र प्रविष्ट पदार्थ, लोक आदि। मै०—पृथिवीस्थ समस्त पदार्थ। सा०—नश्वर लोक।

२. च्यवना कृतानि—सा०—नश्वर लोकों को स्थिर किया है। दस० (च्यवना) प्राप्त हुए लोकों को बनाया है (सप०) दृढ किया है (हिअ०)। मै०—अगले पाद में अरुः के विधेय 'अधर' के समान यहाँ 'च्यवना' कृतानि का विधेय है। अतः अस्थिर किए गए हैं। तु० क०—यस्ता विश्वानि चिच्युषे—(ऋ० ४।३०।२२)—जिस ने सम्पूर्ण जगत् को हिला दिया है। पीटर्सन—उलटना, जीतना। कृतानि का सा० का अर्थ 'स्थिर किए गए हैं' सम्भव नहीं। ग्रास० का 'जो कुछ चलता है (=चर सृष्टि) उस सब का निर्माता' अर्थ सम्भव है। परन्तु मन्त्र ९ का अच्युतच्युत् पद इस का विरोधी है। साथ ही चर सृष्टि के वर्णन के पश्चात् अचर सृष्टि के निर्माण के वर्णन की अपेक्षा बनी रहती है। यहाँ में इस अपेक्षा का पूरक पद कोई नहीं है। कवि इन्द्र के सृष्टिकर्म का वर्णन भी समाप्त कर चुका है और अन्य कर्मों के वर्णन की ओर अग्रसर हो रहा है। तु० क०—यो दास वर्णमधरं गुहाकः (अगला पाद)।

(ii) वस्तुतः अभी इन्द्र का सृष्टिकर्म समाप्त नहीं हुआ है। श्री पीटर्सन को दासं वर्णम् की आधुनिक सम्प्रदाय की धारणाओं से भ्रान्ति हुई है। सृष्टि से पूर्व सांख्य के अनुसार समस्त प्रकृति साम्यावस्था में थी। उस में गति आदि नहीं थी। इन्द्र उस में गति लाया। लोकों की रचना की और उन को अपनी अपनी परिधि में गति करने वाला बनाया। यहाँ पर यही भाव अभिप्रेत है।

३. दासं वर्णम्—सा०—१. शूद्रादि वर्ण २. उपक्षयिता। मै०—अनार्य रंग (=कृष्ण वर्णम्); आदिवासी। यह पद विशेषण है। सज्ञापद अन्तोदात्त (=दासः) होता है। पीटर्सन—'विरोधी रंग, काली चमडी'। आज के समान उस काल में भी गोरों द्वारा कालों को दी जाने वाली गाली। ऋग्वेद

में दास और दस्यु आर्यों के समस्त शत्रुओं—असुर और मानव—के लिए प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ पर अनार्य जातियों की ओर निर्देश स्पष्ट प्रतीत होता है। सा० और ग्रास० का भी यही मत है। रौथ—राक्षसों की सन्तान। दस०—(वर्णम्) रूप को (दासम्) देने योग्य (अक) करता है।

(११) ऋग्वेद में वर्ण[1] पद के प्रयोगों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उस का प्रयोग 'किरण (१०।३।३), सन्तान (१।१७९।६ , २।३।५) प्रकाश, तेज, शुभ्र रूप, लाल रूप, प्रकाशमान तेज, स्वच्छ तेज (४।५।१३ , २।१।१२ , ९।७१।८ , १।७३।७ , ९।९२।१० , ९।१०४।२ , ३।३४।५ ६।९७।१५ , १०।५।४), कल्याण (९।१०४।२), रूप (२।५।५ , ९।१०४। ४), प्राणदायक रूप (९।७१।२), वरुण का रूप (१०।१२४।७) अर्थों का द्योतक है। ऋ० ९।६५।८ में यह इन्द्र का विशेषण है। १।७३।७ में कृष्ण और अरुण वर्ण का अर्थ काला और लाल प्रकाश है। १।९६।५ , ११३।२ में रात्रि और उषस् को अपना अपना वर्ण=रूप=प्रकाश=क्रमशः काला और सफेद) फैलाने वाला कहा है। १।१०४।२ में दास के मन्यु को नाश कर के कल्याण के लिए वर्ण लाने का कथन है। ३।३४।१३ में चन्द्र वर्ण=आह्लादक प्रकाश का वर्णन है। यह गृत्समद का ही सूक्त है। अतः गृत्समद के प्रकृत मन्त्र में दास वर्णम् का अर्थ—'दुःखदायी प्रकाश—काला प्रकाश=रात का प्रकाश=अन्धकार' करना ही उचित प्रतीत होता है। यह रात्रि का अन्धकार सृष्टिरचना के पहले का ही अन्धकार है—'तम आसीत् तमसा गूढमग्र (ऋ० १०।१२९।३)—सृष्टि से पूर्व अन्धकार से छिपा हुआ अन्धकार था'। इन्द्र ने इसी गाढ़, प्रकाश के निवारक (दास—दस्यति प्रकाशमुपक्षिपति नाशयतीति) अन्धकार को दूर किया।

---

१ इस विवेचन की दृष्टि में 'हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्' का अर्थ—'दुष्टों, दुष्ट भावों को नष्ट कर के श्रेष्ठ भावों का प्रसार किया' होगा। ऐ० ७।१८ में विश्वामित्र के अनेकों वंशजों अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब आदि को 'दस्यु' कहा गया है।

४. अधरं गुहाकः—सा०—अधर = निकृष्ट असुर। गुहा—गुफा में, गूढ़ स्थान या नरक में। अक = अकाषात्। √कृ का लुङ् प्रथम पु० एक व० का वैदिक रूप। दस०—अधरम्—हृदय के नीचे। गुहा—हृदयाकाश। मै०—अक का सम्बन्ध अधरम् से भी है और गुहा से भी। अधरमकः—नीचा बनाया, वश में किया। गुहा अक —गुफा में रक्खा (छिपाया) = दूर किया, हटाया। रौथ और ग्रास० गुहा को पञ्चमी के रूप में प्रयुक्त तृतीया का रूप मानते हैं।

(ii) इस का दास वर्णम् के व्याख्यान से सम्बद्ध व्याख्यान ही अभीष्ट है। अधर न धार्यते इति अधरः, तम्। दास वर्णम् का विशेषण। असह्य घोर अन्धकार। गुहाक —दूर किया, गुफा आदि में स्थित किया। 'अधरम्' को 'अकः' के साथ क्रियाविशेषण भी लिया जा सकता है।

५ अकः—संहितापाठ में 'र्' से उत्पन्न पदान्त विसर्गों को यदि सन्धि के कारण 'र्' न हुआ हो तो पदपाठ में उन्हें 'इति' लगा कर निर्दिष्ट किया जाता है तथा मूलरूप को कई बार पुनः आवृत्त किया जाता है—अकरित्यकः।

६. श्वघ्नीव जिगीवाँ लक्षमादत्—दस० का अर्थ—कुत्तों को दण्ड देने वालों के समान जयशील लक्ष को ग्रहण करता है (ऐसा परमेश्वर —स्पष्ट नहीं है। सा० —इन्द्र ने (श्वघ्नी) व्याध के समान लक्ष्य को जीता है। रौथ—दॉव को जीतने वाले जुआरी के समान। ऑफ्रैख्ट—एक लाख को जीतने वाला जुआरी। पीटर्सन—अर्थ बहुत अनिश्चित है। इस के प्रयोग के अन्य स्थलों में सा० के अर्थ १. व्याधस्त्री (१।९२।१० ; ४।२०।३ ,) कितव ८।४५।३८ ; १०।४२।९ ; ४३।५) हैं और दस० का श्वक्री (१।६२।१० ; ४।२०।३) है। इन में से चार स्थलों पर उपमा है। १।६२।३ में तो प्रकृत मन्त्र ४, ५ के अनुरूप ही उपमा है।

(ii) श्वघ्नी का उपरोक्त अर्थों में से कोई भी ग्रहण करें सब में उपमा का लक्ष्य नि शेषीकरण है। जिस प्रकार जुआरी हारने वालों से जीत का धन ले कर

उन्हें निःशेष = अकिंचन कर देते हैं उसी प्रकार। अथवा, जैसे हिंसक पशु या व्याध प्राणियों का जीवन पूर्णतया नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार।

७. जिगीवान्—√जि + क्वसु, प्रथमा एक व० पुल्लिंग। सम्भवतः छन्द की दृष्टि से इस का उच्चारण 'जिगीवाँ' होता होगा। कालान्तर में उसी प्रकार लिखा जाने लगा (मै०)।

८. आदर्त्—आ + √दा + लुङ् प्रथम पु० एक व०। पदपाठ में इसे अवग्रहीत नहीं किया गया है। गौणवाक्य की क्रिया होने के कारण यह अवग्रहीत होना चाहिए था।

९. अर्यः—सा०—अरि का षष्ठी का एक व०। वैदिक रूप। शत्रु के। मै०—यह बहुव्रीहि समास प्रतीत होता है—[न विद्यन्ते रायः (स्वस्मै परेभ्यो दातु वा) सः अरिः तस्य]—जिस के पास अपने लिए भी धन नहीं है ऐसा निर्धन, अथवा, जिस के पास दूसरों को देने के लिए धन नहीं है अपने लिए तो है ऐसा कंजूस। सा० और मै० का भाव यह प्रतीत होता है कि कंजूस और शत्रु का धन अयज्ञिय है, वह परोपकार के काम में नहीं आता, अतः वह छीन लिया जाता है—तु० क० ऋ० १०।११७।६—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।'—'जिस का मन उदार नहीं है वह व्यर्थ भोजन पाता है। मैं सच कहता हूँ, वह उस की मृत्यु ही है। न वह यज्ञ को पुष्ट करता है न मित्र को। केवल अपने आप खाने वाला एकमात्र पाप को ही खाता है'।

(*ii*) दस० ने अर्यः को प्रथमान्त मान कर इस का अर्थ 'ईश्वर' किया है। ये 'पुष्टानि' का अर्थ 'दृढ़' कर के 'व्यवना कृतानि' से सम्बद्ध करते हैं।

(*iii*) ये अर्थ पाद १-२ के प्रस्तावित भावों में विशेष संगत नहीं। यदि 'अर्यः' का अर्थ 'शत्रु तुल्य अन्धकार का' कर लें तो अर्थ ससंग हो जायगा। पुष्टानि—पोषक शक्तियाँ। इन्द्र ने अन्धकार की पोषक शक्तियों को इसी प्रकार

नि शेष कर दिया जिस प्रकार जुआरी दॉव को जीत कर दूसरे जुआरी को अकिंचन कर देता है।

(१४) अर्य का अन्धकार-अथ सीधा भी किया जा सकता है—न अर्यते रीयते वाऽस्मिन् इत्यरि, तस्य।

सहितापाठ	पदपाठ
११. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्	यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुह। सः। इति। घोरम्। उत। ईम्। आहुः।
उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।	न। एषः। अस्ति। इति। एनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति	सः। अर्यः। पुष्टीः। विजःऽइव। आ। मिनाति। श्रत्। अस्मै।
श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥५॥	धत्त। सः। जनासः। इन्द्रः। ५॥

सायणभाष्यम्—अपश्यन्तो जना घोरं शत्रूणां घातकं यं पृच्छन्ति स्म कुह सेति स इन्द्रः कुत्र वर्तत इति। सेति—"सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्" (पा० ६।१।१३४) इति सोर्लोपे गुणः। न कचिदसौ तिष्ठतीति मन्यमाना जना एनमिन्द्रमाहुरेव इन्द्रो नास्तीति। तथा च मन्त्रः— "नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह" (ऋ० ८।१००।३) इति। ईमिति पूरणः। स इन्द्रो विज इव। इव शब्द एवार्थे। उद्वेजक एव सन्। अर्योऽरेः सम्बन्धीनि पुष्टीः पोषकाणि गवाश्वादीनि धनानि। आ मिनाति सर्वतो हिनस्ति। "मीञ् हिंसायाम्"। "मीनातेर्निगमे" (पा० ७।३।८१) इति ह्रस्वः। तस्मात् श्रत्स्मा इन्द्राय धत्त स इन्द्रोऽस्तीति विश्वासमनु कुरुत। यद्यप्यसौ विशेषतोऽस्माभिर्न दृश्यते तथाप्यस्तीति विश्वासं कुरुत। एवंनिर्धारणीयमहिमोपेतः स इन्द्रो नाहमिति ॥ ५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यम्] जिस [घोरम्] भयकर को [पृच्छन्ति स्म] (लोग) पूछते आए हैं [इति] कि [सः] वह (इन्द्र) [कुह]

कहाँ (है) ? [उत] और [ईम्] सर्वव्यापक [एनम्] इस (इन्द्र) को [आहु] (कुछ लोग) कहते हैं [इति] कि [एष] यह [न अस्ति] विद्यमान नहीं है [सः] वह (इन्द्र) [विजः] क्रुद्ध हुए के [इव] समान [अर्यः] शत्रु की [पुष्टीः] पोषक शक्तियों को [आ मिनाति] क्षीण कर देता है [अस्मै] उस (इन्द्र) में [श्रत्] विश्वास [धत्त] धारण करो, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥ ५ ॥

टिप्पणियां—१ स्मा—स्म। संहिता में दीर्घ हो गया है। दस० ने इसे अवधारण (= एव) के अर्थ में लिया है। शेष सब पृच्छन्ति के साथ लगाते हैं।

२ सेति—स + इति। इस प्रकार की अव्यवस्थित सन्धि वेद में बहुधा मिलती है। लोक भाषा के लिए भी पाणिनि ने पाद की पूर्ति के लिए इस प्रकार की सन्धि का विधान किया है (सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्। पा० ६।१।१३४)।

३ घोरम्—सा०—शत्रुओं का घातक। यम् (इन्द्रम्) का विशेषण। अं० क्र०—क्रियाविशेषण। इस भयंकर रूप में, भयावह प्रकार से।

४ ईम्—सा०—पादपूरक मानते हैं। दस०—सब ओर से। मैं० इसे अन्य पदों से सम्बद्ध √इ के नाम का द्वितीया का रूप मानते हैं। या तो यह किसी संज्ञा का स्थान लेता है, या आगे आने वाली संज्ञा के लिए स्थान तय्यार करता है, या अन्य सर्वनामों के साथ आता है। (वैग्रास० पृ० २२०)। यहाँ पर यह 'एनम्' का निर्देशक है। पीटर्सन लिखते हैं कि इस से निर्दिष्ट पद बहुधा आवृत्त किया जाता है, जैसे यहाँ एनम् की आवृत्ति है।

(ii) निरु० ४।२।८० में इसे पदनाम माना है। अत इस का अर्थ पादपूरण या निर्देशक सर्वनाम मात्र नहीं है, यह गति, ज्ञान और प्राप्ति का

द्योतक भी है। इसी आधार पर हि० अ० में 'सर्वव्यापक' अर्थ किया गया है।

५. आहुः—√ब्रू का लिट् प्रथम पु० बहु व०। मै० इसे √अह् कहना का लिट् का रूप मानते है।

(iii) मै० लिखते हैं कि यह उदात्तस्वर युक्त नहीं है। अतः पाद २ प्रधान वाक्य के रूप में है यद्यपि इस सूक्त में लगभग सर्वत्र सम्बन्धद्योतक वाक्यों के प्रयोग से यह आशा की जानी स्वाभाविक थी कि पाद १ का यम् यहाँ भी आहुः को उदात्त स्वर युक्त कर देता। परन्तु आप ने पाद २ के 'एनम्' पर ध्यान नहीं दिया है। ऋषि इस पद से 'इन्द्र' के परमैश्वर्य का द्योतन करना चाहते है जो 'यम्' से सम्भव नहीं। अतः उन्हों ने अपनी शैली वदल कर इसे प्रधान वाक्य का रूप दिया है और उस के द्वारा पूर्व वाक्य से सम्बन्ध जोड़ा है।

६. अर्यः पुष्टीः—पिछले मन्त्र मे अर्यः पुष्टानि पर टिप्पणी देखें। इस मन्त्र मे हिअ० का अर्थ भी समान है।

७. विज इव—सा०—उद्वेजक होते हुए ही। दस०—भय से सचलित के समान। मै०—दाँव (का धन) क्यो कि मन्त्र ४ का लक्षमाददर्यः पुष्टानि इस मन्त्र के पाद ३ के समान है। अतः विजः = लक्षम्। पीटर्सन छन्द की दृष्टि में इसे विजेव पढने का सुझाव देते है। जहाँ सेति में संहिता का मूलरूप उपलब्ध होता है। वहाँ विज इव मे विकृत रूप। ग्रास० इव को वा पढना चाहते है। मै० सो अर्यः को सोऽर्यः क्यो कि सामान्यतः प्राप्त छन्द का रूप इसी अवस्था में वनता है। पीटर्सन विजः को द्वितीयान्त मानते हैं, प्रथमान्त नहीं।

(ii) यह पद केवल एक और मन्त्र मे आया है—श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आ मिनाना (ऋ० १।९२।१०)। सा० ने वहाँ इस का अर्थ 'चलते हुए पक्षी' किया है।

(iii) श० ७।१।१।१४ के 'तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो विजते' में √ विज् धातु 'प्रचण्ड गति' या 'उल्वणत्व' का द्योतक है। अत विज का अर्थ क्रुद्ध, प्रचण्ड किया जा सकता है। सा० और दस० ने पाणिनीय धातुपाठ के आधार पर अर्थ किए हैं, परन्तु वे प्रकरण में सुसगत नहीं।

८. श्रत् धत्त—टैटिन—क्रेडो। कैल्टिक—क्रेटिम्। सत्य मानो। वह है इसे सत्य समझो। उस में श्रद्धा रक्खो। श्रद्धा से ही उस के स्वरूप को जान कर उस की उपासना की जा सकेगी (तु० क० श्रद्धासूक्त ऋ० १०।१५१ और हमारा लेख—श्रद्धा का वैदिक स्वरूप)। ऐसा न करने पर मनुष्य इन्द्र का वध्य हो जाता है। तु० क०—य' शश्वतो मह्येनो दधानानमन्य मानाञ्छर्वा जघान—जो निरन्तर महान् पापों के धारक और (उस को) न मानने वाला को अपने बाण से मार देता है'।

संहितापाठः	पदपाठः
१२. यो र॒ध्रस्य॑ चोदि॒ता यः कृ॒शस्य॒	यः। र॒ध्रस्य॑। चो॒दि॒ता। यः। कृ॒शस्य॑। यः। ब्र॒ह्मणः॑। नाध॑मानस्य। की॒रेः। यु॒क्तऽग्रा॑व्णः। यः। अ॒वि॒ता। सु॒ऽशि॒प्रः। सु॒तऽसो॑मस्य। सः। ज॒ना॒सः॒। इन्द्रः॑ ॥१२॥
यो ब्र॒ह्मणो॒ नाध॑मानस्य की॒रेः।	
यु॒क्तग्रा॑व्णो॒ यो॑ऽवि॒ता सु॑शि॒प्रः	
सु॒तसो॑मस्य॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥१२॥	

सायणभाष्यम्—यो रध्रस्य। "रध हिंसासंराद्धयोः"। समृद्धस्य। चोदिता धनानां प्रेरयिता भवति। यश्च कृशस्य दरिद्रस्य च यश्च नाध-मानस्य। "नाधृ णाधृ (नाथृ नाधृ) याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु"। याचमानस्य कीरेः। करोतेः कीर्तयतेर्वा। स्तोतुर्ब्रह्मणो ब्राह्मणस्य च धनानां प्रेरयिता।

१ एकस्मिन् कोषेऽत्र 'च' इत्यधिकं।

रध्र सुशिप्रः शोभनहनुः सुशीर्षको वा सन् युक्तग्राव्णः अभिषवार्थमुद्यत-ग्राव्णः सुतसोमस्याभिषुतसोमस्य यजमानस्याविता रक्षिता भवति स एवेन्द्रो नाहमिति । ब्रह्मशब्दस्य स्तत्रपरत्वे ह्याद्युदात्तता स्याद्, यथा—"ब्रह्म ऋन्वानो अजरं सुवीरम्" (ऋ० ३।८।२) इति। अथ स्तन्तोदात्तः पठ्यत इति नान्नपरः ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [रध्रस्य] समृद्ध का [यः] जो [कृशस्य] क्षीण दुर्बल का [यः] जो [ब्रह्मणः] ब्राह्मण [नाधमानस्य] याचक [कीरेः] स्तोता का [चोदिता] (अपने-अपने कर्मों में) प्रेरक है, [सुशिप्रः] सुन्दर ओठों वाला [यः] जो [युक्तग्राव्णः] सिलबट्टे को मिलाने वाले [सुतसोमस्य] सोम रस निकालने वाले का [अविता] सहायक है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥ ६ ॥

टिप्पणियाँ—१. य इति—इस मन्त्र में मानव जाति के चार भाग किए गए हैं। विस्तार के लिए नीचे टिप्पणी २ (*ii*) देखें।

२. रध्रस्य चोदिता—यह इन्द्र का प्रिय विशेषण है। सायण के अर्थ इस प्रकार है—

१. रध्र = समृद्ध जनों का प्रेरक (२।२१।४)
२. रध्र = हिंसक शत्रुओं का प्रेरक (वही)
३. रध्र = राधक समृद्ध धन का प्रेरक (६।४४।१०)
४. रध्र = राधक (यजमान) का प्रेरक (८।८०।३)

ये इसे √रध हिंसासराद्धयोः से व्युत्पन्न करते है। दय० के अर्थ ये हैं—

१. हिंसकों का प्रेरक (२।१२।६)
२. रुकावटी पदार्थों को प्रेरणा देने वाला (२।२१।४)
३. धन की प्राप्ति के लिए प्रेरणा देने वाला (६।४४।१०)

(*ii*) परन्तु विद्वानों की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई और इस पद का अर्थ अनिश्चित समझा गया। यह पद अकेला केवल तीन स्थलों पर आया है। इन मे सा० के अर्थ आराधक यजमान (२।३४।१५), समृद्धजन (७।५६।२०)

और राधक स्तोता (१०।२४।३) हैं। दस० के अर्थ 'अच्छे प्रकार की सिद्धि (२।३४।५) और समृद्धिमान् (७।५६।२०) हैं। यह पद अध्र और एक अन्य समास में भी मिलता है। सा० ने अध्र के अर्थ 'शत्रुओं के वश में न आने वाला' (६।१८।४) और 'असमृद्ध' (६।६२।३) किए हैं तथा दस० ने अहिंसक (६।१८।४) और असमृद्ध व्यवहार (६।६२।३)। अध्रातुर (६।१८।४) में सा० ने वशीकरण और दस० ने हिंसा अर्थ लिए हैं।

(iii) रौथ ने पहले तो 'अध्र' का अर्थ 'अनलस' किया था। सैंट पीटर्सबर्ग कोष में उन्होंने 'रध्र' को 'रध = अर्ध् (ऋध्) से व्युत्पन्न कर अवै० 'अरेद्र' से तुलित किया है। इस के अर्थ 'समृद्ध, देवों का प्रसादक, धार्मिक' दिए हैं। ग्रास० के मत में इस का अर्थ 'थका हुआ' है। साइबेनजिग लाइडर में रध्रस्य कृशस्य के अर्थ 'समृद्ध और निर्धन हैं'। औफ्रेख्ट के अर्थ 'ईमानदार (= सच्चा) और निर्धन' हैं।

(iv) पिशल कहते हैं कि ऋ० ६।६२।३ में अध्र अश्विनों के वर्ति का विशेषण है जिसे गामत्, हिरण्यवत्, अश्वावत् और इरावत् आदि कहा गया है। अतः अध्र का अर्थ 'न निर्धन, न कजूस, अर्थात् समृद्ध, दानी' है। रध्रस्य चोदिता = जो कजूस को उदारता में प्रेरित करता है। चोदिता के साथ केवल रध्रस्य का सम्बन्ध है, शेष षष्ठ्यन्तों का अविता से। मै० की योजना, ह्वि० अ० के समान है।

(v) इस मन्त्र में मानव जाति के चार भाग किए गए हैं—१ रध्र २ कृश ३ ब्रह्मन् नाधमान कीरि और ४ युक्तग्रावन् सुतसोम। इसी प्रकार ऋ० १०।१२५।५ में भी चार विभाग—१ उग्र २ ब्रह्मन् ३ ऋषि ४ सुमेधा किए गए हैं। इन दोनों वर्णनों में ब्रह्मन् की स्थिति स्पष्ट है। श० ६।१।१।१ में ऋषियों को तप से उत्पन्न बताया है। तप से मानव कृश होता है, स्थूल नहीं। अतः कृश और ऋषि को समान भाव का द्योतक माना जा सकता है। सुमेधा √मेधृ संगमने से बनता है। संगमन = संगतीकरण √यज् धातु का अर्थ भी है। अतः सुमेधा = उत्तम यज्ञ करने वाले, = यजमान = प्रजाजन (—विश)।

सिलवट्टे से सोम का अभिषवण भी यज्ञ के लिए प्रमुख रूप से किया जाता है। जैसा आगे युक्तग्राव्णः और सुतसोमस्य की टिप्पणियों में दिखाया गया है। इन दोनों पदों का अर्थ 'योगक्षेम द्वारा ऐश्वर्य का उत्पादक' होता है। यह कर्म उत्तम सगमनी बुद्धि से ही सम्पन्न होता है। अतः सुमेधा और युक्तग्रावन् सुतसोम को समान भाव का निर्देशक माना जा सकता है। अब रध्र और उग्र शेष रह गए। रध्र को हिंसार्थक√रध् से मानने पर ये दोनों भी समान भाव के द्योतक हो जाते हैं। उग्रत्व या हिंसा का गुण क्षत्रियों में पाया जाता है, ब्रह्मन् ब्राह्मण है ही। यज्ञ करने वाले सामान्य जन विश् या वैश्य हैं। य० ३०।५ में शूद्र को तप से सम्बद्ध किया है। अतः यहाँ पर कृशपद ऋषि—तपस्वी शूद्र का द्योतक प्रतीत होता है।

३. ब्रह्मणः—सा०—१. ब्राह्मण २. अन्न। दस०—वेद। म्यूर (पु०)। १. सूक्त या प्रार्थना का रचयिता या उच्चारक, चिन्तक, ऋषि, कवि, (२) सामाजिक पूजा का सम्पादक, पूजक, पुरोहित (३) (चारों वेद विशेषतः अथर्ववेद का ज्ञाता) होतृ आदि से भिन्न कर्मों वाला एक विशेष पुरोहित = ब्रह्मा। कुछ मन्त्रों में यह पद 'पेशे—से पुरोहित' भाव का द्योतक है। यह पद ब्रह्मन्–नपु०, सूक्त, प्रार्थना से भिन्न है और अन्तोदात्त है।

४. नाधमानस्य—√नाध् + शानच् + षष्ठी एक व०। याचक, प्रार्थी। दस०—सकल ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाले। मै०—शरणागत।

५. कीरेः—कीरि का षष्ठी एक व०। पिशल लिखते हैं—कि जिन मन्त्रों में कीरि का प्रयोग हुआ है उन्हें दो वर्गों में रक्खा जा सकता है। एक वर्ग में यह पद सदा 'निद् (= अरि)' के साथ प्रयुक्त हुआ है। इस से ही प्रतीत होता है कि कीरि का अर्थ ऐसी वस्तु है जो स्वतः प्रसादक या अनुकूल नहीं है। ऐसे समस्त प्रयोगों और कीरिचोदन की तुलना से इस का अर्थ 'छोटा, निकृष्ट, निर्धन' निश्चित हो जाता है। आप कहते हैं कि मन्त्रों में रातहव्यः (१।३१।१३—आहुति देने वाला), रातहव्यः स्वध्वरः (८।१०३।१३) और कीरि तथा कीरियज्ञ और होतृमत् यज्ञ (—होता से युक्त यज्ञ—१०।४१।२),

के वैपम्यात्मक प्रयोग पाये जाते हैं। ७।१००।६ का कीरिणा पद समान भाव वाले मन्त्र ६।४५।२ में अनानुना अर्वता के अनुरूप है। अत ये कीरि को नम्र का पर्याय मानते हैं और इस की पुष्टि ऋ० ५।४।१० के हृदा कीरिणा (विनम्र हृदय से) से करते हैं।

(११) यदि विश्वल का यह विचार मान लें तो एक समस्या हल करनी आवश्यक हो जाती है—मन्त्र में अनेक बार प्रत्येक षष्ठ्यन्त सज्ञा के साथ 'य' का प्रयोग क्यों किया गया? स्पष्ट है कि यह प्रयोग इस मन्त्र में जितने 'य' हैं उतने ही व्यक्तियों की कर्मप्रेरणा या रक्षा का द्योतक है। अत विश्वल का विचार अमान्य है। इसे की+√ईर् अथवा √कृ से व्युत्पन्न किया जा सकता है। सा० और दस० का स्तोता–अर्थ तथा √कृ धातु के शिक्षा, वेद ज्ञान आदि का वितरक अर्थ करना प्रकरण में अनुचित न होगा।

६ युक्तग्राव्ण—युक्तौ ग्रावाणौ येन स, तस्य। √सा०—सोम निकालने के लिए दो पत्थरों = सिल-बट्टे का प्रयोग करने वाला। दस०—मेघ या पत्थरों वाला पदार्थ।

(१२) अकोसु० २।३।४ में ग्रावन् की व्युत्पत्तियाँ ये दी हैं—१ √गृ निगरणे + वनिप् २ √गृ शब्दे + वनिप्। ३ ग्र (√ग्र सेके से) + अव (√ अव् रक्षा करना आदि से)। ४-५. अकोसु० २।३।१ में—√ग्रसु अदने + वनिप् और ३।३।१०६ में ग्रस् और आ + वन्। ६ देवराज ने निघ० १।१०।२ में इसे √हन् + वनिप् से भी व्युत्पन्न किया है। इन सब में अकोसु० की √गृ से, अथवा √गृ और √अव् से निष्पत्ति ही इस पद के स्वरूप और अर्थ से मेल खाती है। इन के अनुसार इस के अर्थ निगरण (=प्राप्त करना, इकट्ठा करना) और रक्षा होते है। निघ० ५।३।५ के पदनामों में पाठ के कारण प्राप्त इस के अर्थों—गति, ज्ञान और प्राप्ति से भी इन अर्थों की पुष्टि होती है। इन निगरण और रक्षा कर्मों को योगक्षेम भी कहा जा सकता है। इन का प्रयोग करने वाला।

६. सुशिप्रः—सा० शोभन ठोडी या सिर वाला। दस०—जिस में सुन्दर सेवन होते हैं। यास्क—उत्तम ठोडी या नाक वाला। ये इसे √सृप् से व्युत्पन्न करते हैं (नि० ६।१७)। निघ० ४।३।७३ में इसे पदनामों में पढा गया है। मै०—सुन्दर ओठों वाला। 'यह बहुव्रीहि समास है। इस पद का ठीक-ठीक अर्थ सन्दिग्ध है, परन्तु यह (शिप्र) नियमित रूप से द्विवचन में प्रयुक्त हुआ है। इस का एक विशेषण हरि (=हरा) है, हरिशिप्र और हरिश्मशारु' (हरी मूँछों या डाढी वाला) एक दूसरे के तुल्य हैं। हरिशिप्र का सम्बन्ध इन्द्र के सोमपान से है। अतः इस का अर्थ ओष्ठ या मूछ ही हो सकता है। ठोडी (=जबडा) नहीं।

(११) यास्क ने अपने अर्थ के पदों हनू और नासिके की √हन् और √नस् से व्युत्पत्तियाँ दे कर इन अर्थों की सुशिप्र. के पदनामों में पाठ से प्राप्त अर्थों से एकता दिखाई प्रतीत होती है, क्यों कि ये दोनों धातुएँ √हन् और √नस् गत्यर्थक भी हैं। साथ ही हनू और नासिके का निर्वचन देना उन के धातुज अर्थों को ग्रहण करने का निर्देश करता प्रतीत होता है। इस दृष्टि की उपेक्षा और इन्द्र के पुरुषविध वर्णन से ही सा० आदि का अर्थ चल पडा। मै० मूल अनुभूति सा० से ही लेते हैं। अतः यहाँ पर यास्क के अनुसार इस के गत्यादि अर्थ करने ठीक रहेंगे—उत्तम गति वाला = सर्वत्र व्याप्त; सब को जानने और प्राप्त करने वाला। अतः सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सब का धारक।

८. सुतसो'मस्य—सुतः सोमः येन सः, तस्य। सा० सोम नामक ओषधि का रस। दस०—सोमादि अच्छे पदार्थों का उत्पादक। आधुनिक सम्प्रदाय भी इसी अर्थ को ग्रहण करता है और इस की तुलना अवै० हओम से करता है। इसे इन्द्र का अभिमत पेय माना गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस को सत्य, श्री, ज्योति, राजा, चन्द्रमा, वृत्र, पितृलोक, सवत्सर, प्रजापति, वायु, विष्णु, रात्री, दधि, सभी देवता, पर्ण, पलाश, पशु, यजमान, वर्चस्, रस, क्षत्र, यश, अन्न, प्राण, रेतः और पयः आदि कहा गया है। दस० ने इसे √सु धातु से निष्पन्न कर इस प्रकार के अनेक अर्थ दिए हैं। इन्हीं

आधारों पर यहाँ सोम (=श्री, पशु, अन्न आदि ऐश्वर्य) को प्राप्त करने वाला है। इस ऐश्वर्य की प्राप्ति योगक्षेम (युक्तग्रावन्) से होती है। डा० पतङ्गसिंह ने वैप० में इस की अथर्ववेद से √सु निकालना से और शतपथ-ब्राह्मण से 'स्वा + मा' से निरुक्तियाँ सङ्कलित की हैं।

संहितापाठः	पदपाठः
१३. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो	यस्य। अश्वासः। प्रऽदिशि। यस्य।
	गावः। यस्य। ग्रामाः। यस्य।
यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।	विश्वे। रथासः। यः। सूर्यम्। यः।
यः सूर्यं य उषसं जजान	उषसम्। जजान। यः। अपाम्।
यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥७॥	नेता। सः। जनासः। इन्द्रः ॥७॥

सायणभाष्यम्—यस्य सर्वान्तर्यामितया वर्तमानस्य प्रदिशि प्रदेशनेऽनुशासनेऽश्वासोऽश्वा वर्तन्ते। यस्यानुशासने गावः। यस्यानुशासने ग्रामाः। ग्रसन्तेऽत्रेति ग्रामा जनपदाः। यस्याज्ञायां विश्वे सर्वे रथासो रथा वर्तन्ते। यश्च वृत्रं हत्वा सूर्यं जजान जनयामास यश्चोषसम्। तथा मन्त्रः—"जजान सूर्यमुषसं सुदंसाः" (ऋ० २।१२।८) इति। यश्च मेघभेदनद्वारापां नेता प्रेरकः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्य] जिस के [प्रदिशि] शासन में [अश्वासः] घोड़े [यस्य] जिस के (शासन में) [गावः] गौएँ [यस्य] जिस के (शासन में) [ग्रामाः] गाँव (और) [यस्य] जिस के (शासन में) [विश्वे] सब [रथासः] रथ (विद्यमान हैं)। [यः] जिस ने [सूर्यम्] सूर्य को (और) [यः] जिस ने [उषसम्] उषस् को [जजान] उत्पन्न किया है [यः] जो [अपाम्] जलों का [नेता] बहाने वाला है [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है।

टिप्पणियाँ—१. भाव—इन्द्र ने अश्वादि सब कुछ को उत्पन्न किया है। अतः वे सब उस की शक्ति से ही अपने-अपने स्वभावानुकूल कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। ऋ० १०।१२५—वाक्सूक्त भी देखें।

२ अश्वासः०—अश्व शक्ति का, गाय अहिंसा और नम्रता की, ग्राम एकत्र होने, रथ (√रम् से) आनन्द का, सूर्य गति और प्रकाश का, उषस दाहकता और एकरूपता की और अपस् व्याप्ति के द्योतक हैं। ये गुण भी यहाँ अभिप्रेत माने जा सकते हैं।

३. अपां नेता—तु० क० अपां नपात् (अग्नि)। इन्द्र को भी अग्नि कहा गया है। दस० ने गावः का किरण, अश्वासः का वेगादि गुण और रथासः का रमण के साधन अर्थ किए हैं। एक 'यः' को कारण रूप बिजली का द्योतक माना है।

संहितापाठः	पदपाठः
१४, यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते	यम्। क्रन्दसी इति। संयती इति समऽयती। विह्वयेते इति विऽह्वयेते
परेऽवर उभया अमित्राः।	परे। अवरे। उभयाः। अमित्राः।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा	समानम्। चित्। रथम्। आतस्थिऽवांसा।
नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥८॥	नाना। हवेते इति। सः। जनासः। इन्द्रः॥८॥

सायणभाष्यम्—यं क्रन्दसी रोदसी शब्दं कुर्वाणे—मानुषी दैवी च द्वे सेने वा संयती परस्पर सङ्गच्छन्त्यौ यमिन्द्रं विह्वयेते स्वरक्षार्थं विविधमाह्वयतः। परे उत्कृष्टा अवरेऽधमाश्च। उभया उभयविधा अमित्राः शत्रवो यमाह्वयन्ति। समानमिन्द्ररथसदृशं रथमातस्थिवांसा आस्थितौ द्वौ रथिनौ तमेवेन्द्रं नाना पृथक् पृथक् हवेते आह्वयेते।

यद्वा। समानमेकरथमारूढाविन्द्राग्नी ह्वयेते यज्ञार्थं यजमानः पृथगाह्वयेते। तयोरन्यतर स इन्द्रो नाहमिति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[संयती] युद्ध में परस्पर मिलती हुई [क्रन्दसी] शोर मचाती हुई (दो सेनाएँ) [यम्] जिस को [विह्वयेते] पृथक् पृथक् बुलाती हैं, [परे] उत्कृष्ट (और) [अवरे] नीच [उभयाः] दोनों (ही) [अमित्राः] शत्रु (जिस को अलग-अलग बुलाते हैं), [समानम्] एक जैसे [चित्] ही [रथम्] रथ पर [आतस्थिवांसा] चढ़े हुए दो (वीर) (जिस को) [नाना] भिन्न भिन्न प्रकार से [हवेते] (सहायता के लिए) बुलाते हैं, [जनास] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्र] इन्द्र है।

टिप्पणियाँ—१ क्रन्दसी आदि—द्विवचन के ई, ऊ और ए अन्त वाले पदों के आगे इति का प्रयोग होता है। यदि ऐसे समग्र पद में अवग्रह का स्थल भी हो तो इति के बाद मूलपद की आवृत्ति कर के उस में अवग्रह की स्थिति भी दिखा दी जाती है।

२. क्रन्दसी—सा०—दैवी और मानवी सेनाएँ। मै० आदि—मानवों की (आपस में लड़ती हुई दो सेनाएँ) ही अभिप्रेत हैं। दय०—रोने का शब्द कराने वाले प्रकाश और पृथिवी।

३ संयती—सा० आपस में मिलती हुई (=संघर्ष में आती हुई)। दय०—संयम से चलने वाले द्युलोक और पृथिवीलोक। वे० मा०—दो सेनाएँ।

४ ह्वयेते—√ह्वे से लट् प्रथम पु० द्विवचन। मै०—यह √ह्वा के सम्प्रसारण रूप √हू से निष्पन्न हुआ है। विह्वयेते और नाना हवते समानार्थक हैं। तु० क० 'नाना हि त्वा हवमाना जना इमे—अनेक प्रकार से तुम्हें बुलाते हुए', और 'अथ जना वि ह्वयन्ते सिषासवः—लाभ के इच्छुक मनुष्य तुम्हें अनेक प्रकार से बुलाते हैं।'

(११) गौण वाक्य की क्रिया होने से यह उदात्त स्वर वाली है और उपसर्ग से अनगृहीत की गई है।

५ परऽवरे—सा०—उत्कृष्ट और नीच। मै०—दूर के और समीप के। इस पाद में 'क्रन्दसी' का व्याख्यान है।—समीपस्थ और दूरस्थ। पीटर्सन—इस पक्ष के और उस पक्ष के—दोनों एक दूसरे के शत्रु (= उभया अमित्रा)। दस०—प्रकृष्ट और अर्वाचीन (ग्रिफ़०—न्यून)। ग्रस०—यहाँ और वहाँ के।

६ उभयां—यह कभी द्विवचन में प्रयुक्त नहीं हुआ है। दस०—प्रकाश और अप्रकाशयुक्त नाना कान्तियों से सम्बन्धित शत्रु।

७ समानं चिद्रथमातस्थिवांसा—सा०—१ इन्द्र के रथ के सदृश रथ पर चढ़े हुए दो योधा। २. एक रथ पर चढ़े हुए इन्द्र और अग्नि। ग्रस०—इन्द्र के रथ में चढ़े हुए युद्ध करने के इच्छुक दो राजा। मै०—दो जो एक ही रथ पर हैं—अर्थात् योधा और सारथि। आतस्थिवांसा—आ + √स्था + क्वसु। पुल्लिंग प्रथमा द्विवचन। वैदिक रूप।

८. नाना हवेते—सा० ने इन्द्राग्नी के पक्ष में भी लगाया है—यजमानों द्वारा यज्ञ के लिए अलग अलग बुलाए जाते हैं।

संहितापाठ	पदपाठ
१५. यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो	यस्मात्। न। ऋते। विऽजयन्ते। जनासः। यम्। युध्यमानाः।
यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।	अवसे। हवन्ते। यः। विश्वस्य।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव	प्रतिऽमानम्। बभूव। यः।
यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः	अच्युतऽच्युत्। सः। जनासः।
॥९॥	इन्द्रः ॥९॥

सायणभाष्यम्—यस्मादृते जनासो जना न विजयन्ते विजयं न प्राप्नुवन्ति। अतो युध्यमाना युद्धं कुर्वाणा जना अवसे स्वरक्षणाय यमिन्द्रं हवन्त आह्वयन्ति। यश्च विश्वस्य सर्वस्य जगतः प्रतिमानं

प्रतिनिधिर्बभूव। यश्चाच्युतच्युद् अच्युतानां क्षयरहितानां पर्वतादीनां च्यावयिता स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यस्मात्] जिस के [ऋते] बिना [जनास] लोग [न विजयन्ते] नहीं जीतते हैं, [युध्यमाना] युद्ध करते हुए [यम्] जिस को [अवसा] रक्षा के लिये [हवन्ते] पुकारते हैं, [यः] जो [विश्वस्य] सब कुछ का [प्रतिमानम्] परिमाण निश्चित करने वाला [बभूव] है, [य] जो [अच्युतच्युत्] स्थिरों में भी गति लाने वाला है, [जनास] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है।

टिप्पणियाँ—१. न ऋते—छन्द की दृष्टि से इस का उच्चारण नर् ते होगा। ह्विट्ने लिखते हैं कि ऋग्वेद में अ, आ के पश्चात् ऋ को अविकल रक्खा गया है। यदि ऋ से पहले आ आया हो, तो उसे ह्रस्व कर दिया जाता है—*जैसे महा + ऋषि —महऋषि।*

२. न विजयन्ते जनास—व्याख्याताओं ने 'जनास' का भाव 'युद्ध करते हुए लोग' लिया है। इस का भिन्न अभिप्राय भी लिया जा सकता है—*अपनी सत्ता के लिए संसार की परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए व्यक्ति इन्द्र की* कृपा के बिना प्रतिकूल परिस्थितियों पर वश नहीं पा सकते हैं। अतः ऐसे व्यक्ति इन्द्र को रक्षा = कृपा के लिए बुलाते हैं।

३. विश्वस्य प्रतिमानम्—सा०—प्रतिनिधि। मैं०—समय। तु० ऋ०—'न हि नु अस्य प्रतिमानमस्ति अन्तर्जातेषु उत ये जनित्वाः (ऋ० ४।१८।४)—जो उत्पन्न हो चुके हैं और जो उत्पन्न होंगे—उन सब में उस के लिए कोई समय नहीं है।' भाव यह है कि कोई उस से अधिक समय नहीं है, वह सब से अधिक है। दस—परिमाणसाधक। अथात्—इयत्ता का निधारक। सब कुछ को उत्पन्न करने के कारण वही सब की सीमाओं, विस्तार—छोटा बड़ा, ऊँचा-नीचा, हल्का, भारी आदि का निधारक है।

४. अच्युतच्युत्—सा०—क्षयरहित पर्वत आदि का चालक। दस०—स्थिरों में गतिहीनों को चञ्चल करने वाला। मैं०—अचरों को चर बनाने

वाला । तु० क०—त्वं च्यावयन्नच्युतानि.. चरसि (ऋ० ३।३०।४)—तुम स्थिरों को भी हिलाते हुए वर्तमान हो।

(*ii*) इस पद के बहुविधि व्याख्यान हो सकते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति साम्यावस्था में थी। उस में ब्रह्म ने चञ्चलता उत्पन्न कर दी। परन्तु स्वयं निर्विकार रहा। उत्पन्न वस्तुओं में उन के पूर्व रूपों में पुनः पुनः विकार आता रहता है जिस को कुछ विद्वान् विकास और कुछ ह्रास कहते हैं, परन्तु ईश्वर स्वयं विकारशून्य रहता है। देखो ऊपर मन्त्र ४ अ और उस पर टिप्पणी। यह पद ऋ० ६।१८।५ में भी प्रयुक्त हुआ है।

संहितापाठः	पदपाठः
१६. यः शश्वतो मह्येनो दधानान्	यः । शश्वतः । महि । एनः । दधानान् । अमन्यमानान् ।
अमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।	शर्वा । जघान । यः । शर्धते । न ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां	अनुऽददाति । शृध्याम् । यः ।
यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥१०॥	दस्योः । हन्ता । सः । जनासः । इन्द्रः ॥१०॥

सायणभाष्यम्—यो महि महद्देनः पापं दधानान् शश्वतो बहूनमन्यमानान् आत्मानमजानत इन्द्रमपूजयतो वा जनान् शर्वा । शृणाति शत्रूनेनेति शरुर्वज्रः। तेनायुधेन जघान । हन्तेर्लिटि रूपम् । यश्च शर्धते उत्साहं कुर्वतेऽनात्मज्ञाय जनाय शृध्यामुत्साहनीयं कर्म नानुददाति न प्रयच्छति । अनुपूर्वात् "डुदाञ् दाने" जौहोत्यादिकः। "अभ्यस्तानामादि." (पा० ६।१।१८६) इति "तिङि चोदात्तवति" (पा० ८।१।७१) इति गतेर्निघातः। यश्च दस्योरुपक्षपयितुः शत्रोर्हन्ता घातकः स इन्द्र इत्यादि पूर्ववत् ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [महि] महान् [एनः] पाप को [दधानान्] धारण करने वाले [शश्वतः] बहुसंख्यक [अमन्यमानान्]

(इन्द्र को) न मानने वाला को [शर्वा] बाण से [जघान] मार देता है। [य] जो [शर्धते] उद्दण्ड की [शृध्याम्] उच्छृङ्खलता को [न अनु ददाति] सहन नहीं करता है [यः] जो [दस्योः] दुष्टों का [हन्ता] वध करने वाला (है), [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्र] इन्द्र (है) ॥

टिप्पणियाँ—१ शश्वतः —वेमा०, सा०—बहुतों को। दय०—अनादि स्वरूप पदार्थों को धारण करने वाला (य —इन्द्र —परमेश्वर का विशेषण)। वमा० आदि के अर्थों से एक अनभिमत ध्वनि निकलती है—इन्द्र बहुत से पापियों को तो दण्ड दे देता है। शेष को नहीं।

२. महि—महत् का वैदिक रूप। नपु० द्वितीया एक व०।

३ एनः —'इयते प्राप्यते दु:खमनेनेत्येनः'। देखो उ० ४।१९८।

४ दधानान्—√धा +शानच् का पुल्लिङ्ग द्वितीया बहु व० का रूप। आन् को आँ केवल एक ही समान पाद में होता है। दो पादों की सन्धि पर आने वाले को नहीं होता।

५. अमन्यमानान्—दय०—अज्ञानी शठ पापी (हि० अ०)। सा० —१ अपने आप को न जानने वाले २ इन्द्र की पूजा न करने वाले। वेमा०—इन्द्र (की सत्ता या शक्ति) को न मानने वाले। मै०—यह विचार न करने वाले कि इन्द्र उन्हें मार देगा।

६. शर्वा—शृणाति अनेन इति शरु। तृतीया एक व०। सा०—वज्र, आयुध। दय०—शासन रूपी वज्र। वेमा०—हिंसक (वज्र ?) से। वैइ०—ऋ० १।१००।१८ १७२।२, १८६।९, २।१२।१०, ४।३।७, २८।३ आदि और अ० १।२।३, १९।२ ६।९५।२, १२।२।४७ में यह 'अस्त्र' आयुध का, बहुधा निश्चय से 'बाण' का (जैसे ऋ० १०।१२५।६, ८७।६ में), परन्तु सम्भवतः कभी कभी 'बाण, भाला' का द्योतक है।

(११) इन्द्र पापियों का एक दम वध नहीं करता है। उस को न मानने वाले प्राणी भी संसार में बने ही नहीं रहते प्रत्युत बहुधा समृद्धिशाली और

सुखी भी होते है। अत यहाँ पर सायण आदि का अर्थ विचारणीय है। दस० का अर्थ प्रकरण में अधिक सगत होता है। इन्द्र सब को उन के कर्म के अनुसार फल देने वाला है। यदि इस पद का नैरुक्त अर्थ (√शृ से) लिया जाए और इसे 'क्षय' 'क्रमश. ह्रास', 'पुण्यों का और ज्ञान का क्रमपूर्वक होने वाला अत्यन्त क्षय' का द्योतक मान लें तो भाव अधिक सगत हो जाता है। ६ अ० जघान—√हन् का लिट् प्रथम पु० एक व० का रूप। सब भाष्यकारों और अनुवादकों ने इसे हिंसार्थक माना है। शर्वा के ऊपर प्रस्तावित अर्थ की दृष्टि मे इसे गत्यर्थक भी माना जा सकता है—'पुण्य और ज्ञान के क्षय पर अग्रसर करता है।'

७. शर्धते—सा०—उत्साह करने वाला। वेमा०—बल का प्रदर्शन करने वाला (=अकड दिखा कर प्रतिरोध करने वाला)। दस०—कुत्सित निन्दित पापयुक्त शब्द का उच्चारण करने वाला। मै०—घमण्डी, दर्पा, उद्दण्ड। विको० ने इस पद के धातु शृध् के अर्थों में 'खिल्ली उडाना, नियम तोडना, कुत्ता करना' भी दिए हैं। दस० का अर्थ इन्हीं अर्थों से मिलता है।

८. अनुददाति—सा० नहीं देता है अर्थात् नहीं करने देता है। तु० क० दस०—अनुकूलता से नहा देता है। मै०—क्षमा करना (चतुर्थ्यन्त पदों के योग में)। पीटर्सन भी 'स्वीकार करना, सहमत हो जाना, झुक जाना और क्षमा करना' मे इसी अर्थ को ले रहे है। ये अपने समर्थन मे अनानुदो (न झुकने वाला) वृषभः (ऋ० २।२१।४, २१।११) को उद्धृत करते हैं।

९. दस्योः—सा०—उपक्षयिता (=हिंसक, नाशक, दु.खदायी) शत्रु। दस०—दूसरे के पदार्थों का हरने वाला दुष्ट। वेमा०—असुर। मै०—दस्यु, राक्षस। यह पद शम्बर आदि अनेकों राक्षसों का सामान्य निर्देश करता है।

(ii) ऋ० ४।१६।९ में दस्यु को मायावान्, अब्रह्मा १०।२२।८ मे अकर्मा, अमन्तु, अन्यव्रत, अमानुष, १।३३।४ में धनी, १।१७५।३, ६।१४।३ ६।४१।२ मे अव्रत, ८।७०।११ में अयज्वन्, अदेवयु, २।११।१९ में स्पृध् (स्पर्धा करने वाले), २।२०।८ मे आयसी पुरों का (रक्षक या निवासी)

कहा है। अने० १८।२।२८ में दस्युओं को शतिमुख, अहुताद, परापुर और निपुर, १०।१।३७ में देवपीयु कहा है। अने० १८।२।२९ में ये पितरों में प्रविष्ट होने पर दस्यु अग्नि द्वारा यज्ञ से बाहर निकाले जाते हैं। अने० २०।११।९ (ऋ० ३।३४।९), और ऋ० १।१०३।३ में इन्हें आर्यों से पृथक् बताया गया है। उपरोक्त वर्णन से श्रेष्ठ (आर्यों) से इतर आध्यात्मिकज्ञानशून्य, धर्मरहित, भौतिकशक्ती, अयज्ञ, सम्बन्धियों के द्वारा अपना इष्ट सिद्ध करने वाले, परम स्वार्थी, प्रजाओं में मिल कर उपजाप करने वाले, छली, कपटी और दूसरों के हित के नाश में तत्पर व्यक्ति ही दस्यु हैं। ऋ० ५।२९।१० में इन्हें मृध्रवाच् भी कहा है। ऋ० ७।१८।१३ में आर्यों को भी मृध्रवाच कहा है। ऐ० ७।१८ में दस्यु उपरोक्त अर्थों का ही द्योतक माना जा सकता है क्यों कि वहाँ पर विश्वामित्र के कुछ वंशजों को भी दस्यु कहा गया है। अतः आधुनिकों के इस विचार कि कुछ मन्त्रों में दस्यु अलौकिक मानवेतर शत्रु और कुछ मन्त्रों में निश्चित रूप से वे आदिम निवासी हैं— के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। ऐसी परिस्थिति में वैदिक दस्यु की इरानी दहु दस्यु से तुलना भी विचारणीय है।

१० हन्ता—यह पद '(शवा) नयान' के ऊपर प्रस्तावित भाव के अनुरूप है। अतः इस का भाव 'दस्युओं को नाश के मार्ग पर अग्रसर करता है।'

सहितापाठ	पदपाठ
१७. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्। ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥११॥	यः । शम्बरम् । पर्वतेषु । क्षियन्तम् । चत्वारिंश्याम् । शरदि । अनुऽअविन्दत् । ओजायमानम् । यः । अहिम् । जघान । दानुम् । शयानम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥११॥

सायणभाष्यम्—यः पर्वतेषु क्षियन्तम् इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान् प्रच्छन्नो भूत्वा पर्वतगुहासु निवसन्तं शम्बरमेतन्नामकं मायाविनमसुरं चत्वारिंश्यां शरदि चत्वारिंशे संवत्सरेऽन्वविन्दत्तान्विष्यालभत। लब्ध्वा च य ओजायमानम्। 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' (पा० ३।१।११) 'ओजसोऽप्सरसो नित्यम्' (पा० ३।१।११) इति सकारलोपः। बलमाचरन्तं महिमाहन्तारं दानुं दानवं शयानं शम्बरमसुरं जघान हतवान् स इन्द्रो नाहमिति ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जिस ने [पर्वतेषु] पहाड़ों में [क्षियन्तम्] रहने वाले [शम्बरम्] शम्बर को [चत्वारिंश्याम्] चालीसवीं [शरदि] शरद् (ऋतु की तिथि) में [अनु अविन्दत्] पा लिया [यः] जिस ने [ओजायमानम्] बल का प्रदर्शन करते हुए [शयानम्] लेटे हुए [दानुम्] दानशील [अहिम्] गतिहीन मेघ को [जघान] मारा [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥ ११ ॥

टिप्पणियां—१. शम्बरम्—सा०, वेमा०—असुर। दस०—मेघ। मैं०—वृत्र, वल और शुष्ण को छोड़ कर, शम्बर इन्द्र का बहुत अधिक वर्णित राक्षस शत्रु है। इन्द्र उस पर अपने पर्वत से ही आक्रमण करता है। बहुधा इसे बहुत से दुर्गों का स्वामी कहा गया है। रौथ—जिन मन्त्रों में दिवोदास का नाम आया है, वहीं पर देवों की सहायता से उस की हिंसक शम्बर से मुक्ति का भी वर्णन किया गया है (जैसे ऋ० १।११२।१४, ९।६१।२)। यद्यपि पिछले काल में यह शत्रु मात्र का, विशेषतः इन्द्र के शत्रु का द्योतक है, परन्तु यह सम्भव है कि इस अर्थ में समस्त शत्रुओं में सब से अधिक भयावह शत्रु, मेघ के राक्षस की पुरानी स्मृतियों का प्रतिबिम्ब हो। वैइ०—'शम्बर ऋग्वेद में इन्द्र के एक शत्रु का नाम है'[1]। इस का नाम शुष्ण, पिप्रु और वर्चिन् के साथ आया है। एक मन्त्र में इसे 'कुलितर का पुत्र दास' कहा गया है[2]। एक

१. ऋ० १।५१।६ ; ५४।४ ; ४।२६।३ आदि। २. ऋ० ६।२६।५

मन्त्रे में वह अपने आप को 'देवक' मानता है। उस के नब्बे, निन्यानवे या एक सौ[3] दुर्गों का उल्लेख मिलता है। यह पद स्वयं नपुंसक लिंग बहुवचन में एक बार 'शम्बर के दुर्गों' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उस का प्रमुख शत्रु दिवोदास अतिथिग्व था जिस ने इन्द्र की सहायता से उसे जीत लिया।

(*ii*) निश्चय से यह कहना असम्भव है कि शम्बर वास्तविक प्राणी था या नहीं। हिलैब्राड इसे दिवोदास का शत्रु एक जीवित राजा मानते हैं जो पीछे के मन्त्रों में क्रमशः राक्षस का रूप धारण करता गया। इस मत के अतिरिक्त सम्भवतः शम्बर पर्वतनिवासी भारत का मूल निवासी एक शत्रु था।

(*iii*) परन्तु ऋग्वेद के वर्णनों पर दृष्टि डालने से वैदि० की उपरोक्त दो धारणाओं—दिव्य राक्षस और कोई प्राणीविशेष आदिनिवासी दिवोदास का शत्रु—को कोई पुष्टि प्राप्त नहीं होती। दिवोदास और शम्बर के युद्ध का ऋग्वेद में कोई वर्णन नहीं है[७]। केवल इन्द्र दिवोदास अतिथिग्व के लिए शम्बर का हनन करता है। इस वर्णन में शम्बर मानवी शत्रु या दिव्य राक्षस से भिन्न अन्य ही कोई पदार्थ माना जा सकता है। ऋ० १।५४।४ के अनुसार इन्द्र ने द्युलोक की सानु को कम्पित कर शम्बर का नाश किया। ऋ० १।५९।६ में वैश्वानर अग्नि जलों (= काष्ठाः) को हिला कर शम्बर का वध करता है। अन्यत्र इन्द्र शम्बर को अतिथिग्व के गिरि से निकालता है[८]। शम्बर दस्यु है[९]। वह बृहत् पर्वत का अधिवासी कौलितर दास है[१०]। अतः शम्बर सृष्टि रचना से पूर्व की मेघवत् आच्छादक स्थिति और तत्पश्चात् वह मेघ का द्योतक है। ऋ० ८।१८।२० में अपने को देव समझने वाले को शम्बर कहा गया

१. ऋ० ७।१८।२०　२. ऋ० १।१३०।७　३. ऋ० २।१९।६
४. ऋ० २।१४।६　५. ऋ० २।२४।२
६. ऋ० १।५१।६, १३०।७, २।१२।११; ४।२६।३ आदि।
७. ऋ० १।११२।१४ में शम्बरहत्य इन्द्र के युद्ध का द्योतक है, दिवोदास के युद्ध का नहीं।
८ ऋ० १।१३०।७　९. ऋ० ६।३१।४　१०. ऋ० ४।३०।१४

है। ऋ० ९।६१।२ में सोम शम्बर तुर्वश यदु को प्रकाशदान (=दिवोदासाय) के लिए वशीभूत करता है। इन में शम्बर के आध्यात्मिक पक्ष का चित्रण स्पष्ट है। डा० फतहसिंह अपने वैदिक दर्शन (पृ० १५५) में लिखते है—'परन्तु, सोम का वास्तविक स्थान तो स्वय आनन्दमय ब्रह्म ही है। वहीं सोम सुरक्षित है। उस के चारो ओर निष्क्रिय वाक् कद्रू का पहरा रहता है। यही वृत्र है—जो इस को घेरे हुए है—सोम के दोनो तत्त्व (प्रकाश तथा जल) इसी से आवृत रहते हैं। इस को मार कर इन्द्र प्रकाश तथा जल की मुक्ति करता है। यह शान्ति के साथ आवरण करने वाला है; अतः इस का नाम शम्बर है, सोम (आप.) को चुरा लेने से यह सभी कुछ को शुष्क कर देता है, इस लिए यह शुष्ण कहलाता है।......' अतः शम्बर अज्ञान, अभिमानी जन आदि का भी द्योतक है। दस० के अर्थों जल, सुखावरक मेघ और शत्रु, अधर्मसम्बन्धी और कल्याणकारी में ये दृष्टिया परिलक्षित होती है। दस० ने इसे √शम् से व्युत्पन्न किया है। ऋ० १०।४२।७ में 'शम्बः' (सा०—वज्र) का प्रयोग भी हुआ है[1]।

२. पर्वतेषु—भाष्यकारों ने इस का अर्थ पर्वत=पहाड लिया है। इस वर्णन में पर्वत के स्थान पर गिरि का भी प्रयोग किया गया है। निघ० १।१०।१० में गिरि को और १।१०।६ में पर्वत को मेघवाची कहा है। प्रत्येक पर्ववान् वस्तु पर्वत और उद्गूर्ण वस्तु गिरि है। अतः ये प्रलय की स्थिति और सृष्टि की स्थिति की सन्धि का द्योतक है। आध्यात्मिक जगत् मे बुद्धि और मन आदि का वाचक है।

---

१. अथ० २०।३४।१२ में—'अन्तर्गिरौ यजमान बहु जन यस्मिन्नामूर्छत्' मे भी प्रस्तावित आध्यात्मिक दृष्टि लक्षित हो रही है। यह मन्त्र यहाँ पर विचार्यमाण मन्त्र के तुरन्त पश्चात् पढा गया है। निघ० १।१०।१४ में शम्बर मेघनाम है, १।१२।८८ मे उदकनाम और २।१।२८ में बलनाम। निघ०-४।२।७२ में शम्बः पदनाम है।

३. चत्वारिंश्यां शरदि[1] अन्ववि॑न्दत्—सामान्यतः इस का अर्थ 'चालीसवें वर्ष[1] या चालीसवीं शरद् ऋतु में' किया जाता है। तिलक ने इस का अर्थ 'शरद् ऋतु की चालीसवीं तिथि' किया है। शम्बर के अर्थ के समान इस पदावली का अर्थ भी एक समस्या है। शम्बर का जैसा अर्थ किया जाए उसी के अनुसार इस का अर्थ करना पड़ेगा। स्ट्रकौको० में इसे चतुर् और दशन् से व्युत्पन्न किया है। चतुर् √चत् (मांगना) और दशन् √दश् (डसना) से बनते हैं। शरद् √शॄ (शीर्ण करना—होना) से व्युत्पन्न है। अतः यह दयनीय क्षीण होती हुई अवस्था के द्योतक माने जा सकते हैं। यह अवस्था प्रलय काल की समाप्ति और जिज्ञासु के मन में ज्ञान की पिपासा जाग्रत होने पर पाई जाती है।

४. ओजायमा॑नम्—ओजस्=बल दिखाने वाले। फैलने वाले, सब को अपने वश में कर इन्द्र की शक्तियों का विरोध करने वाले।

५. अहि॑म्—मेघ। ऊपर मन्त्र ३ में अहि पर टिप्पणी देखें।

६. दानु॑म्—ददातीति दानुः। देने वाला। सा० आदि ने दानु को शम्बर की माता का नाम माना है। वर्षा करने के कारण मेघ दानु है, ज्ञान के लिए स्थान छोड़ने वाला अज्ञान भी दानु है।

७. शया॑नम्—√शी+शानच् से। सोते हुए, लेटे हुए, अकर्मण्य बने हुए। शम्बर के प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि से इस का अर्थ 'फैले हुए' भी किया जा सकता है। लेटा हुआ व्यक्ति फैला हुआ ही होता है।

(ऋ) हिअ० में इस का मूल अर्थ लेटा हुआ=आराम करता हुआ=गतिहीन लिया गया है। परोपकार करने में समर्थ व्यक्ति यदि गतिहीन हो जाए तो लोक का बड़ा अनिष्ट हो जाता है। इसी लिए यशमय उन्नत पुरुषों को

---

१. शरद् के वैदिक प्रयोग से ऐसा लक्षित होता है कि उस काल में वर्ष शरद् ऋतु से प्रारम्भ होता रहा होगा। शरद् का बहुवचन में प्रयोग स्पष्टतः समस्त वर्ष का द्योतक है।

परोपकार में रत न रहने पर रसहीन, स्वार्थी = केवलादी = केवलाघ कहा है। ऐसे जन इन्द्र के नियमों को पूर्ण न करने से वध्य होते हैं। वर्षा करने में समर्थ होने पर भी न बरसने वाला मेघ ईश्वर या सूर्य द्वारा वध्य है।

संहितापाठः	पदपाठः
१८. यः सुप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान् अवासृजत्सर्तवे सुप्त सिन्धून् । यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥१२॥	यः । सुप्तऽरश्मिः । वृषभः । तुविष्मान् । अवऽअसृजत् । सर्तवे । सुप्त । सिन्धून् । यः । रौहिणम् । अस्फुरत् । वज्रऽबाहुः । द्याम् । आऽरोहन्तम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥१२॥

सायणभाष्यम्—यः सप्तरश्मिः सप्तसङ्ख्याकाः पर्जन्या रश्मयो यस्य। तं च रश्मयो "वराहव स्वतपसो विद्युन्महसो धूपयः श्वापयो गृहमेधाश्चेत्येते ये चेमेऽशिमिविद्विष पर्जन्याः सप्त पृथिवीमभिवर्षन्ति वृष्टिभि" (तै० आ० १।९।४।५) इति तैत्तिरीयारण्यके ह्याम्नाताः। वृषभो वर्षकस्तुविष्मान वृद्धिमान बलवान् यो सप्त सर्पणस्वभावान् सिन्धूनपः सर्तवे सरणायावासृजद् अवसृष्टवान्। यद्वा। गङ्गाद्याः सप्त मुख्या नदीरसृजत्। यश्च वज्रबाहुः सन् द्यां दिवमारोहन्त रौहिणमसुरमस्फुरज्जघान। "स्फुर स्फुरणे" तुदादि. ॥ १२ ॥

हिन्दी अनुवाद—[सप्तरश्मिः] सात किरणों वाला [वृषभः] काम नाओं का पूरक [तुविष्मान्] शक्तिशाली [यः] जो [सर्तवे] बहने के लिए [सप्त] सात [सिन्धून्] धाराओं को [अवासृजत्] मुक्त करता है, [वज्रबाहुः] वज्र के सदृश भुजाओं वाला [यः] जो [द्याम्] स्वर्ग में [आरोहन्तम्] चढ़ते हुए [रौहिणम्] रौहिण को [अस्फुरत्] मारता है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र (है) ॥

टिप्पणियाँ—१. सप्तरश्मिः—सा०—सात पर्जन्यों वाला । मै०—सात नाथों वाला। सम्भवतः इस का अर्थ दुर्धर्ष, अप्रतिहत है। पीटर्सन—रश्मियों से युक्त जो उस का नेतृत्व करती हैं और उस की सामर्थ्य को प्रकाशित करती हैं। बहुधा देवताओं को इस प्रकार प्रगल्भ रूप में वर्णित किया गया है। दस०—सात प्रकार की किरणों वाला (सूर्यलोक)। ये रक्तादि सात रंगों वाली किरणें ही हैं।

(*ii*) उ० ४।४६ में 'रश्मिः' को √अश् (व्याप्त होना) से सिद्ध किया गया है। सूर्य की किरणें आरोग्यप्रद मानी गई हैं। जल चिकित्सा करने वाले इन किरणों को अलग अलग रंग की बोतलों में रक्खे हुए जल में डाल कर उन से चिकित्सा करते हैं। सूर्य इन्द्र की शक्ति से ही गति करता है। अतः यहाँ पर ब्रह्म के सृष्टिवर्णन में प्राणियों को प्राण देने के वर्णन में उसे सप्तरश्मि सूर्य के रूप में स्मरण किया गया है। व्युत्पत्ति के आधार पर इस का अर्थ 'गतियाँ, शक्तियाँ' भी किया जा सकता है।

२. वृषभः—वेमा०, सा०—वर्षक। मै०—बैल। वृषभपद देवताओं के लिए, विशेषतः इन्द्र के लिए अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। यह महान् शक्ति और उर्वरता, अमोघ वीर्यत्व का द्योतक है। दस०—मेघ की शक्ति को रोकने वाला। ऊपर १।१५४।३ में वृष्णे पर टिप्पणी भी देखें। वहाँ प्रस्तावित अर्थ भी यहाँ लगाया जा सकता है।

३. तुविष्मान्—वेमा०—बलवान्। सा०—वृद्धिमान्। दस०—बहुत बल से खींचने की शक्ति से युक्त सूर्यलोक। मै० लिखते हैं कि पदपाठ में मन्त् प्रत्यय को केवल अजन्त प्रकृतियों के आगे आने पर ही अवगृहीत किया जाता है (जैसे गोऽमान्)।

४. सर्तवे—√सृ से तुमुनर्थ में तवेन् प्रत्यय। गति करने के लिए।

५. सप्त सिन्धून्—ऊपर २।१२।३ में सप्तसिन्धून् पर टिप्पणी देखें। जैउब्रा० १।२९।१ में सिन्धु की निरुक्ति 'तद्यदेतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः' दी है। इस के आधार पर यह पद धमनियों (=शरीरस्थ सफेद रक्तवाहिनी

नाडियाँ) का द्योतक है और यह अर्थ ऋ० ८।६६।१२ में संगत होता है[1]।
मानव को क्लोम (= फेफड़े) पर आने वाली रसवाहिनी नाडियों से ही जीवनशक्ति प्राप्त होती है।

६. रौहिणम्—सा०—असुर। वैको०—इन्द्र का राक्षस शत्रु। यह ऋग्वेद के एक और मन्त्र (१।१०३।२) तथा अवे० २०।१२८।१३ में भी प्रयुक्त हुआ है। हिलेब्राण्ड ने इसे रोहिणी नक्षत्र का नाम माना है, परन्तु इस के लिए कोई स्पष्ट युक्ति नहीं है। यास्क—मेघ (निघ० १।१०।१५)। दस०—रोहणशील मेघ।

(*ii*) ऋ० १।१०३।२ में अहि को मारने और रौहिण को फाड़ने का कथन किया गया है—अहन्नहिमभिनद्रौहिणम्। अवे० २०।१२८।१३ में वृत्र के गिर को फाड़ने और रौहिण को निकालने, ऊपर फेंकने का वर्णन है—त्व रौहिण व्यास्यो (वि + आ + √अस् फेंकना + लङ् मध्यम पु० एक व०) वि वृत्रस्याभिनच्छिर.। उ० २।५५ में इसे √रुह् से व्युत्पन्न किया है—रोहति बीजेन जायते वा स रोहिण.। अर्थात्—वनस्पतियाँ—वृक्ष, लता, पौधे आदि। रौहिण-रोहिण से स्वार्थ में या जात-अर्थ में (औणादिकपदार्णव ३।६४।२९९, पृ० १४६)।

७. अस्फुरन्—सा०—मार दिया। दस०—फुरती देता या चलाता है। रौहिण के प्रस्तावित अर्थ में—विकसित करता है, बढ़ाता है।

८. वज्रबाहुः—वै०—वज्र धारण करने वाला। सा०—वज्र के सदृश भुजाओं वाला। दस०—भुजाओं के समान (वज्र =) किरणसमूह वाला।

---

१. देखो—हमारा ग्रन्थ—ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दी कमैण्टरी औन दी ऋग्वेद बाई स्वामी दयानन्द (सीएसडी० नाम से उद्धृत) (अप्रकाशित), पृ० ३११—३१४। नि० ५।२७ में यास्क ने इस मन्त्र के अर्थ में 'यस्य तव देव सप्त सिन्धवः प्राणायानुक्षरन्ति' लिखते हुए 'प्राणाय' पद से हमारे प्रस्तावित अर्थ का समर्थन किया है। हमारा लेख ए स्टडी औफ दयानन्द (२), पूना ओरियण्टलिस्ट १३।३-४ लेख पृ० ८ संदर्भ ३ भी देखें।

९. द्याम् आरोहन्तम्—मै०—इन्द्र पर आक्रमण करने के लिए स्वर्ग में चढ़ते हुए को। प्रस्तावित अर्थों में—उगते हुए, आकाश में चढ़ते हुए, निकलते हुए।

१. भाव यह है कि इन्द्र सूर्य की किरणों द्वारा प्राणियों को जीवनशक्ति देता है और समस्त उगने वाली वनस्पति आदि वस्तुओं को उगाता, बढ़ाता और खिलाता है।

संहितापाठः	पदपाठः
१९. द्यावा॑ चिदस्मै पृथि॒वी न॑मेते॒	द्यावा॑। चि॒त्। अ॒स्मै॒। पृ॒थि॒वी इति॑। न॒मे॒ते इति॑। शुष्मा॑त्।
शुष्मा॑च्चिदस्य॒ पर्व॑ता भयन्ते।	चि॒त्। अ॒स्य॒। पर्व॑ताः। भ॒य॒न्ते॒।
यः सो॑म॒पा नि॑चि॒तो वज्र॑बाहु-	यः। सो॒म॒ऽपाः। नि॒ऽचि॒तः।
र्यो वज्र॑हस्तः स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥१३॥	वज्र॑ऽबाहुः। यः। वज्र॑ऽहस्तः। सः। ज॒ना॒सः॒। इन्द्रः॑ ॥१३॥

सायणभाष्यम्—अस्मै इन्द्राय द्यावा पृथिवी। इतरेतरापेक्षया द्विवचन "प्र मित्रयोर्वरुणयो." (ऋ० ७।६६।१) इतिवत्। नमेते स्वयमेव प्रह्वीभवतः। "णमु प्रह्वत्वे"। कर्मकर्तरि "न दुहस्नुनमां यक्चिणौ" (पा० ३।१।८९) इति यक् प्रतिषेध। चिद् अपि च अस्येन्द्रस्य शुष्माद् बलात् पर्वता भयन्ते बिभ्यति। यः सोमपाः सोमस्य पाता निचितः सर्वैः। यद्वा। अन्येभ्योऽपि देवेभ्यो दृढाङ्गः। वज्रबाहुर्वज्रसमबाहुः। यश्च वज्रहस्तो वज्रयुक्तः स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम् ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अस्मै] इस (इन्द्र) के लिए [द्यावा] द्युलोक (और) [पृथिवी] पृथिवी लोक [चित्] भी [नमेते] झुकते हैं, [अस्य] इस के [शुष्मात्] बल से [पर्वताः] पर्वत [चित्] भी [भयन्ते] डरते हैं [यः] जो [वज्रबाहुः] वज्र के समान भुजाओं वाला

[सोमपाः] सोम का पीने वाला [निचितः] निश्चय किया गया है, (और) [यः] जो [वज्रहस्तः] हाथ में वज्र धारण करने वाला है, [जनासः] हे पुरुषो, [सः] वह (ही) [इन्द्रः] इन्द्र है ॥

टिप्पणियाँ—१. द्यावा.. पृथिवी—देवता द्वन्द्व समास के दोनों पद बहुधा अन्य पदों के व्यवधान से पृथक् पृथक् किये हुए भी मिलते हैं। इन समासों में दोनों पदों का अपना-अपना स्वर सुरक्षित पाया जाता है। अतः इन में दो उदात्त अक्षर होते हैं। सा० के अनुसार एक दूसरे की अपेक्षा से 'मित्रयोर्वरुणयो' के समान ये दोनों ही पद द्विवचनान्त हैं।

२. चित्—सा०-भी। दस०—इव, समान। निघ० ४।२।३१ में इसे पदनाम माना गया है। नि० १।४ में इसे पूजार्थक और उपमार्थक भी बताया है। यह √चि चुनना से निष्पन्न है। अतः इसे अस्मै और अस्य का विशेषण भी बनाया जा सकता है।

३. नमे॑ते—झुकते हैं। दस०—अतिसामर्थ्ययुक्त शब्दायमान होते हैं।

४ शुष्मा॑त्—सा०, दस०—बल। मै०—वेग, प्रचण्डता। पीटर्सन—साम। ऊपर मन्त्र १ में शुष्मात् पर टिप्पणी देखें।

५. पर्व॑ताः—भाष्यकार और अनुवादक इसे पहाड़ के अर्थ में लेते हैं। जैसा ऊपर म० ११ में पर्वतेषु की टिप्पणी में लिखा है प्रत्येक पर्व = जोड़ से युक्त वस्तु पर्वत है। अतः सगमनशक्ति, एकता की शक्ति। एकता और सगमन से शक्ति अप्रतिहत, दुर्धर्ष हो जाती है। इन्द्र के सामने ऐसी शक्ति भी निर्वीर्य हो कर भीरुवत् हो जाती है।

(*ii*) ऊपर द्यावा प्रकाश, तेज का और पृथिवी विस्तार का प्रतीक है। तेजस्वी और प्रवृद्ध शक्तियाँ भी इन्द्र के सामने हीन हैं।

६. सोमपाः—सा०-सोम रस का पीने वाला। दस०—पदार्थों के रस को पीने=खींचने वाला। ऊपर म० ६ में सुतसोमस्य पर टिप्पणी भी देखें।

(*ii*) सोमपाः में उत्तरपद को √पा रक्षणे का भी रूप माना जा सकता है। इन्द्र प्राणों की रक्षा करने वाला और अपनी सामर्थ्य से सब को नियमित

करने वाला, क्रमश क्षीण करने वाला है। नीचे वज्रहस्त' पर टिप्पणी भी देखें।

७. निचित —मै०—समझा गया है। दस०—निरन्तर अनेक पदार्थों से इकट्ठा किया गया। नि + √चि + क्त का रूप। वेमा०—दृढ शरीर वाला।

८. वज्रबाहु —सा०—वज्र के समान भुजाओं वाला। मै०—भुजा में वज्र को धारण करने वाला। दस०—बाहुओं के समान किरणों का बल।

९ वज्रहस्त —सा०—वज्रयुक्त। मै०—हाथ में वज्र को धारण करने वाला। दस०—किरण रूप हाथों वाला।

(ii) यहाँ पर वज्रबाहु और वज्रहस्तः दोनों लगभग एक ही भाव के द्योतक प्रतीत होते हैं, इस कारण इन मे से एक का प्रयोग पर्याप्त था। अत इन दोनों का युगपत् प्रयोग साभिप्राय है—वज्रबाहु —प्राणशक्ति की सम्पन्नता, पोषक शक्ति का और वज्रहस्त'— संहारक, क्षीण करने वाली शक्ति का द्योतक हैं। ये ही दोनों भाव ऊपर सोमपा' से निकाले गए हैं।

संहितापाठ	पदपाठ
२०. यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं	यः। सुन्वन्तम्। अवति। यः।
यः शंसन्तं यः शशमानमूती।	पचन्तम्। यः। शंसन्तम्। यः।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो	शशमानम्। ऊती। यस्य। ब्रह्म।
यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः	वर्धनम्। यस्य। सोमः। यस्य।
॥१४॥	इदम्। राधः। सः। जनासः।
	इन्द्रः ॥१४॥

सायणभाष्यम्—य सुन्वन्तं सोमाभिषवं कुर्वन्त यजमानमवति रक्षति। यश्च पुरोडाशादीनि हवींषि पचन्त यश्च ऊती ऊतये। "सुपा सुलुक्" (पा० ७।१।३९) इति चतुर्थ्या पूर्वसवर्णदीर्घः। स्वरक्षार्थे शस्त्राणि शंसन्त यश्च शशमानमवति स्तोत्रं कुर्वाण रक्षति। ब्रह्म परिवृढ स्तोत्र यस्य वर्धन वृद्धिकर भवति। तथा यस्य सोमो वृद्धिहेतुर्भवति। यस्य

चेदमस्मदीयं राधः पुरोडाशादिलक्षणमन्नं वृद्धिकरं भवति। स इन्द्र इत्यादि प्रसिद्धम्॥ १४॥

हिन्दी अनुवाद—[यः] जो [ऊती] अपनी रक्षा से [सुन्वन्तम्] सोमरस निकालने वाले की, [यः] जो [पचन्तम्] (इन्द्र) के लिए पकाने वाले की [यः] जो [शंसन्तम्] स्तुति करने वाले की (और) [यः] जो [शशमानम्] प्रार्थना करने वाले की [अवति] रक्षा करता है, [यस्य] जिस के [ब्रह्म] प्रार्थनाएँ [सोमः] सोमरस और [यस्य] जिस का [इदम्] यह [राधः] धन [वर्धनम्] वर्धक (हैं), (हे) [जनासः] पुरुषो, [सः] वह [इन्द्रः] इन्द्र है॥ १४॥

टिप्पणियाँ—१. इस मन्त्र का भाव यह है—कर्मशील, परोपकारी, इन्द्र के भक्त, सदैव इन्द्र को प्रिय रहते हैं। जो इस के विपरीत आलसी, स्वार्थी, इन्द्र की सत्ता को न मानने वाले इन्द्र द्वारा प्रेयः और श्रेयः के सतत दान द्वारा रक्षित नहीं होते हैं। ऐसे जनों को इन्द्र क्षीण करता रहता है। इन्द्र की प्राप्ति स्तोत्रों के पाठ, दूसरों को सुख देने और परोपकार में लगे हुए धन से सम्भव है। इन्हीं कर्मों से प्रसन्न हो कर वह अपने आप को जिज्ञासुओं के सामने प्रकाशित कर देता है। तु० क०—उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः। (ऋ० १०।७१।४) आदि।

२. सुन्वन्तम्—सा०—सोम रस निकालने वाला। दय०—सब के लिए सुखों की सृष्टि करने वाला।

३. पचन्तम्—सा०—पुरोडाश आदि हवियों का पकानेवाला। वेमा०—चरु और पशुओं के अंगों को पकाने वाला। पीटर्सन—सोम को (पका कर) शराब बनाने वाला।

(*ii*) सब भाष्यकारों का विचार है कि सोम निकालना आदि क्रियाएँ इन्द्र के लिए की जा रही हैं। जिस से वह प्रसन्न हो जाए। अपनी सेवा और प्रशंसा से सभी प्रफुल्लित होते हैं। इन्द्र इस का अपवाद कैसे हो सकते हैं।

(*iii*) परन्तु वेद में पुरुषसूक्त, यज्ञसूक्त आदि में यज्ञ = संसार का कल्याण करने का विधान दिखाई पडता है। ऋग्वेद में कहा भी है—नेन्द्रादृते पवते

चेवल्लादी (ऋ० १०।११७।६)। अत यह पाचन इन्द्र के लिए नहीं प्रत्युत अतिथि यज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और देवयज्ञ के निमित्त है।

४ शसंत्तम्—सा०--शस्त्रपाठ करते हुए। पीटर्सन--गायक, स्तोता। मै०—देवताओं का प्रशसक।

(११) इस में नीति के वचन 'सत्य ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्। न ब्रूयात् सत्यम प्रियम्। प्रिय च नानृतम्' का भाव निहित है। दूसरों की निन्दा से न अपने को शान्ति मिलती है न अन्यों को ही।

५ शशमानम्—सा०—स्तोत्रं पढ़ने वाला। वमा०—स्तुतियों से पूजा करने वाला। मै०—यज्ञ निष्पन्न कर देने वाला। ग्रा०—√शम+मानच से। इस के मूल अर्थ--'काम करना, परिश्रम करना, गतिशील होना' ही ऋग्वेद में सर्वत्र मिलते हैं। इसी से पिछले अर्थ 'थकना, विश्राम करना' निकले हैं। तु० व० ग्रीक कम् नो के अर्थों का विकास। अन्य अर्थों के साथ यह '(यज्ञ द्वारा) देवताओं की सेवा में तत्पर रहना, श्रद्धा से प्रार्थना करना' का भी द्योतक है। नि० ६।८--प्रशंसा करते हुए। निघ० ३।१४।२२—अर्चा करते हुए ४।३।३८—पदनाम³।

६ अवति—√अव के अर्थ रक्षा, गति, कान्ति, दीप्ति, प्रीति, तृप्ति, श्रवण आदि हैं। अत इन्द्र परमुख निरत को गति और तृप्ति देता है, परार्थ के लिए पकाने वाले को दीप्ति, ऐश्वर्यदान आदि देता है। प्रिय बोलने वालों में प्रीति उत्पन्न करता है और परिश्रमी को क्रिया और भागवृद्धि देता है।

७ ऊती—मै० √अव्+क्तिन्=ऊति, तृतीया एक व०, स्त्रीलिंग। वैदिक रूप। मै० इसे अवति के साथ लगा कर 'सहायता से' अर्थ करते हैं। सा० ने इसे चतुर्थ्यन्त मान कर शसन्तम् कम का प्रयोजन माना है।

---

१ अप्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधान शस्त्रम्। २ प्रगीतमन्त्रसाध्यगुणिनिष्ठगुणाभिधान स्तोत्रम्। ३ निघ० के समस्त पदनाम गति, प्राप्ति और ज्ञानायक होते हैं। देखो हमारा लेख दयानन्द एण्ड दी निघण्टु ऑफ यास्क, आइओका (स०) १९५३ (अहमदाबाद)।

(*ii*) 'उतो त्वस्मै तन्व विसस्रे' के भाव के अनुसार इस का अर्थ 'अपने स्वरूप का प्रकाशन' भी किया जा सकता है।

८ ब्रह्म— √बृह् बढ़ना से। ऊपर मन्त्र ६ में ब्रह्मण पद पर टिप्पणी देखें। सा०—परिवृढ स्तोत्र। पीटर्सन—प्रार्थना। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के यज्ञ, मन्त्र, ऋक्, गायत्री, प्रणव आदि अर्थ दिए गए हैं। अतः वेदज्ञान, प्रणवजप रूप यज्ञ आदि।

९ सोमः—ऊपर मन्त्र ६ में सुतसोमस्य पर टिप्पणी देखें। सोम शान्ति और मन संयम का द्योतक है। तु० क० सौम्य-पद। श० ३।३।२।३ में सोम के वास को शोभन बताया है। यह ब्राह्मणों का भक्ष है (ऐ० ७।२९)। दस०—चन्द्रमा और ओषधियों का समूह।

१० राधः—सा०—पुरोडाश आदि अन्न। मै०—भेंट। दस०—धन।

(*ii*) यह √राध् सिद्ध करना, प्रसन्न करना आदि से बना है। दूसरों की सिद्धि करने वाला, प्रसन्न करने वाला, अन्न परोपकार में लगाया हुआ धन।

संहितापाठः	पदपाठः
२१. य सुन्वते पचते दुध्र आ चिद् वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः। वयं त इन्द्र विश्वहं प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥१५॥	यः। सुन्वते। पचते। दुध्रः। आ। चित्। वाजम्। दर्दर्षि। सः। किल। असि। सत्यः। वयम्। ते। इन्द्र। विश्वह। प्रियासः। सुऽवीरासः। विदथम्। आ। वदेम ॥१५॥

सायणभाष्यम्—इदानीमृषिः साक्षात्कृतमिन्द्रं प्रति ब्रूते। हे इन्द्र यो दुध्रा दुर्धरः सन् सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते पुरोडाशादिहवींषि पचते यजमानाय वाजमन्नं चरु वा दर्दर्षि भृशं प्रापयसि स नाऽस्त्वं सत्या

यथार्थभूतोऽसि। न पुनर्मास्तीति बुद्धियोग्योऽसि। किलेति प्रसिद्धौ। ते तव प्रियासः सुवीरासः कल्याणपुत्रपौत्राः सन्तो वयं विश्वह सर्वेष्वह:सु विदथं स्तोत्रम् आ वदेम ब्रूयाम ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[दुध्र] घोर [यः] जो [सुन्वते] सोम रस निकालने वाले [पचते] (परोपकार के लिए) पकाने वाले के लिए [वाजम्] अन्न [चित्] भी [आदर्दर्षि] देते हो [सः] वह (तुम) [किल] निःसन्देह [सत्यः] सच्चे [असि] हो। [इन्द्र] हे इन्द्र, [सुवीरासः] उत्तम वीर सन्तानों वाले [ते] तुम्हारे [प्रियासः] प्रिय [वयम्] हम [विश्वह] सदा ही [विदथम्] प्रार्थना के वाक्य [आवदेम] बोलते रहें ॥ १५ ॥

टिप्पणियाँ—दुध्र —सा०—दुर्धर। दस०—कठिनता से जान कर हृदय में धारण करने योग्य (ईश्वर)। मै०—परम उग्र।

(ग) इस सूक्त में जैसा ऊपर दिखाया गया है इन्द्र-परमेश्वर के सृष्टि रचना विषयक वीरकर्मों का वर्णन किया गया है। जिस की शक्ति इतनी महान् है जितनी ऊपर वर्णित की जा चुकी है और जो इन्द्रियों को प्रत्यक्ष नहीं है उसे जानना और अनुभव करना सरल नहीं। वह सब को अपने शासन में रखने वाला और दण्ड्यों को दण्ड देने वाला है। अतः वह 'दुध्र' (दुर् + √धृ से) है।

२. वाजम्—सा०—अन्न, बल। दस०—सब के वेग को। मै०—लूट का माल। मैमू०—वाज का सम्बन्ध वेजेओ, विजेओ, विजिल्, वाकर से है। वह वेद के उन कठिनतम पदों में से है जिन के सामान्य अर्थ की कल्पना की जा सकती है, परन्तु अधिकांश स्थलों पर निश्चित रूप से समझना सम्भव नहीं। सेंट पीटर्सबर्ग कोष में ये अर्थ दिए गए हैं—तीव्रता, दौड, दौड या विजय धन (= पारितोषिक), लाभ, निधि, (भाष्यकारों के अनुसार बहुधा अन्न, हवि), दौड का घोडा आदि। इन सब अर्थों के एक समान मूल की खोज कठिन है। तो भी हम—बल, झगडा, संघर्ष, दौड—चाहे मैत्रीपूर्ण हो,

चाहे शत्रुता के कारण अर्थों से प्रारम्भ कर सकते हैं और तब हम--जो कुछ दौड़ या युद्ध में जीता जाय अर्थात् लूट का माल, निधि पर पहुँच कर अन्त में वाजाः को उपार्जित धन, भेंट में प्रदत्त वस्तुओं--के अधिक व्यापक अर्थों में ले सकते हैं। (इण्डिया व्हाट कैन इट टीच अस, पृ० १६४)। विको०—ने ये अर्थ भी दिए हैं--उत्साह, शक्ति, प्राणशक्ति, गति (विशेष रूप से घोड़े की), बाण पर लगे हुए पर, पर, ध्वनि, ऋभु, चैत्रमास आदि। ब्राह्मणग्रन्थों में इस के वीर्य, ओषधियाँ, पशु, स्वर्गलोक, अन्न और वाक् अर्थ मिलते हैं। गो० २।१।२० में छन्दांसि को और गो० २।१।२२ में उक्थ्याः को वाजिनः कह कर वाज का अर्थ ज्ञान किया है (तै० १।३।२।५ भी देखें)। पाउ० सूस० १७,४८ में वाज पर टिप्पणी भी देखें। निघ० २।७।२ में यह अन्न नाम है, २।६।१अ में बलनाम। निघ० ४।२।५० में वाजगन्ध्यम् को और ५।६।३० में वाजिनः को पदनाम मान कर वाज को भी पदनाम माना गया है (सीएसडी० पृ० ३९४ भी देखें)। अतः भारतीय परम्परा इसे √वज् जाना से व्युत्पन्न कर के समस्त अर्थों को गति-अर्थ से ही विकसित करती है। डा० फतहसिंह ने वैए० ६२८ में माना है कि ऋ० १।४।६ 'त त्वा वाजेषु वाजिन वाजयामः शतक्रतो' में भी वाज को √वज् से व्युत्पन्न किया गया है। दस० ने इसी आधार पर अपने अर्थ दिए हैं।

(*ii*) सूक्त में प्रस्तावित भावों और पिछले मन्त्र में सुन्वन्तम् आदि की दृष्टि में इस का अर्थ उत्साह, बल, शक्ति, धन, अन्न और ज्ञान किए जा सकते हैं।

३. आ दर्दर्षि—आ + √दृ + यङ् + लट् मध्यम पु० एक व०। सा०—प्रभूत रूप में प्राप्त कराते हो। मै०—(छीन कर) देते हो। दस०—सब ओर से पूर्ण रूप से नष्ट करते हो। यहाँ पर सायणीय अर्थ ही ग्राह्य है।

४. विदथम्—ओल्डनबर्ग इसे वि + √धा से० व्युत्पन्न मानते है। वि √धा का अर्थ 'बांटना, प्रबन्ध करना, विधान करना' है। अतः विदथ का मूल अर्थ विधान के अर्थों के सदृश 'विभाजन, प्रबन्ध, नियम, विधान'....' रहे

होंगे। वैदिक ऋषियों की दृष्टि में यज्ञ ही परम कृत्रिमता से विहित था। अतः यज्ञ (हवन) और विदथ (नियम, विधान) लगभग पर्याय बन गए। अन्त में विदथ का अर्थ 'किसी काम को पूरा करना' आदि मालूम पडता है। बृहद् वदेम विदथे सुवीराः आदि सदर्भों में यह अर्थ उपलब्ध होता मालूम देता है। इस प्रकार 'विदथ' और 'सभा' अर्थों में एक दूसरे के समीप पहुँचते है। सभा में प्रभावशाली पुरुष को विदथ्य भी कहा गया है और सभेय भी। (वैदिक इन्डेक्स)।

(*ii*) मै० लिखते हैं कि इस पद की व्युत्पत्ति और ठीक ठीक अर्थों पर बड़ी ऊहापोह की गई है। अब इस में कोई सन्देह नहीं रहा है कि यह √विध् पूजा करने से निष्पन्न है और इस का अर्थ दिव्य पूजा (=देवपूजा) है। इस का यज्ञ से भेद करना अति कठिन है। निघं० ३।१७ में यह यज्ञनाम भी है।

(*iii*) निघ० ३।१७।५ में विदथः यज्ञनाम है और ४।१।३३ में पदनाम। यज्ञनाम होने से इस पद के देवपूजा, सगतिकरण और दान तथा पदनाम होने से गति, ज्ञान और प्राप्ति अर्थ भी अभिप्रेत हैं। (देखो वेमाप० १३ ; ३०)। निं० ६।७ में इसे √विद् जानना से व्युत्पन्न किया गया है। एया० में इस के अनुरूप भायो० उइद्—देखना दिया गया है और विदथे को गैल्कि हुइदिस्—परम मेधावी (ह्रु + उइद) से तुलित किया गया है। यहाँ इस निर्वचन को आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों के अनुकूल माना गया है।

५. यः सुन्वते०— केवल यह अन्तिम मन्त्र ही 'स जनास इन्द्र' से समाप्त नहीं होता है। इस में वर्णन मध्यम पुरुष में किया गया है। पाद २ में 'स किलासि सत्यः' का प्रयोग किया गया है। शेष मन्त्रों की दृष्टि में यहाँ मध्यम पुरुष का प्रथम पुरुष में पर्यवसान अभीष्ट है[1]। मन्त्र के पाद ४ में गृत्समद ने अपना प्रिय वाक्य 'बृहद्वदेम विदथे सुवीराः' रक्खा है।

---

१. वेमाप० ४। ३२-४४ भी देखें।

—०—

ॐ

ऋ० १०।९०—पुरुषसूक्तम्

ऋषिः—नारायणः । देवता—पुरुषः । छन्दः—१–१५ अनुष्टुप्; १६ त्रिष्टुप् ।

संहितापाठ	पदपाठ
२२. सहस्रशीर्षा पुरुषः	सहस्रऽशीर्षा । पुरुषः ।
सहस्राक्षः सहस्रपात् ।	सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा-	सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा ।
त्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१॥	अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् ॥१॥

यजुर्वेदे तृतीयपादस्त्वेवम्—	यजुर्वेदीय पदपाठ —
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा-००००	सहस्रशीर्षेति सहस्रऽशीर्षा । पुरुषः । सहस्राक्षऽ इति सहस्रऽअक्षः । सहस्रपादिति सहस्रऽपात् । सः । भूमिम् । सर्वतः । स्पृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशाङ्गुलमिति दशऽअङ्गुलम् ॥१॥

सायणभाष्यम्—"सहस्रशीर्षा" इति षोडशर्चं षष्ठ सूक्तम् । नारायणो नामर्षिरन्त्या त्रिष्टुप् शिष्टा अनुष्टुभः । अनन्तमहदादिविलक्षणश्चेतनो य. पुरुषः

"पुरुषान्न परं किंचित्" (क. उ. ३ । ११) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः स देवता। तथा चानुक्रान्ते—"सहस्रशीर्षा षोळश नारायणः पौरुषमानुष्टुभं त्रिष्टुबन्तं तु" इति। गतो विनियोगः।

१. सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः सोऽयं सहस्रशीर्षा। *सहस्रशब्दस्योपलक्षणत्वादनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः।* यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात् तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम्। एवं सहस्राक्षित्वं सहस्रपादत्वं च। सः पुरुषः भूमिं ब्रह्माण्डगोलकरूपां विश्वतः सर्वतः वृत्वा परिवेष्ट्य दशाङ्गुलं दशाङ्गुलपरिमितम् देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य व्यवस्थितः। दशाङ्गुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः ॥ १ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पुरुषः] पुरुष [सहस्रशीर्षाः] हजारों सिरों वाला [सहस्राक्षः] हजारों आखों वाला [सहस्रपात्] हजारों पैरों वाला (है)। [सः] वह [भूमिम्] विद्यमान उत्पन्न सब कुछ को [विश्वतः] सब ओर से [वृत्वा] आच्छादित कर के [दशाङ्गुलम्] दस अगुलियों की दूरी पर [अत्यतिष्ठत्] वर्तमान है ॥ १ ॥

टिप्पणियां—१. सहस्रशीर्षा, सहस्राक्षः, सहस्रपात्—सा०—सहस्र में उपलक्षण है। अतः असख्य सिर आखों और पैरों वाला। उत्पादित प्राणियों के सिर, पैर, और आखें हैं। दस० का विचार है कि समस्त प्राणियों के ईश्वर में निवास करने के कारण ही ईश्वर को ये विशेषण प्राप्त हुए हैं।

(ii) यहा पर सिर, आख और पैर को ब्रह्म की इन पदों से द्योतित शक्तिया—१. चिति = ज्ञान, अनुभव २. दर्शन, निरीक्षण, शासन ३. गति, धारण, रक्षण, प्रापण अभिप्रेत हैं। ब्रह्म इन्हीं के द्वारा समस्त जगत् का सचालन आदि करता है। इसी लिए उपनिषदों में लिखा है कि—

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥" श्वे॰उ॰ ३।१६॥

वेद में भी कहा है—

'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
स बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥'

ऋ० १०।८१।३ य० १७।१९।

२ पुरुष —सा०—सब प्राणियों की समष्टि रूप ब्रह्माण्डदेह विराट्। दया०—सर्वत्र परिपूर्ण व्यापक जगदीश्वर (यजु०)। 'पुरुष उस को कहते हैं कि जो इस सब जगत् में पूर्ण हो रहा है, अर्थात् जिस ने अपनी व्यापकता से इस जगत् को पूर्ण कर रक्खा है। पुर कहते हैं ब्रह्माण्ड और शरीर को। उस में जो सर्वत्र व्याप्त और जो जीव के भीतर भी व्यापक और अन्तर्यामी है।' ऋभाभू० पृ० १५१॥

(ii) डा० फतहसिंह ने वैए० ४४७ में वैदिक साहित्य से इस के ये निर्वचन और अर्थ संकलित किए हैं—

१ पुरि शेते इति। पुर् + √शी। प्राण अथवा शरीरस्थ आत्मा, वायु, भौतिक जगत् में रहने वाला प्राण।

२ √पॄ भरना से—सब वस्तुओं में व्याप्त ब्रह्म।

३ पूर + √अस् (होना से)—सब पदार्थों से पूर्व विद्यमान प्रजापति।

(iii) ब्राह्मण ग्रन्थों में पुरुष को वायु, प्राण, सब पापों का दाहक, साम, ब्रह्म, अमृत, प्रजापति, पशुओं का अधिपति, पशु, यज्ञ, आत्म, सुवर्ण संवत्सर आदि कहा है।

३ भूमिम्—भवतीति भूमि। सा०—ब्रह्माण्डगोलक। मैं०—पृथिवी। दया०—पृथिवी से प्रकृति पर्यन्त समस्त जगत्।

४ विश्वतो वृत्वा—सब ओर से ढक कर व्याप्त करके। सब को व्याप्त करने के साधन प्रथम दो पाद के प्रस्तावित अर्थों में वर्णित किए गए हैं। यजुर्वेद के 'सर्वत स्पृत्वा' का भी यही अर्थ है।

५ दशाङ्गुलम्—मैं०—यह कहने का एक प्रकार है कि उस का आकार पृथिवी के आकार से भी बड़ा था। ग्रासमन—'दस अङ्गुलियों की लम्बाई।

यह पद ऋग्वेद में अन्यत्र नहीं आया है। रौथ ने इस अर्थ की पुष्टि में मनु० ८।२७१ उद्धृत किया है जिस में दशांगुल (दस अंगुल लम्बे) शङ्कु का वर्णन है। सा०—दश अंगुलों से नपा हुआ स्थान। यह उपलक्षण है। अतः ब्रह्माण्ड से बाहर भी। शौनक—१ दस इन्द्रियां (२) दस अंगुल के माप का (नाभि से)[1] हृदय (तक का) स्थान; (३) नासिका का अग्र भाग। दस—१. पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों रूपी अंगों वाला जगत्। २. पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, जीव ३. दस अंगुल के परिमाण वाला हृदयदेश। इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड और हृदय का उपलक्षण है, इन सब को।

(ii) इन में से कुछ व्याख्यानों में 'भूमिम्' के भाव का ही विस्तार है। आगे मन्त्र ३ में भी ऐसा ही भाव है। अतः उन में या तो दशाङ्गुलम् को भूमिम् का लिंग व्यत्यय कर के विशेषण माना जाए अथवा उन को विचारणीय माना जाए।

(iii) भारतीय विचार के अनुसार सृष्टि में शनैः शनैः ह्रास होता रहता है और वह विनाशोन्मुख रहती है और अन्त में प्रलय हो जाती है। अतः इस विचारधारा में ब्रह्म या पुरुष इस ब्रह्माण्ड को व्याप्त तो करता है, परन्तु उस की ग्रसनशक्ति भी साथ-साथ कार्य करती है। यही भाव इस पद का प्रतीत होता है—दशतीति दश (ऋ० १।१५६ दम०) ग्रसित करने वाला। अंगति चेष्टतेऽनेन तदंगुलम् (तु. क. उ. ४।२) चेष्टा, गति करने का साधन (=शक्ति)। दश च तत् अंगुलं चेति दशांगुलम्। ग्रसन करने वाली चेष्टा का साधन (=शक्ति)। तत् वर्तते यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा। क्रिया विशेषण। अतः ग्रसनशील शक्ति के साथ (अत्यतिष्ठत्) सब कुछ को अति क्रान्त कर के वर्तमान है।

---

१. देखो महीधर का भाष्य—नाभेः सकाशाद् दशाङ्गुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः।

संहितापाठ	पदपाठ
२३. पुरुष एवेदं सर्वं	पुरुषः । एव । इदम् । सर्वम् ।
यद् भूतं यच्च भव्यम् ।	यत् । भूतम् । यत् । च । भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो	उत । अमृतऽत्वस्य । ईशानः ।
यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥	यत् । अन्नेन । अतिऽरोहति ॥२॥

यजुर्वेदे 'वेद'-स्थाने 'वेद९' 'भव्यम्'-स्थाने 'भाव्यम्' वर्तेते ।

सायणभाष्य—यत् इद वर्तमान जगत् तत् सर्वं पुरुष एव । यत् च भूतम् अतीत जगत् यच्च भव्य भविष्यज्जगत् तदपि पुरुष एव । यथास्मिन् कल्पे वर्तमाना प्राणिदेहा सर्वेऽपि विराट्पुरुषस्यावयवा तथैवातीता गामिनोरपि कल्पयोर्द्रष्टव्यमित्यभिप्राय । उत अपि च अमृतत्वस्य देवत्वस्य अयम् ईशान स्वामी । यत् यस्मात् कारणात् अन्नेन प्राणिना भोग्येनान्नेन निमित्तभूतेन अतिरोहति स्वकीया कारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमाना जगदवस्था प्राप्नोति तस्मात् प्राणिना कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारान्नेद तस्य वस्तुत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

हिन्दी अनुवाद—[इदम्] यह [सर्वम्] सब कुछ—[यत्] जो [भूतम्] उत्पन्न हो चुका है [च] और [यत्] जो [भव्यम्] उत्पन्न होगा [उत] और [अमृतत्वस्य] अमरता का [ईशान] स्वामी (और) [यत्] जो [अन्नेन] अन्न से [अति रोहति] बढ़ता है—[पुरुष] पुरुष [एव] ही (है) ॥ २ ॥

टिप्पणियां—१ पुरुष एव—इसमें 'रचयति' क्रिया का अध्याहार किया है।

२ यद् भूत यच्च भव्यम्[3]—(यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों आदि के मल से उत्पन्न (भूतम्) अतीत से वर्तमान काल पर्यन्त सत्ता में

१ प्राणिदेहा । २ वस्तुतत्त्वम् ।

३ यजुर्वेद के भाव्यम् के और ऋग्वेद के भव्यम् के अर्थ में कोई अन्तर नहीं है । भाव्यम् के व्यम् में स्वतन्त्र स्वरित है ।

आया हुआ और (यत्) ब्रह्म, जीव, परमाणुओं और पदार्थों के मेल से (भव्यम्)भविष्य में सत्ता में आने वाला (इदम्) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत्।

(ii) मही० और दस० (ऋभाभू० १५२) ने 'च' में 'वर्तमान जगत्' का वर्णन माना है।

(iii) सा० और मही० का भाव यह है—भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सदा ही सब प्राणी विराट् पुरुष के अवयव हैं। दस०—पुरुष ही सब कालों में सृष्टि का रचयिता है, अन्य कोई नहीं।

३. उतामृतत्वस्येशानः—सा०—और देवत्व का भी स्वामी है क्यों कि वह प्राणियों के भोग्य (फल) के कारण कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् का रूप धारण करता है। उवट—मोक्ष का भी स्वामी है। मही० १. देवों का स्वामी है। २. मोक्ष का स्वामी है, अतः वह कभी नहीं मरता है। दस० १. अविनाशी मोक्षसुख का कारण का अधिष्ठाता (यमा०)। २. सब का ईश्वर (होने से) मोक्षभाव का स्वामी (=) दाता है। इस मोक्ष को देने में किसी का भी सामर्थ्य नहीं है। मै०—अमरत्व अर्थात् देवताओं का स्वामी है। पुरुष देवों सहित समस्त जगत् के साथ-साथ फैला हुआ है।

(ii) पाद २, ३, ४, में पाद १ के 'इदं सर्वम्' का विस्तार है। अतः विचार्यमाण अंश (पाद ३) भी सृष्टि के अग का वर्णन करता है जिस को यदन्नेनातिरोहति से भिन्न बताना अभीष्ट है। पाद २ में कालविषयक वर्णन है। अतः यहां उत्तरार्ध में देशपरिच्छिन्न वर्णन है—(उत) रसयुक्त (अमृतत्वस्य) अन्न आदि की अपेक्षा से मुक्त सूक्ष्म शरीर के धारक जन्ममृत्यु आदि॰ के बन्धन से हीन मुक्त जीवों का स्वामी है। उत-पद 'उत्सः' (उ० ३।६८) के समान √उन्द् भिगोना से व्युत्पन्न हो कर भीगा हुआ, गीला, पानीयुक्त, अतः रसयुक्त। इस में आगे मन्त्र ३ के त्रिपादस्यामृतं दिवि में विशेषित अमरत्व का निर्देश भी माना जा सकता है।

४. यदन्नेनातिरोहति—मन्त्र में इस की योजना और अर्थ अनेक प्रकार से किए गए हैं। उवट का कहना है कि पुरुष मोक्ष का स्वामी है '(यत्) क्यों

नि (वह) (अन्नेन) अमृत से (अतिरोहति) अतिरोध करता है ।' मही० टो अर्थ देते हैं–१. पुरुष देवों का स्वामी है '(यत्) क्यों कि (वह) (अन्नेन) प्राणियों के भोग्य फल के कारण (अतिरोहति) अपनी कारणावस्था को छोड़ कर दृश्यमान जगत् के रूप को प्राप्त होता है ।' सा० ने इस व्याख्यान को अक्षरशः अपनाया है । २. '(यत्) जो कुछ भी जीवजात (अन्नेन) अन्न से (अतिरोहति) उत्पन्न होता है उस सब का स्वामी है ।' द्स० ने यजुर्वेदभाष्य में पाद ३ को 'पुरुष' का विशेषण माना है । उन का अर्थ यह है—जो उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होने वाला (उत) और '(यत्) जो (अन्नेन) पृथिवी आदि के सम्बन्ध से (अतिरोहति) अत्यन्त बढ़ता है उस' (इदम्) इस प्रत्यक्ष परोक्ष रूप समस्त जगत् को (अमृतत्वस्य) अविनाशी मोक्षसुख का कारण ना (ईशान) अधिष्ठाता (पुरुष) सत्य गुणकर्म स्वभावों से परिपूर्ण परमात्मा ही रचता है । उन्हों ने ऋभाभू. (पृ० १०९–१५३) में भिन्न भाव लिया है—'(यत्) क्यों कि (अन्नेन) पृथिवी आदि जगत् के साथ (अतिरोहति) व्यापक हो कर स्थित है और इस से अलग भी ।

(ii) म्यूर लिखते हैं कि भागवत पुराण के व्याख्यान में इस का भाव 'देखते हुए उस ने मानवी अन्न का अतिक्रमण किया है' है । अर्थ० १९।६।४ में इस का पाठ—'उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्यनाभवत् सह–वह अमरत्व का स्वामी है क्यों कि वह दूसरे से मिल गया है' है ।

(iii) म्यूर ने इस का अर्थ 'क्यों कि वह अन्न से फैलता है' किया है । ग्रास० इसे अमृतत्वस्य से सम्बद्ध करते हैं—(अमरता) 'जो हमारे यज्ञों से पुष्ट की जाती है ।' पार्सन इस का अर्थ चेतन जगत् (= और जो कुछ अन्न से पुष्ट होता है या बढ़ता है) करते हैं और इदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् का जड़ जगत् (तु क. आगे मन्त्र ४) । पाद ३ को वे अपने अनुवाद में पुरुष का ही विशेषण रखते हैं ।

(iv) मै० का विचार है कि मन्त्र १ के अत्यतिष्ठत्, मन्त्र ५ के अत्यरिच्यत से अतिरोहति की तुलना इंगित करती है कि पुरुष कर्ता है और यद् (देवता) कर्म और यह कि पहले (= पुरुष) पिछलों (= देवों) को अन्न से, अर्थात्

यज्ञादि द्वारा अतिक्रान्त करता है। 'जो (देवता) (यज्ञ में) अन्न से बढ़ते हैं', तथा 'और जो कुछ अन्न से उत्पन्न होता है उस का'—इन दोनों व्याख्यानों में 'अति' का भाव पूरा पूरा प्रकट नहीं होता है।

(४) जैसा ऊपर पाद ३ की टिप्पणी में लिखा गया है यहां पर भी देश परिच्छिन्न सृष्टि का उल्लेख है जो अमर-मुक्तों की अपने स्थूल शरीर धारण करता है। अतः इस का सीधा अर्थ 'जो कुछ भी अन्न = भोजन आदि पोषक पदार्थों से उत्पन्न, वृद्ध और विकसित होता है'— प्रतीत होता है।

संहितापाठ	पदपाठ
२४. एतावानस्य महिमा- ऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥	एतावान् । अस्य । महिमा । अतः । ज्यायान् । च । पुरुषः । पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि । त्रिऽपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि ॥३॥

सायणभाष्यम्—अतीतानागतवर्तमानरूपं जगद्यावदस्ति एतावान् सर्वोऽपि अस्य पुरुषस्य महिमा स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। न तु तस्य वास्तवस्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः अतः महिम्नोऽपि ज्यायान् अतिशयेनाधिकः। एतच्चोभयं स्पष्टीक्रियते। अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादः चतुर्थांशः। अस्य पुरुषस्य अवशिष्टं त्रिपात् स्वरूपम् अमृतं विनाशरहितं सत् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशस्वरूपे व्यवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० आ० ८।१ तैउ० २।१) इत्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात् पादत्वोपन्यासः ॥ ३ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अस्य] इस (पुरुष) का [महिमा] विस्तार [एतावान्] इतना है। [च] और [पूरुष] पुरुष [अतः] इस से भी अधिक [ज्या

यान्] बड़ा है । [विश्वा] सम्पूर्ण [भूतानि] उत्पन्न पदार्थ आदि [अस्य] इस का [पादः] एक चौथाई (भाग हैं), [दिवि] द्युलोक में [अमृतम्] अमर [अस्य] इस का [त्रिपाद्] तीन-चौथाई भाग है ॥ ३ ॥

१ टिप्पणियां—आधे भाग से विश्व का रचना—अथ० १०।७।८-९ में जिज्ञासा की गई है कि स्कम्भ = ब्रह्म ने विश्वरूप जिस परम अधम और मध्यम, तथा भूत और भविष्यत् की रचना की उस में उसका कितना अंश प्रविष्ट हुआ। अथ० १०।८।७ में कहा है कि ब्रह्म ने अपने एकनेमि सहस्राक्षर एकचक्र रूप के आधे भाग से सम्पूर्ण विश्व का रचना की । उस का शेषआधा भाग कहां है—अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व तद् बभूव । इस भाव को यहां भिन्न रूप से वर्णित किया गया है ।

२ एतावानस्य—ऋग्वेद के प्राचीन भाग में यह सन्धि नहीं मिलती है । वहां पर ऐसे स्थलों पर आन् को आँ हो जाता है । अतः प्रकृत सन्धि सूक्त का रचना के काल को इंगित करता है ।

३. पूरुष —संहिता में दीर्घ हो गया है । पदपाठ में 'पुरुष' होगा ।

४ अमृतम्—सा०-विनाशरहित पुरुष । उ०—१. ऋक् , यजु और साम रूप वाला २. आदित्य रूप । दम०—नाशरहित महिमा ।

५ दिवि—मही०-द्योतनात्मक स्वप्रकाश स्वरूप में ।

६. भाव यह है कि मनारसमान जगत् एक अंश मात्र है । प्रकाशक स्वरूप इस से तीन गुना है । इस में ब्रह्म की अनन्तता समाप्त नहीं होती । यह वर्णन तो ससीम मानव की बुद्धि को अवगत कराने की दृष्टि से किया गया है ।

संहितापाठः	पदपाठः
२५. त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः	त्रिऽपात् । ऊर्ध्वः । उत् । ऐत् । पुरुषः ।
पादोऽस्येहाभवत्पुनः ।	पादः । अस्य । इह । अभवत् । पुनरिति ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्	ततः । विष्वङ् । वि । अक्रामत् ।
साशनानशने अभि ॥४॥	साशनानशने इति । अभि ॥ ४ ॥

यजुर्वेदे 'व्य'–इत्यस्य स्थाने 'व्यु' इति वर्तते ।

सायणभाष्यम्—योऽयं त्रिपात् पुरुषः संसाररहितो ब्रह्मस्वरूपः सोऽयं ऊर्ध्वं उदैत् अस्मादज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतोऽत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्ट उत्कर्षेण स्थितवान् । तस्य अस्य योऽयं पादः लेशः सोऽयम इह मायायां पुनः अभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनः पुनरागच्छति । अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तं—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (भ० गी० १०।४२) इति । ततः मायायामागत्यानन्तरं विष्वङ् देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान् । किं कृत्वा । साशनानशने अभिलक्ष्य । साशनं भोजनादिव्यवहारोपेतं चेतनं प्राणिजातम् अनशनं तद्रहितमचेतनं गिरिनद्यादिकम् । तदुभय यथा स्यात् तथा स्वयमेव विविधो भूत्वा व्याप्तवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[पुरुषः] पुरुष [त्रिपाद्] तीन–चौथाई [ऊर्ध्वः] ऊपर को [उदैत्] फैला हुआ है [पुनः] और [अस्य] इस का [पादः] एक-चौथाई अंश [इह] यहां (इस जगत् में) [अभवत्] है । [ततः] उस से [विष्वङ्] सब कुछ का अन्तर्भाव करने वाला [व्यक्रामत्] प्रादुर्भूत हुआ (और) [साशनानशने] खाने वाले और न खाने वाले [अभि (अक्रामत्)] उत्पन्न हुए ॥

टिप्पणियां—१. त्रिपाद्—सा०—संसाररहित ब्रह्मस्वरूप पुरुष जो समस्त पुरुष का तीन–चौथाई भाग है ।

२ ऊर्ध्वं उदैद्‌—उवट—ऊपर प्रकाशमान है। मही०—इस अज्ञान कार्य संसार से पृथक् इस संसार के गुण दोषों से अछूता उत्कर्ष से विद्यमान है। दय०—पालक परमेश्वर 'सब से उत्तम मुक्तिस्वरूप संसार से पृथक् उदय को प्राप्त होता है (य० भाष्य)। मै०—ऊपर अमरों के लोक में।

३ पादोऽस्येहाभवत् पुनः—उवट—एक भाग तीनों लोकों में बीजरूप हो गया। महा०—जगत् रूप ब्रह्म यहा माया मे सृष्टि और संहार के द्वारा बार बार आता है। दय०—इस पुरुष का एक भाग इस जगत् में बार बार उत्पत्ति प्रलय के चक्र से होता है (य० भाष्य)। पूर्वोक्त संसाररूप एक अंश से पृथक् हो है। मै०-पुनः = अर्थात् अपने मूल रूप से।

४ विष्वङ्—उवट—भुवनकोश। महा०—विषु सर्वत्राञ्चतीति विष्वङ्। देव, तिर्यक् आदि अनेक रूपों वाला। दय०—(जड़ और चेतन के प्रति) सर्वत्र प्राप्त होता हुआ (=व्यापक) (य० भाष्य)। विश्व = सम्पूर्ण जड़ चेतन जगत् (ऋभाभू० पृ० १५४)।

५ साशनानशने—उवट—साशन = स्वर्ग। अनशन = मोक्ष। मही०—खाने आदि व्यवहार वाले चेतन प्राणी और न खाने आदि व्यवहार से रहित जड़ पदार्थ। मै०—यह समास ऋग्वेद में द्वन्द्वसमासों की अर्वाचीनतम अवस्था का द्योतक है।

संहितापाठ	पदपाठ
२६. तस्मा॑द्वि॒राळ॑जायत	तस्मा॑त्। वि॒ऽराट्। अ॒जा॒य॒त॒।
वि॒राजो॒ अधि॒ पूरु॑षः।	वि॒ऽराज॑ः। अधि॑। पुरु॑षः।
स जा॒तो अत्य॑रिच्यत	सः। जा॒तः। अति॑। अ॒रि॒च्य॒त॒।
प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥५॥	प॒श्चात्। भूमि॑म्। अथो॒ इति॑। पु॒रः ॥५॥

यजुर्वेदे प्रथम पादस्त्वेवम्—

'ततो॑ वि॒राड॑जायत' ततः॑। वि॒ऽराट्। अ॒जा॒य॒त॒।

सायणभाष्यम्—विराड् व्यक्रामदिति यदुक्तं तदेवात्र प्रपञ्च्यते। तस्मात् आदिपुरुषात् विराट् ब्रह्माण्डदेहः अजायत उत्पन्नः। विविधानि राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्। विराजोऽधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत। सोऽयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स्वयमेव स्वकीयया मायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीवोऽभवत्। एतच्चाथर्वणिका उत्तरतापनीये विस्पष्टमामनन्ति—"स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव" (नृता० २। १। ९) इति। स जातः विराट् पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोऽभूत्। विराड्व्यतिरिक्तो देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोऽभूत्। पश्चात् देवादिजीवभावादूर्ध्वं भूमिं ससर्जेति शेषः। अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः ससर्ज। पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि ॥५॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस से [विराट्] विराट् [अजायत] उत्पन्न हुआ। [विराजः] विराट् से [अधि] श्रेष्ठ [पुरुषः] पुरुष (है)। [अथो] और [पुरः] पहले [जातः] उत्पन्न हुआ [सः] वह [पश्चात्] पीछे [भूमिम्] उत्पन्न पदार्थों से [अत्यरिच्यत] सर्वोपरि हो गया ॥

टिप्पणियां—१. तस्मात्[1]—तद् को उ० १। १३२ में √तन् से निष्पन्न किया गया है। अतः उस विस्तृत सर्वव्यापक ऊपर वर्णित पुरुष से। मे०—पुरुष के अव्याकृत चतुर्थांश से। दस०—पूर्ण आदि पुरुष से। (य० भाष्य) कला रूप परमेश्वर के सामर्थ्य से (ऋभाभू० पृ० १५६)।

२. विराट्—मही०—विविध राजन्ते वस्तून्यत्रेति विराट्। ब्रह्माण्डदेह। दस०—विविधैः पदार्थैः राजते प्रकाशते स विराट्—विविध प्रकार के पदार्थों से। प्रकाशमान ब्रह्माण्ड रूप संसार (य० भाष्य)। इस भाव का विस्तार करते हुए ऋभाभू० पृ० १५५ पर लिखते हैं— जिस का ब्रह्माण्ड के अलंकार से वर्णन किया है, जो उसी पुरुष के सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ है, जिस को 'मूल प्रकृति'

१. यजुर्वेद में इस के स्थान पर (ततः) पाठ है। दोनों का अर्थ एक ही है।

कहते हैं, जिस का शरीर ब्रह्माण्ड के समतुल्य, जिस के सूर्य चन्द्रमा नेत्रस्थानी हैं, वायु जिस का प्राण और पृथिवी जिस का पग हैं, इत्यादि स्वरूप वाला [सब शरीरों का समष्टि देह (—संस्कृत मूल से)] जो यह आत्मा है सो 'विराट्' कहाता है।

(ii) डा० फतहसिंह ने वैदिक दर्शन पृ० २०६ पर इस स्थल के विराज् को परम पुरुष से उत्पन्न प्रकृतिपुरुष माना है जिस का होम हो जाने पर नाना रूपात्मक विश्व उत्पन्न हुआ है। मै० ने आदि पुरुष और व्याकृत पुरुष के बीच की स्थिति को विराज कहा है।

(iii) अव० १०।७-८ में इस विराज का विस्तृत वर्णन किया गया है। ऋ० १०।७।२८ में इसे हिरण्यगर्भ कहा है—हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः। यह तप से उत्पन्न होता है—य श्रमात् तपसो जातो लोकान्सर्वान्त्स-मानशे। यह उत्पन्न वस्तु अप्रकेत सलिल ही थ जो ब्रह्म के तप से उत्पन्न आदि सृष्टि कह गए हैं। व्याकृत होने की स्थिति में वर्तमान ये अव्याकृत सलिल ही यहां विराज नाम से कहे गये हैं। अवे० १०।७।४१, और ८।३९-४० भी देखें।

(iv) विराळजायत—सन्धि के कारण ट को 'ड्' हुआ। पहले और पीछे दो स्वरों के आने से इस ड् को 'ळ' हो गया है। तु क—पदमध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः। पदमध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं बह्वृचा जगुः॥

२ विराजो अधि पूरुषः—मै०—विराज में पुरुष को उत्पादकत्व का द्योतन मानते हैं—विराज् से पुरुष उत्पन्न हुआ। उव्ट—अधिपूरुष का एक मान कर 'प्रधान तेज क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा सम्भिकृत' अर्थ करते हैं तथा 'स जात' में इसी का निर्देश मानते हैं। महीधर-विराज् के शरीर पर उसे अधिकरण बना कर उस शरीर का एक अभिमानी (=कल्पित चेतन ?) पुरुष नामक पुमान् उत्पन्न हुआ। यह पुमान् अपनी माया से जीवरूप बना हुआ ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव रूप ब्रह्म ही था। दस० य०भाष्य में इस में विराज् के उत्पत्तिकारण आदि पुरुष की उत्कृष्टता मानते हुए यह अर्थ देते हैं—'(विराज) विराट

संसार के (अधि) ऊपर अधिष्ठाता (पूरुषः) परिपूर्ण परमात्मा होता है।' परन्तु ऋभाभू० पृ० १५५-१५६ पर भिन्न विचार रखते हैं और पुरुष का अर्थ समस्त प्राणियों के शरीर मानते हैं—'उस विराट् के तत्त्वों के पूर्वभागों से सब अप्राणी और प्राणियों का देह पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुआ है। जिस में सब जीव वास करते हैं और जो देह उसी पृथिवी आदि के अवयव अन्न आदि ओषधियों से वृद्धि को प्राप्त होता है।'

(ii) अवे० १०।७।८ तथा ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ आदि सूक्तों में विराज् हिरण्यगर्भ से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति मानी है। वेद में—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' आदि सुप्रसिद्ध मन्त्र में तथा 'त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्। विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्'।[2] में ब्रह्म, जीव और प्रकृति को पृथक्-पृथक् माना गया है। अतः यहा विराजो अधि पूरुषः में जीव की उत्पत्ति की कल्पना अनावश्यक प्रतीत होती है। अधि 'अधिक, उत्कर्ष, स्वामित्व' का द्योतक भी है। विराज में षष्ठी विभक्ति है, पञ्चमी नहीं। अतः यहा पर पूर्ण आदि पुरुष के विराज् से श्रेष्ठत्व का वर्णन मानना अनुचित न होगा।

४. स जातो अत्यरिच्यत०—मै०—जब वह पैदा हुआ तो वह पृथिवी से परे आगे और पीछे पहुँच गया। उवट–वह क्षेत्रज्ञ सृष्टिकृत् ब्रह्मा उत्पन्न होते ही प्रसृत हो गया। फिर इस के पहले पृथिवी और उस के बाद १४ प्रकार के भूतों के शरीर उत्पन्न हुए। महीο—यह विराट् पुरुष देव मनुष्य आदि रूप वाला हो गया। फिर देवादि के जीवभाव के उपरान्त भूमि और उस के पश्चात् शरीरों की सृष्टि की। दस०—'(पुरः) पहिले से (जातः) प्रसिद्ध हुआ (अति, अरिच्यत) जगत् से अतिरिक्त होता है (पश्चात्) पीछे (भूमिम्) पृथिवी को उत्पन्न करता है।' ऋभाभू० में प्रधान भाव तो यही लिया है, परन्तु

१. ऋ० १।१६४।२०

२. ऋ. १।१६४।४४–व्याख्या के लिए देखो बुद्धदेवविद्यालंकार—त्रैतवाद का महावाक्य, वेवा० ६।४।

'पश्चात्' का अर्थ संस्कृत मूल में 'फिर उस पुरुष के सामर्थ्य से जीव ने भी शरीर धारण किया और वह परमात्मा उस जीव से भी पृथक् है' है। हिन्दी अनुवाद में यजुर्वेद भाष्य के भाव को ही लिया गया है।

५ भूमिम्—समस्त उत्पन्न पदार्थ आदि। भविष्य में होने वाले पदार्थ आदि पहले भी हो चुके हैं। अतः इस पद से तीनों कालों के पदार्थों आदि का बोध होता है।

संहितापाठ	पदपाठ
२७. यत्पुरुषेण हविषा	यत् । पुरुषेण । हविषा ।
देवा यज्ञमतन्वत ।	देवाः । यज्ञम् । अतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं	वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् ।
ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥६॥	ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥६॥

यजुर्वेदेऽयं मन्त्रश्चतुर्दश। तत्र तृतीयपाद एवमस्ति—

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं वसन्तः। अस्य। आसीत्। आज्यम्।

सायणभाष्यम्—यत् यः पूर्वोक्तक्रमेणैव शरीरेषूत्पन्नेषु सत्सु देवा उत्तर सृष्टिसिद्ध्यर्थं बाह्यद्रव्यस्यानुत्पन्नत्वेन हविरन्तरासम्भवात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन सङ्कल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञम् अतन्वत अन्व तिष्ठन् तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्तः वसन्तर्तुरेव आज्यम् आसीत् अभूत्। तमेवाज्यत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। एवं ग्रीष्म इध्म आसीत्। तमेवेध्मत्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। तथा शरद्धविः आसीत्। तामेव पुरोडाशादिहविष्ट्वेन सङ्कल्पितवन्त इत्यर्थः। एवं पुरुषस्य हविः सामान्यरूपत्वेन सङ्कल्पः। अनन्तरं वसन्तादीनामाज्यादिविशेषरूपत्वेन सङ्कल्प इति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जब [देवा] देवताओं ने [पुरुषेण] पुरुष रूप [हविषा] हवि से [यज्ञम्] यज्ञ का [अतन्वत] विस्तार किया [अस्य]

उस यज्ञ (के लिए) [वसन्तः] वसन्त ऋतु [आज्यम्] तपा हुआ घी [आसीत्] थी, [ग्रीष्मः] गरमी [इध्मः] समिधाएं (और) [शरद्] शरद् ऋतु [हविः] आहुतियां ॥ ६ ॥

टिप्पणियां—१. भाष्यकारों के विभिन्न भाव—भाष्यकारों ने इस मन्त्र में देवताओं द्वारा पुरुष को हविस् बना कर बाह्य द्रव्यों के अनुपलब्ध होने के कारण उत्तर सृष्टि की सिद्धि के लिए मानस यज्ञ का विस्तार माना है। महीo लिखते हैं कि पहले पुरुष का सामान्य हवि: के रूप में संकल्प किया गया, फिर आज्य इध्म और हविः—इन विशेष अंगों की पूर्ति के लिए वसन्त आदि ऋतुओं का संकल्प किया गया। उवट ने इस में योगियों द्वारा अमृतभूत दीपित आत्मा से आत्मयज्ञ के विस्तार का भाव भी ग्रहण किया है। इस यज्ञ में वसन्त, ग्रीष्म और शरद् के अर्थ क्रमशः सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण किए हैं। दस० ने भी घृत आदि सामग्री के अभाव में '(हविषा) ग्रहण करने योग्य (पुरुषेण) पूर्ण परमात्मा के साथ (देवाः) विद्वान् लोगों का मानस यज्ञ' माना है जिस में '(वसन्तः) पूर्वाह्नकाल (ग्रीष्मः) मध्याह्न काल और (शरद्) आधी रात' को घी आदि माना है। भाव यह है कि इस यज्ञ में ये 'काल ही साधन रूप से कल्पना करने चाहिएं।' ऋभाभू० पृ० १६१–१६२ पर भिन्न भाव लिया गया है—(देवाः) देव अर्थात् जो विद्वान् लोग होते हैं उन को (पुरुषेण) ईश्वर ने अपने अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किया है, और वे ईश्वर के (हविषा) दिए पदार्थों का ग्रहण कर के (यद् यज्ञम्) पूर्वोक्त यज्ञ का (अतन्वत) विस्तारपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, और जो ब्रह्माण्ड का रचन, पालन और प्रलय करना रूप यज्ञ है उसी को जगत् बनाने की सामग्री कहते हैं। देवा विद्वांसः पूर्वोक्तेन पुरुषेण हविषा गृहीतेन दत्तेन चाग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तं शिल्पविद्यामयं च यज्ञं यज्ञं प्रकाशितमतन्वत विस्तृतं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च।' मन्त्र के उत्तरार्द्ध में ब्रह्माण्डयज्ञ से जगदुत्पत्ति के लिए वसन्त आदि को कालावयव माना है। आप ने इध्मः का अर्थ प्रदीप्त करने वाली या अग्नि क्रिया है। मैo के विचार में यहां देवता व्याहृत पुरुष को हवि बना कर आदि पुरुष के लिए आदर्श पुरुष (मेध) यज्ञ करते हुए वर्णित किए गए हैं।

२ सम्भावित अर्थ—इस मन्त्र से यह लक्षित होता है कि भूमि आदि लोकों की रचना के पश्चात् प्राणियों की उत्पत्ति और स्थिति को सम्भव बनाने के लिए ऋतुओं की उत्पत्ति हुई। ऋतुओं से ही उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय होते हैं। वसन्त में उत्पत्ति होती है, शरद् में वृद्धि रस का विकास आदि और ग्रीष्म में पक कर तेजस्वी हो सूखना क्रियाएं लक्षित होती हैं। आज्य को प्राण (तै० ३।८।१५।२३) हवि = को यज्ञ की आत्मा (श० १।६।३।३९) और इध्म को अग्नि का प्रदीपक (श० १।३।५।१) कहा है। अतः यहां पर ऋतुओं के द्वारा उत्पत्ति, विकास और पाक (=ह्रास)—इन तीन शक्तियों का वर्णन किया गया है।

(ii) पूर्वार्द्ध में पुरुष विराज का द्योतक है, आदि पूर्ण परमात्मा का नहीं यह विराज् ही जगत् की उत्पत्ति की सामग्री (=हवि) है।

३ देवा—ऊपर ऋ० २।१२।१ में देवो देवान् पर टिप्पणी देखें। ब्रह्माण्ड में प्रकाश आदि गुणों से युक्त समस्त पदार्थ भाव और स्थितया 'देव' हैं। अतः सृष्टि की रचना में लगी हुई समस्त शक्तियां भी देवता हैं। वे ही विराज् रूप सामग्री से सृष्टिरचना रूपी यज्ञ का विस्तार करती हैं।

(ii) अथ० १०।७।२४ में ब्रह्मज्ञाताओं को देव' कहा है—'यत् देवा ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।' इस आधार पर यहां 'देवा' का अर्थ ब्रह्मज्ञाता विद्वान् भी किया जा सकता है। इस में 'जब विद्वानों ने विराज् पुरुष रूप सामग्री से सम्पन्न सृष्टियज्ञ पर विचार किया तब उन्होंने उस में वसन्त आदि के योग को जाना' ऐसा भाव लेना होगा।

४ यज्ञम्—मै०—होम, याग। सामान्यतः इस पद का यही अर्थ समझा जाता है। परन्तु वैदिक और संस्कृत वाङ्मय में इस का अर्थ बहुत विस्तृत है। यह पद देवपूजा सङ्गतिकरण और दान अर्थ वाली ✓यज् से बनता है। अतः इस के अर्थों में ये तीनों भाव व्यष्टि या समष्टि रूप में पाए जाते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के अर्थों—प्राण, अध्वर, नभ, भग, बृहत् विशश्रवत्, अवमा, सुम्न, श्रेष्ठतम कर्म, विट्, ब्रह्म, त्रयी विद्या, प्रजापति, विष्णु अन्न, अभ्र, वाक्,

वायु, संवत्सर आदि में, गीता के यज्ञवर्णन में जपयज्ञ, प्राणापानयज्ञ आदि में यह स्थिति नितान्त स्पष्ट हो रही है। अतः सृजन भी यज्ञ है, सृजक भी यज्ञ है और सृजन की सामग्री भी यज्ञ है। परन्तु यह स्थिति तब तक ही है जब तक ये कर्म, कर्त्ता और सामग्री आदि श्रेष्ठतम कर्म=परोपकार के साधक हैं अन्यथा नहीं। विद्वान् ऐसे ही अङ्गों से यज्ञ करके शाश्वत नियमों और सृष्टि आदि की व्यवस्था करते हैं (देखो आगे मन्त्र १६)।

संहितापाठ	पदपाठ
२८. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्	तम्। यज्ञम्। बर्हिषि। प्र। औक्षन्।
पुरुषं जातमग्रतः।	पुरुषम्। जातम्। अग्रतः।
तेन देवा अयजन्त	तेन। देवाः। अयजन्त।
साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥	साध्याः। ऋषयः। च। ये ॥७॥

यजुर्वेदे मन्त्रोऽयं नवमः।

सायणभाष्यम्—यज्ञं यज्ञसाधनभूतं तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धं बर्हिषि मानसे यज्ञे प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः। कीदृशमित्यत्राह। अग्रतः सर्वसृष्टेः पूर्वं पुरुषं जातं पुरुषत्वेनोत्पन्नम्। एतच्च प्रागेवोक्तं "तस्माद् विराळजायत विराजो अधि पूरुषः" इति। तेन पुरुषरूपेण पशुना देवा अयजन्त मानसयागं निष्पादितवन्त इत्यर्थः। के ते देवा इत्यत्राह। साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः प्रजापतिप्रभृतयः तदनुकूला ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः च ये सन्ति ते सर्वेऽप्ययजन्तेत्यर्थः ॥ ७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[अग्रतः] सब से पहले [जातम्] उत्पन्न हुए [तम्] उस [यज्ञम्] यज्ञ (=पूजनीय) [पुरुषम्] (विराज्-) पुरुष को [बर्हिषि] बर्हि (से आच्छादित यज्ञवेदी) पर [प्रौक्षन्] जल से छिड़का। [तेन] (उस यज्ञमय पुरुष से) [देवा] देवता विद्वान्। [साध्या] साध्य (च) और [ये] जो [ऋषय] ऋषि थे (उन्हों ने) [अयजन्त] यज्ञ किया ॥७॥

टिप्पणियां—१ तम्—उवट ने यहा पर योगियों के आत्मयज्ञ का ही वर्णन माना है। भाष्यकारों ने 'तम्' के भाव का व्याख्यान नहीं किया है। मै० ने जातमग्रत का भाव विराज् से उत्पन्न व्याकृत पुरुष=अधि पुरुष (मन्त्र ०) लिया है। उवट ने 'उत्पन्न दिव्य ज्ञान' भाव लिया है। और दस० ने पूर्ण परमात्मा।

(ii) परन्तु यहाँ पर सृष्टिरचना चालू हो चुकी है। विराज् पुरुष का हवि बनाया जा चुका है। सृजक शक्तियां उत्पन्न हो चुकी हैं। अत यहा विराज् पुरुष का ही वर्णन चल रहा है।

२ यज्ञम्—विराज् पुरुष जीवों के कल्याण के लिए सृष्टि रचता है, अत वह यज्ञ है। पिछले मन्त्र में 'यज्ञम्' पर टिप्पणी भी देख।

३ बर्हिषि—उवट-तृतीयान्त मान कर प्राणायाम से दीपित अर्थ लेते हैं। महा०—मानस यज्ञ। दस०—मानस ज्ञान यज्ञ (य०भाष्य) हृदयान्तरिक्ष (ऋभाभू० पृ० १५८)। मै०—घास।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थो में इस के अर्थों में प्रजा, पशु, ओषधियां, और भूमा भी दिए हैं। इस से अगले मन्त्र में प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन है। अत 'पशुओं की सृष्टि रूप महान् यज्ञ' अर्थ करना समीचीन होगा।

४ प्रौक्षन्—प्र + √उक्ष् + लङ् प्रथम पु० बहुवचन। मै०—छिडका। महा० —सम्प्रोक्षण से संस्कृत किया। दस०—सींचते हैं अथात् धारण करते हैं।

(ii) यहां पर 'लगाया, नियोजित किया' अर्थ अभिप्रेत है।

५ पुरुषं जातमग्रत —ऊपर तम् पर टिप्पणी देखें। लोकों, कालविभाग आदि की रचना से पूर्व उत्पन्न विराज् पुरुष।

६ देवा —पिछले मन्त्र में देवा पर टिप्पणी देखें।

७ साध्या ऋषयश्च ये—मै० ने साध्या को एक पुरानी दिव्य योनि या जाति माना है और ऋषय को 'ऋषि, मन्त्ररचयिता कवि'। महा० ने साध्या का अर्थ सृष्टिसाधनयोग्य प्रजापति आदि और दस० ने योगाभ्यासी ज्ञानी किया है।

ये गोनों ऋषि को मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रार्थवित् मानते हैं। मै० का सुझाव है कि साध्या को देवा का विशेषण भी माना जा सकता है।

(ii) श० १०।२।२।३ में मन्त्र १६ के साध्या देवा को विशेष्य-विशेषण मान कर 'प्राण' अर्थ किया है। ऐ० १।१६ में इन्हें 'छन्दांसि' कहा गया है। ऋषयों को श० ६।१।१।१ में तप से उत्पन्न बताया गया है—ते यत्पुरास्मात् सर्वस्मादिदमिच्छन्त श्रमेण तपसारिषंस्तस्मादृषय। यह पद गत्यर्थक √ऋष् धातु से बनता है। निघ० ।५।५।१४ अ में ऋषय को पदनाम माना गया है। अत इस भाग का अर्थ—(देवा) सृजक शक्तियां (साध्या) प्राण (च) और (ये)[1] यज्ञशाल (ऋषय) तप और श्रम-युक्त। इस की योजना—ये साध्या ऋषय च देवा सन्ति ते—जो प्राणरूप यज्ञशाल तप और श्रम से युक्त सृजक शक्तियां—करने पर अर्थ सुसंगत हो जाता है।

संहितापाठ	पदपाठ
२९. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः	तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः ।
संभृतं पृषदाज्यम् ।	सम्ऽभृतम् । पृषत्ऽआज्यम् ।
पशून् तांश्चक्रे वायव्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥८॥	आरण्यान् । ग्राम्याः । च । ये ॥८॥

यजुर्वेदेऽप्य मन्त्र पठ। तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेवम्—

पशूस्तांश्चक्रे वायव्यान्	पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् ।
आरण्या ग्राम्याश्च ये ॥	आरण्याः । ग्राम्याः । च । ये ॥

सायणभाष्यम्—सर्वहुत। सर्वात्मक पुरुष यस्मिन् यज्ञे हूयते सोऽयं सर्वहुत्। तादृशात् तस्मात् पूर्वोक्तात् मानसात् यज्ञात् पृषदाज्य दधिमिश्रमाज्य सम्भृत सपादितम्। दधि चाज्य चेत्येवमादिभोग्यजात

१. यह पद √यज् धातु से निष्पन्न है। देखो उ० १।१३२।

सर्वं सपादितमित्यर्थं । तथा वायव्यान् वायुदेवताकॉल्लोकप्रसिद्धान् आरण्यान् पशून् चक्रे उत्पादितवान् । आरण्या हरिणादय । तथा ये च ग्राम्या गवाश्वादय तानपि चक्रे । पशूनामन्तरिक्षद्वारा वायुदेवत्यत्व यजुर्ब्राह्मणे समाम्नायते—"वायव स्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षा । अन्त रिक्षदेवत्या खलु वै पशव । वायव एवैनान् परिददाति" (तै० ३।२।१।३) इति ॥ ८ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस [सर्वहुत] अच्छी प्रकार होम किए गए [यज्ञात्] (हवि बनाए हुए विराज् पुरुष रूप) यज्ञ से [पृषदाज्यम्] पशु [सम्भृतम्] उत्पन्न हुए । [तान्] उन [पशून्] पशुओं को [वायव्यान्] वायु में निवास करने वाला [आरण्यान्] जगल में रहने वाला [च] और [ये] जो [ग्राम्या] गाँव (आदि) में रहने वाले (हैं उन को वैसा) [चक्रे] बनाया ॥

टिप्पणिया—१, यजुर्वेद के पाठ में अर्थ में कोई अन्तर नहीं होगा ।

२ यज्ञात्—देखो ऊपर मन्त्र ६ में यज्ञम् पर टिप्पणी । यहां पर मन्त्र ७ में वर्णित 'पशुरचना रूप यज्ञ' का भाव लेना अधिक सगत रहेगा । दस०—ने इस में पूजनीय पुरुष परमात्मा = आदि पुरुष का वर्णन माना है (य० भाष्य) । यह विचारणीय है ।

३ सर्वहुत —मही०—सर्वं हूयते यस्मिन् स सर्वहुत् । तस्मात् । सब कुछ की आहुति को प्राप्त करने वाला पुरुषमेधयज्ञ । दस०—सब से ग्रहण किए जाने वाला (पूजनीय परमात्मा) ।

(11) यज्ञ की सिद्धि तब ही होती है जब वह अच्छी प्रकार सम्पन्न हो । आग में पदार्थों को डालने का एक प्रयोजन उन्हें सूक्ष्मतम बना कर वायु द्वारा सर्वत्र फैला देना है । यह तब ही सम्भव है जब आग खूब प्रज्वलित हो । यह भाव यहां भी अभिप्रेत है । अत इस का अर्थ—'सृजक शक्तियों के योग से विराज् रूप सामग्री से किए जा रहे प्राणिरचना रूप यज्ञ की आग खूब प्रज्वलित थी । उस समय उस विराज् सामग्री के सूक्ष्म तत्त्वों से' अभिप्रेत है ।

४. संभृतम्—सम् + √हृ + क्त। वेद में √हृ और √ग्रह् के ह् को भ् हो जाता है। अच्छी प्रकार सम्पन्न, सम्यक् सिद्ध, सम्यक् उत्पन्न। यहां क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

५ पृषदाज्यम्—मही०—दधि से युक्त आज्य अर्थात् दध्यादि भोग्य पदार्थों का समूह। मै०—घी। दस० भी मही० का ही भाव लेते हैं।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ अन्न, प्राण, पयः और पशु मिलते हैं। यहां प्राणिरचना यज्ञ हो रहा है। उस से पहले प्राणी उत्पन्न होंगे, तब दधि आदि से उपलक्षित भोग्य पदार्थ उत्पन्न हो सकेंगे। यद्यपि यहां कार्य-कारण के पौर्वापर्य का व्यत्यास रूप अतिशयोक्ति अलङ्कार माना जा सकता है, परन्तु मन्त्र की रचना इस के विरुद्ध है। पाद ३ में 'तान्' 'पृषदाज्यम्' का निर्देश करता है और उस का अर्थ 'पशून्' देता है। इन पशुओं के तीन विभाग किए गए वायव्य, आरण्य और ग्राम्य।

६. तान्—मै०—तत् के स्थान पर पशून् के प्रभाव से 'तान्' का प्रयोग हुआ है।

७. वायव्यान्—यह उन विरल पदों में से है जहां उच्चारण काल में भी स्वतन्त्र स्वरित की सत्ता बनी रहती है। इस के आन् को आगे आने वाले 'आ' के कारण आँ नहीं हुआ क्योंकि यह पाद के अन्त में है। इस से ऐसा आभास मिलता है कि पहले मन्त्रों का प्रत्येक पाद अन्य पादों से स्वतन्त्र समझा जाता था (मै०)।

संहितापाठः	पदपाठ
३०. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत	तस्मात्। यज्ञात्। सर्वऽहुतः।
ऋचः सामानि जज्ञिरे।	ऋचः। सामानि। जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्	छन्दांसि। जज्ञिरे। तस्मात्।
यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥	यजुः। तस्मात्। अजायत ॥९॥

मन्त्रोऽयं यजु संहितायां सप्तम। तत्र 'छन्दांसि'—इत्यत्र 'छन्दां ᳪ सि'—इति पाठ.।

सायणभाष्यम्—सर्वहुतः तस्मात् पूर्वोक्तात् यज्ञात् ऋचः सामानि च जज्ञिरे उत्पन्नाः। तस्मात् यज्ञात् छन्दांसि गायत्र्यादीनि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् यजुः अपि अजायत ॥ ९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[तस्मात्] उस [सर्वहुतः] अच्छी प्रकार निष्पन्न [यज्ञात्] (विराट् पुरुष रूप सामग्री वाले) सृष्टियज्ञ से [ऋचः] ऋचाएं (और) [सामानि] सामन् [जज्ञिरे] उत्पन्न हुए। [तस्मात्] उस से (ही) [छन्दांसि] छन्द और [तस्मात्] उस से (ही) [यजुः] यजुष् [अजायत] उत्पन्न हुए ॥

टिप्पणियां—१. यज्ञात् सर्वहुतः—दम०—सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुष (सर्वहुतः) सब के पूजनीय, सब के उपास्य सर्वशक्तिमान् ब्रह्म से। वे इसे ऋचः आदि का विशेषण भी मानते हैं क्यों कि चारों वेद सब मनुष्यों द्वारा ग्रहण किए जाने योग्य हैं। उवट के विचार में (१) प्रज्वालित (पुरुषयज्ञ) से देव ऋक्साम यजुः और छन्दों को उत्पन्न करते हैं। २. प्रणव से आत्मयज्ञ के प्रतीत हो जाने पर स्वयमेव ज्ञान से (ऋक् आदि) अवस्थित हो जाते हैं।

२. ऋचः, सामानि, छन्दांसि, यजुः—दम० ने ऋक् आदि का अर्थ ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद लगाया है। उन का विचार है कि ऋचः सामानि और यजुः में ही समस्त छन्दों का अन्तर्भाव हो जाता है, अतः छन्दांसि का प्रयोग निरर्थक होने से यह अथर्ववेद का द्योतक है। मेट पीटर्सबर्ग कोष में छन्दस् का अर्थ ऋक्, यजुः और साम से भिन्न, सम्भवतः मूलतः, एक जादू-टोने का वाक्य किया है। इस आधार पर पीटर्सन भी दम० के निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। मै० समझते हैं कि इस में केवल तीन वेदों का ही सीधा और साक्षात् वर्णन है, अथर्ववेद बहुत पीछे तक चतुर्थ वेद के रूप में स्वीकार नहीं किया गया।

(ii) ऋ० १०।१४।१६ में त्रिष्टुभ्, गायत्री और छन्दांसि को यम में निहित बताया गया है। ऋ० १०।११४।५ में विप्र एक सुपर्ण को अध्वरों में छन्दों को युक्त करते हुए बहुधा कल्पित करते हैं। मन्त्र ६ में छन्दों को धारण

करते हुए विद्वान् ऋक् और सामन् से यज्ञ का सम्पादन करते हैं, मन्त्र ९ में प्रश्न है कि छन्दों के योग को कौन जानता है। ऋ० १०।१३०।३ में मन्त्रों को छन्द कहा है, मन्त्र ७ में इन के दो विभाग किए हैं—स्तोम और छन्द। अतः छन्द समस्त मन्त्रों का द्योतक पद है। यहां पर ऋक्, साम और यजुः से बचे हुए मन्त्रसमूह का अभिप्राय है, और वह अथर्ववेद ही है।

३. मन्त्र की समस्या—परन्तु अभी मानवसृष्टि का वर्णन नहीं किया गया है। इस से पहले मन्त्र में पशु शब्द से मानव का भी ग्रहण तो किया जा सकता है, परन्तु अगले मन्त्र में पशुओं का पुनः विस्तार किया गया है। मानवों का वर्णन केवल मन्त्र १२ में आया माना जा सकता है, फिर ऋग्वेद आदि की उत्पत्ति कैसे हुई। क्या इस में नित्य वाणी के प्रचार का भाव ले कर वाणी के अग्र होने के कारण ही ऋग्वेद आदि का वर्णन किया गया है, अथवा अन्य किसी दृष्टि से यह विचारणीय है। उधर ब्राह्मणग्रन्थों में ऋक् आदि के कुछ अर्थ मिलते हैं, क्या उन में से भी कोई अर्थ यहां अभिप्रेत है।

संहितापाठः	पदपाठः
३१. तस्मा॒दश्वा॑ अजायन्त॒	तस्मा॑त् । अश्वाः॑ । अ॒जा॒य॒न्त॒ ।
ये के चो॑भ॒याद॑तः ।	ये । के । च॒ । उ॒भ॒याद॑तः ।
गावो॑ ह जज्ञि॒रे॒ तस्मा॑त्	गावः॑ । ह॒ । ज॒ज्ञि॒रे॒ । तस्मा॑त् ।
तस्मा॑ज्जा॒ता अ॑जा॒वयः॑ ॥१०॥	तस्मा॑त् । जा॒ताः । अ॒जा॒वयः॑ ॥१०॥

यजुःसंहितायां मन्त्रो ऽयमष्टमः।

सायणभाष्यम्—तस्मात् पूर्वोक्तायज्ञात् अश्वा अजायन्त उत्पन्नाः। तथा ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरु ऽ+उभयो: दन्तयुक्ताः सन्ति तेऽप्यजायन्त। तथा तस्मात् यज्ञात् गावःच जज्ञिरे। किं च तस्मात् यज्ञात् अजावयः च जाताः ॥१०॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [ये] जो [के] कोई (भी) [उभयादतः] (ऊपर नीचे—) दोनों ओर दान्तों वाले (हैं वे) [अश्वाः] घोड़े

[तस्मात्] उसी (यज्ञ) से [अजायन्त] उत्पन्न हुए। [ह] निश्चय से [गाव] गौए [तस्मात्] उसी (यज्ञ) से [जज्ञिरे] उत्पन्न हुई [अजावय] बकरी और भेड़ [जाता] उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

टिप्पणियां—१ भाष्यकारों का अर्थ—भाष्यकारों ने पहले दो पादों को एक साथ ले कर घोड़ों और दोनों ओर दान्तों वाले गधे आदि की उत्पत्ति का वर्णन माना है। परन्तु गाय के ऊपर और नीचे तथा दोनों ओर दाढ़ें होती हैं, तथा बकरियों के ऊपर और नीचे दान्त होते हैं, अतः ये सब ही 'उभयादन्त' हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी० की योजना उचित जान पड़ती है। भाष्यकारों का अर्थ यह है—

उस से घोड़े उत्पन्न हुए और ये जो कोई भी दोनों ओर दान्तों वाले हैं। उस से गाएं उत्पन्न हुईं। उस से बकरी और भेड़ उत्पन्न हुईं।

२ अजावय—द्वन्द्व समासों को पदपाठ में अवगृहीत नहीं किया जाता है।

संहितापाठ	पदपाठ
३२. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य को बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥	यत्। पुरुषम्। वि। अदधुः। कतिधा। वि। अकल्पयन्। मुखम्। किम्। अस्य। कौ। बाहू इति। कौ। ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति॥ ११ ॥

यजु संहितायामयं दशमो मन्त्र। तत्र तृतीयचतुर्थपादौ त्वेवं स्त—

मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥	मुखम्। किम्। अस्य। आसीत्। किम्। बाहू इति। किम्। ऊरू इति। पादौ। उच्येते इति॥

सायणभाष्यम्—प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुं ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते। प्रजापतेः प्राणरूपा देवा यत् यदा पुरुषं विराड्रूपं व्यदधुः संकल्पेनोत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः। अस्य पुरुषस्य मुखं किम् आसीत्। कौ बाहू अभूताम्। का ऊरू। कौ च पादावुच्येते। प्रथमं सामान्यरूपः प्रश्नः पश्चात् मुखं किमित्यादिना विशेषविषयाः प्रश्नाः ॥ ११ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यत्] जब (देवों ने) [पुरुषम्] विराज् पुरुष की [व्यदधुः] (सृष्टियज्ञ में) आहुति दी (तब उस को) [कतिधा] कितने प्रकार से [व्यकल्पयन्] वर्णन किया ? [अस्य] उस का [मुखम्] मुख [किम्] क्या (था) [बाहू] दो भुजाएं [कौ] कौन-कौन सी (था) [ऊरू] जंघाएं (और) [पादा] पैर [का] कौन-कौन [उच्येते] कहे जाते हैं ?

टिप्पणियां—१ अगले मन्त्र की भूमिका—यह मन्त्र अगले मन्त्र के वर्णन की प्रश्नात्मक पृष्ठभूमि है।

२ यत्—मही०—जब। दय०—क्यों कि (ऋभाभू०) उस (पुरुष) को (य०भाष्य)।

३ पुरुषम्—सा०—विराज् पुरुष। दय०—पूर्ण पुरुष।

४ वि अदधुः—मै०—जब देवों ने पुरुष को हवनीय पशु के रूप में काटा। मही०—काल से उत्पन्न किया। दय०—(य०भाष्य)—विविध प्रकार से धारण करते हैं। (ऋभाभू०)—विविध प्रकार से व्याख्यान करते हैं।

(ii) आश्रित वाक्य होने पर भी पदपाठ ने 'वि' को अदधुः से पृथक् किया है। इस से ज्ञात होता है कि 'वि' को पदकार उपसर्ग नहीं मान रहे हैं।

५ कतिधा—कितने प्रकार से। इस के उत्तर अगले मन्त्रों में पाए जाते हैं। मन्त्र १२-१४ में चार-चार प्रकारों का उल्लेख है और मन्त्र १५ में दो प्रकारों का।

६. वि अकल्पयन्—मै०—बांटा, उ०—विचार किया। मही०—(कितने प्रकार) कल्पना की। दस०—विशेष कर कहते हैं (य० भाष्य)। उस के सामर्थ्यगुणों की कल्पना करते हैं (ऋभाभू०)।

(ii) इस धातु का कल्पना करने, सोचने, विचारने, व्याख्यान करने के अर्थ में ऋ० १०।११४।५ में भी प्रयोग हुआ है—

'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।' ऋ० १।१६४।४६—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' से तुलना करने पर उपरोक्त अर्थ सुपुष्ट हो जाता है। अतः—कितने रूपों में व्याख्यान किया—यह भाव हुआ।

७. मुखम्—सा०—मन्त्र के पूर्वार्द्ध में सामान्य प्रश्न किया गया है और इस भाग में उस प्रश्न का विस्तार किया है। सा० आदि ने इस का अर्थ—पुरुष के मुख, बाहू, ऊरू और पैर क्या थे—लिखा है। दस० ने य० भाष्य में "(मुखम्) के समान श्रेष्ठ, (बाहू) भुज बल को धारण करने वाला, (ऊरू) घोंटू के कार्य करने हारे और (पादौ) पांव के समान नीच कौन थे' और ऋभाभू० पृ० १५८ में (i) मुख्य गुणों से, (ii) बल, वीर्य, शूरता और युद्ध आदि विद्यागुणों से, (iii) व्यापार आदि मध्यम गुणों से और (iv) मूर्खपन आदि नीच गुणों से किस की उत्पत्ति हुई—अर्थ किया है।

(ii) इस मन्त्र के पूर्वार्ध में पूछा गया है कि विराट् का विद्वानों ने कितने प्रकार व्याख्यान किया। अतः उत्तरार्द्ध में मुख, बाहु, ऊरु और पाद की दृष्टि से विराज् के चार प्रकार से अर्थात् चार व्याख्यान अभिप्रेत हैं। ये चारों व्याख्यान और इन में प्राप्त नाम उसी प्रकार एक विराट् के द्योतक हैं जिस प्रकार 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' में अग्नि, यम और मातरिश्वा 'एक सत्' के द्योतक हैं। विराज् के मुख आदि साक्षात् नहीं हैं। उस की शक्तियों को ही मुख आदि नाम दिया है। मुख = मुख के सदृश मुख निरपेक्ष, ज्ञान प्रवचन और नेतृत्व आदि के गुण। बाहु—√वह् धारण करना से। धारक, शक्ति, बल, वीर्य, रक्षा, सहार आदि गुण। ऊरु—√ऊर्णु ढकना से। अतः आच्छादन, पालन, विस्तार करना आदि गुण। पद् (पाद)—

√पद् जाना से। अतः गति, प्राप्ति, ज्ञान, श्रम और तप आदि। भाव यह है कि इन शक्तियों की दृष्टि से विराज् के क्या-क्या नाम हुए। यजुर्वेद के पाठ में 'कौ' और 'का' के स्थान पर 'किम्' पाठ से भी यही निष्कर्ष निकलता है। वहा अर्थ यह है—इस का मुख किस नाम का था, बाहू, ऊरू और पाद किस नाम के थे।

८. कौ—डा० मै० लिखते हैं कि व्यञ्जनों से पूर्व द्विवचन के 'औ' के स्थान पर ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में 'आ' का प्रयोग पाया जाता है।

संहितापाठः	पदपाठः
३३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्	ब्राह्मणः। अस्य। मुखम्। आसीत्।
बाहू राजन्यः कृतः।	बाहू इति। राजन्यः। कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः	ऊरू इति। तत्। अस्य। यत्। वैश्यः
पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥	पत्ऽभ्याम्। शूद्रः। अजायत॥१२॥

यजुःसंहितायामयं मन्त्र एकादशः। तत्र ब्राह्मणो, राजन्यः इत्युभयत्रापि ० णो, ०न्यः एवं पाठः। 'पद्भ्यामित्यस्य स्थाने 'पद्भ्याᳬ'पाठो वर्तते।

सायणभाष्यम्—इदानीं पूर्वोक्तानां प्रश्नानामुत्तराणि दर्शयति। अस्य प्रजापतेः ब्राह्मणः ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टः पुरुषः मुखमासीत् मुखादुत्पन्न इत्यर्थः। योऽयं राजन्यः क्षत्रियत्वजातिमान् पुरुषः सः बाहू कृतः बाहुत्वेन निष्पादितः। बाहुभ्यामुत्पादित इत्यर्थः। तत् तदानीम् अस्य प्रजापतेः यत् यौ ऊरू तद्रूपः वैश्यः संपन्नः ऊरुभ्यामुत्पन्न इत्यर्थः। तथास्य पद्भ्यां पादाभ्यां शूद्रः शूद्रत्वजातिमान् पुरुषः अजायत। इयं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनामुत्पत्तिर्यजुःसंहितायां सप्तमकाण्डे "स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत" (तैस० ७।१।१।४) इत्यादौ विस्पष्टमाम्नाता। अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परतयैव योजनीये ॥१२॥

हिन्दी अनुवाद—[ब्राह्मणः] ब्रह्मज्ञानी [अस्य] उस (विराज् पुरुष) का [मुखम्] मुख [आसीत्] था। [राजन्यः] शासक [बाहू] दोनों

भुजाएं [कृत] बनाया गया। [यद्] जो [वैश्य] (सामान्य) प्रजाजन (थ) [तत्] व [अस्य] इस की [ऊरू] दोनों जघाएं (कल्पित किए गए)। [पद्भ्याम्] पैरों से (वह) [शूद्र] शूद्र (= तपस्वी) [अजायत] हो गया।

टिप्पणियां—१ वर्णों की उत्पत्ति—इस मन्त्र के आधार पर मन भाष्यकारों ने ब्रह्म के मुख से ब्राह्मणों की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जंघाओं से वैश्यों की और पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी है, और समाज में उन का स्थान भी उत्तरोत्तर अवर माना है। मध्यकालीन और उस विचार के अनुयायी पण्डित इन वर्णों को जन्मगत मानते हैं और दश० गुणकर्मस्वभाव के अनुसार वर्णव्यवस्था मान कर एक दूसरे वर्ण में परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।

(ii) जैसा पहले मन्त्र (११) की टिप्पणियों में लिखा गया है यहां पर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र विराज् के ही विभिन्न दृष्टियों से अनेक नाम हैं। भाव यह है कि मुखवत् ज्ञान और प्रवचन की दृष्टि से विराज् का नाम ब्राह्मण है बल, वीर्य आदि की दृष्टि से क्षत्रिय या राजन्य, विस्तार करने और सर्वत्र व्यापक होने की दृष्टि से वैश्य और गति, ज्ञान और प्राप्ति की दृष्टि से शूद्र नाम है। लक्षणा से लोक में इन गुणों के आधार पर विशः (= प्रजा) के भी पृथक् पृथक् नाम कल्पित कर लिए गए। ऊपर मन्त्र ऋ० २। १२। ६ (क्रमसंख्या १२) में भी टिप्पणियां देखें।

(iii) प्रचलित शैली के अर्थों के अनुसार भी चार वर्णों के प्रसिद्ध नाम ऋग्वेद में केवल इसी मन्त्र में आए हैं। यही नहीं, चारों संहिताओं में इस क्रम से चारों वर्णों के ये नाम इसी मन्त्र में मिलते हैं और किसी में नहीं। डा० अम्बेडकर इस मन्त्र को विशेष रूप से प्रक्षिप्त मानते हैं।

२ कृत—मै० ने इसे कृतौ के स्थान पर राजन्य से प्रभावित प्रयोग माना है, परन्तु यह विचार ठीक नहीं। कृत और राजन्य समानाधिकरण हैं।

३ यद्वैश्यः—मै० ने इस का अर्थ—उस की जंघाएं जो वैश्य था हो गई—किया है। ऊपर के व्याख्यान की दृष्टि में यह अर्थयोजना उलटी है।

४ पद्भ्याम्—में जनन की प्रकृति की द्योतक पञ्चमी मानी गई है। पिछले मन्त्र की दृष्टि में 'अजायत' का भाव 'उच्यत' है। अत यहा पञ्चमी नहीं मानी जा सकती। जगमिस्तारस के समान इत्थभूतलक्षण में तृतीया है—गतिशीलता, श्रम और तप के कारण विराज शूद्र कहलाता है।

(ii) गति दो प्रकार की होती है—१. श्रेय की ओर और २. प्रेय की ओर। अत पद्भ्याम् में द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

(iii) शक्ति भी दो प्रकार की होती है—१ पोषक और सहारक। ससार और राष्ट्र के धारण में दानों प्रकार की शक्तिया काम आती हैं। अत 'बाहू' में द्विवचन का प्रयोग हुआ है।

(iv) विस्तार भी अपना और दूसरों का हानि से दो प्रकार का है। अत ऊरू में भी द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

सहितापाठ	पदपाठ
३४. चन्द्रमा मनसो जात-	चन्द्रमाः । मनसः । जातः ।
श्चक्षोः सूर्यो अजायत ।	चक्षोः । सूर्यः । अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च	मुखात् । इन्द्रः । च । अग्निः । च ।
प्राणाद्वायुरजायत ॥ १३ ॥	प्राणात् । वायुः । अजायत ॥ १३ ॥

अय मन्त्रो यजु सहिताया द्वादश । तत्र च तृतीयचतुर्थपादावेवम्—

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च	श्रोत्रात् । वायुः । च । प्राणः । च ।
मुखादग्निरजायत ॥१२॥	मुखात् । अग्निः । अजायत ॥ १२ ॥

सायणभाष्यम्—यथा दध्याज्यादिद्रव्याणि गवादय पशव ऋगादि वेदा ब्राह्मणादयो मनुष्याश्च तस्मादुत्पन्ना एव चन्द्रादयो देवा अपि तस्मादेवोपन्ना इत्याह। प्रजापतेर्मनस सकाशात् चन्द्रमा जात । चक्षो च चक्षुष सूर्य अपि अजायत। अस्य मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च देवावुत्पन्नौ। अस्य प्राणात् वायुरजायत ॥ १३ ॥

हिन्दी अनुवाद—(उसके) [मनसः] मन से [चन्द्रमा] चन्द्रमा [जातः] बना। [चक्षोः] आंख से [सूर्य] सूर्य [अजायत] उत्पन्न हुआ। [मुखात्] मुख से [इन्द्र] इन्द्र [च] और [अग्नि] अग्नि [च] और [प्राणात्] प्राणों से [वायु.] वायु [अजायत] उत्पन्न हुए ॥ १३ ॥

टिप्पणियां—१. चन्द्रमाः—चन्दति हर्षयति दीपयति वा स चन्द्रः (उ० २।१३ दमा०)। चन्द्र मिमीतेऽसौ चन्द्रमाः (उ० ४।२२८)। आनन्दप्रद, प्रकाशक। चन्द्रमा को चन्द्रमा भी इन्हीं गुणो के कारण कहते हैं। इस की एक अन्य व्युत्पत्ति भी सम्भव है—चन्दति चन्दयति वा चन्दः। चन्दे आनन्दे प्रकाशे वा रमतेऽसो चन्द्रमाः। आनन्द और प्रकाश में रमण करने वाला, अतः आनन्दमय, प्रकाशस्वरूप। निघ० ५।५।१३ में इसे पदनामों में पढा गया है। शाकल्य ने इसे पदपाठ में अवगृहीत नहीं किया है। सम्भवत वे इस की दूसरी व्युत्पत्ति मानते हों जिस में पूर्वपद में विकार होने के कारण यह पद अवगृहीत नहीं हो सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में इसे चन्द्र + मे से और नि० ११।५ में चाय + √द्रम् आदि से व्युत्पन्न किया गया है। इस के अर्थों में सोम, वृत्र, वरेण्य, सविता, मनस, रेतस्, अन्न, प्राण, प्रजापति, ब्रह्मा, धाता, विधाता, रात, उदान, मनुष्य लोक, वाक्, भर्गः, सब कुछ आदि मिलते हैं।

२. मनस —चन्द्रमा और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। चन्द्रमा की किरणों के विशेष प्रकार से पड़ने पर मन में अनेकविध विकारों की उत्पत्ति बताई जाती है। शुक्ल पक्ष में कृष्ण पक्ष की अपेक्षा मानसिक गति अधिक तीव्र होती है तु० क० तै० ३।१०।८।५-चन्द्रमा में मनसि श्रित। तथा ज० उप० १।२८।५ तत्तन्मनश्चन्द्रमास्र.। अतः यहां पर पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति कही गई है। मनस्-पद √मन् जानना, मनन करना से बनता है। जानने का साधन, अन्त ज्ञानशक्ति, अनुभवशक्ति आदि। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे सविता, इन्द्र, ऋत, समुद्र, देव, वृषा, वाक्, प्राणों का अधिपति, चक्षु, अध्वर्यु आदि कहा गया है। बृहत्, पर ब्रह्म, होता, प्रजापति, सब कुछ, पितर, अन्तरिक्ष, वायु, अग्नि।

३. चक्षोः—डा० मै० लिखते हैं कि चक्षु का पञ्चम्यन्त यह रूप केवल इसी मन्त्र में आया है। सामान्यतः यह पद चक्षुष् है। सूर्य के कारण ही आलोक प्राप्त कर के मनुष्य देखने में समर्थ होता है। सूर्य स्वयं सब जगत् को अपने प्रकाश से देखता है।

(ii) ब्राह्मण ग्रन्थों में इस के अर्थ सत्य, निवित्, रुक्, बृहस्पति, जमदग्नि ऋषि, मैत्रावरुण, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा, देव, आदित्य, अर्क, सूर्य, यश, त्रैष्टुभ, उष्णिक् आदि दिए गए हैं।

४. मुखात्—पिछले मन्त्र में मुख पर टिप्पणी देखें। श० १४।४।३।७ में मुख को 'प्रतीक' कहा है।

५. इन्द्रः—पीछे ऋ० २।१२।१ में इन्द्रः पर टिप्पणी देखें। पाउ० सू सं० ३१ में इन्द्रः पर भी टिप्पणी देखें।

६. अग्निः—डा० फतह सिंह ने वैए० ७ में इसे मूलतः अ—√क्नूय् से व्युत्पन्न माना है। वैदिक वर्णनों में इस के अग्रणीत्व, प्रकाश और गतिशीलता गुण ही विशेष लक्षित होते हैं। मुख में भी अग्रणीत्व, प्रकाश और मानसिक गति सुविदित हैं। वे भाप० ४।१३, तथा परिशिष्ट २।१ भी देखें। पाउ० सूस० ३१ में अग्नि पद पर टिप्पणी देखें।

७. प्राणात्—यह पद प्र + √अन् श्वास लेना से बनता है। श्वासक्रिया और उस में अन्दर आने और बाहर जाने वाली वायु ही प्राण है। प्राण शब्द से स्वयं प्राण का और प्राण, अपान, व्यान आदि दसों प्राणवायुओं का द्योतक है। ब्राह्मण ग्रन्थों म प्राणों को प्र, आदित्य, अर्क, सविता, सोम, चन्द्रमा, अग्नि, अमृत, जातवेदस्, वायु, वात, मातरिश्वा, वनस्पति, वरुण, रुद्र, वसु, मित्र, साध्य देव, विश्वे देवाः, ऋषि, वसिष्ठ ऋषि, ऋरू, यजुः, रश्मि, होता, सत्य, सवत्सर, मधु, ज्योति, हिरण्यय, क, प्रजापति, तनूनपात्, पिता, अर्णव, अन्न, सामवेद, आपः आदि कहा गया है। देखो वैको०।

८. वायु—√वा जाना, बहना से। गतिशील, ज्ञानवान्, प्राप्त वस्तु आदि वायु शब्दद्योत्य होते हैं। पिछले साहित्य में यह पद योगरूढि हो कर

'हवा' का द्योतक बन गया है। अभिज्ञानशाकुन्तल अंक ७ में वायु के मार्गों का उल्लेख मिलता है।

(ii) ब्राह्मणग्रन्थों में वायु के अर्थों में हवा, सब को पृथक् पृथक् व्यक्त करने वाली, देव, ब्रह्म, बृहस्पति, पवित्र प्रजापति, इन्द्र, तेज, पूषा, तार्क्ष्य, सविता, विश्वकर्मा, पशुपति उग्र, पुरोहित, वाक्, देवों की आत्मा, यजु, अध्वर्यु शान्ति आदि दिए हैं।

९ जैसा ऊपर मन्त्र ११ की टिप्पणियों में लिखा है यहां से आहुत पुरुष के नामों या व्याख्यानों का प्रकरण चल रहा है। वही विषय प्रकृत मन्त्र में तथा अगले मन्त्र में चल रहा है। इस प्रकरण का उपसंहार अगले मन्त्र (सं० १४) के पाद ४ में—तथा लोकाँ अकल्पयन्—इस प्रकार लोकों = स्वरूपों का व्याख्यान किया—में किया है।

(ii) ऊपर टिप्पणियों में विभिन्न पदों के ब्राह्मणग्रन्थों के अर्थों के अध्ययन और तुलनात्मक विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सब पदों के तात्पर्य अर्थ समान हैं। यह तब ही सम्भव है जब वे एक ही सत्ता के विभिन्न रूपों के द्योतक हों। इस दृष्टि से भी यहां पुरुष के स्वरूपों का वर्णन ही अभिप्रेत है। इस की पुष्टि चन्द्रमा और मन के, सूर्य और चक्षु के, मुख तथा इन्द्र और अग्नि के तथा प्राण और वायु के घनिष्ठ सम्बन्ध से भी होता है।

(iii) परन्तु मनसः, चक्षोः, मुखात् और प्राणात् में पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग विचारणीय है। पिछले मन्त्र १२ में पद्भ्याम् में इत्थंभूतलक्षण में तृतीया लेने से समस्या हल हो गई है। परन्तु प्रस्तावित अर्थों की दृष्टि में यहां हेतु में पञ्चमी माननी समीचीन रहेगी। मननशक्ति, दर्शनशक्ति, सहनशीलता और धारण करने की शक्ति के कारण उस के नाम क्रमशः चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र और अग्नि तथा वायु पड़े। √जन् धातु का प्रयोग उत्पत्ति द्योतक ही नहीं है, प्रसिद्धि का द्योतक भी है।

१० श्रोत्राद्—यजुर्वेद में प्राण और वायु को श्रोत्र से उत्पन्न कहा गया है। अतः श्रवणशक्ति के कारण वह पुरुष वायु और प्राण कहलाया।

सहितापाठ	पदपाठ
३५. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्। तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥	नाभ्याः। आसीत्। अन्तरिक्षम् शीर्ष्णः। द्यौः। सम्। अवर्तत पत्ऽभ्याम्। भूमिः। दिशः। श्रोत्रात्। तथा। लोकान् अकल्पयन् ॥ १४ ॥

यजु मंहितायां त्रयोदशोऽयं मन्त्र। तत्र 'अन्तरिक्षम्' इति 'लोकाँ' इति च स्थाने 'अन्तरिक्ष ४' इति, 'लोकाँ २' इति च पाठौ। पदपाठस्तु ऋग्वेदवत्।

सायणभाष्यम्—यथा चन्द्रादीन् प्रजापते मन प्रभृतिभ्योऽकल्पयत् तथा अन्तरिक्षादीन् लोकान् प्रजापते नाभ्यादिभ्यो देवा अकल्पयन् उत्पादितवन्त। एतदेव दर्शयति। नाभ्या प्रजापतेर्नाभे अन्तरिक्षमासीत्। शीर्ष्ण शिरस द्यौ समवर्तत उत्पन्ना। अस्य पद्भ्या पादाभ्या भूमि उत्पन्ना। अस्य श्रोत्रात् दिश उत्पन्ना ॥ १४ ॥

हिन्दी अनुवाद—[नाभ्या] (उस की) नाभि से [अन्तरिक्षम्] आकाश [आसीत्] हुआ [शीर्ष्ण] सिर से [द्यौ] द्युलोक [समवर्तत] बना। [पद्भ्याम्] पैरों से [भूमि] पृथ्वी [श्रोत्रात्] कानों से [दिश] दिशाओं [तथा] और [लोकान्] (शेष सब) लोकों को [अकल्पयन्] कल्पित किया ॥ १४ ॥

टिप्पणियाँ—१ नाभ्या—यह पद √नह् बाधना से बनता है। जो सब कुछ को बाँध हुए है, व्याप्त किए हुए है। ब्राह्मणग्रन्थों की दृष्टि में नाभि मे प्राण, अन्न और रेतस् स्थित हैं। नाभि पदार्थों का मध्य भाग होती है, जो भयरहित होता है। अन्तरिक्ष—आकाश सब को व्याप्त किए हुए है। इसे मध्य लोक भी कहते हैं। वायु और वृष्टिजल की स्थिति भी इसी में रहती है।

२ अन्तरिक्षम्—डा० फतहसिंह ने दो व्युत्पत्तियाँ (१ अन्तरा + √क्षि से २ अन्तर् + यक्षम् से) ब्राह्मणों से और तीन (—१ अन्तरा + क्षान्तम्

२ अन्तरा + √ क्षि ३ अन्तर् + क्षयम्) निरुक्त से सकलित की है। आकाश के अर्थ में व इसे अन्तर् + √ ईक्ष् से व्युत्पन्न करना उचित समझते हैं। ताण्ड्यमहाब्राह्मण म एक अन्य व्युत्पत्ति अन्तर् + ख का सकेत भी मिलता है (देखो वैए० ५६)। ऊपर टिप्पणी १ म वर्णित अन्तरिक्ष के रूप की दृष्टि से अन्तर + √ क्षि व्युत्पत्ति अधिक उपयुक्त मानी जा सकती है। इसी से यह पुरुष का उस के सब कुछ को अपने अन्दर धारण करने और सब कुछ के अन्दर व्याप्त होने के कारण नाम बन जाता है।

३ शीर्ष्णो —इसे √ श्रि से व्युत्पन्न किया गया है। सब का धारक, सब का शरणभूत, अत उन्नत, परम कमनीय। तु के असारी माया का सिरि। इस का सामान्य अर्थ शिरस् होता है। इसे प्राणों का योनि, प्राण, अग्नि, गायत्री छन्द, त्रिधातु, त्रिवृत् आदि कहा गया है (देखो वैको० पृ० ५४४)।

४ द्यौ —यह क्रीडा, विजिगीषा, कान्ति, गति, मोद, मद, स्वप्न, व्यवहार, द्युति, स्तुति अर्थो म प्रयुक्त √ दिव् धातु स व्युत्पन्न किया गया है। ता० २०। १४। ४ म इसे √ द्युत् से व्युत्पन्न किया गया है। ब्राह्मणग्रन्थों ने इस प्रजापति द्वारा फैलाया हुआ, हरिणी (= सुवर्णमयी), प्राण, बृहत्, अश्नर पाक्त छन्द, विश्वकर्मा, वरुण, वैश्वानर, वाक् आदि कहा है।

५ पद्भ्याम्—ऊपर मन्त्र १२ म पद्भ्याम् पर टिप्पणी देख। यहा भी हेतु म पञ्चमी माना जा सकता है।

६ भूमि —भवतीति भूमि। सब कुछ का उत्पत्तिस्थान होन स पृथिवी भूमि कहलाता है। सब को जन्म आर सुख आदि प्राप्त कराने वाला होन के कारण वह पुरुष भूमि कहलाया।

७ दिश —√ दिश् से बनता है। प्रदर्शक, निर्देशक। ब्राह्मणग्रन्थों में स्वर्गलोक, नाक, अग्नि, विश्वेदेवा, ऋतुए, श्रोत्र, श्रवणशक्ति, छन्दस्, परिधिया, प्राण, समान, वैरूप साम आदि को 'दिश' कहा गया है। अत प्रकरण म इस का बहुवचन रूप कोई समस्या उत्पन्न नहा करता है। वैदिक पदों का योजना परम कृत्रिम है। व कवि के काव्य के पदों के समान नहा हैं। उन की योजना अनेक दृष्टियों को ध्यान में रख कर की गई है।

८ तथा लोकाँ अकल्पयन्—√ कल्प् का अर्थ ऊपर मन्त्र ११ में व्याख्यान करना, बताना, कल्पना करना निर्धारित किया जा चुका है। लोक पद √ लोक् देखना, प्रकाशित होना से बनता है। अतः प्रकाशित, प्रकाशमय, प्रकाशप्रद। अतः रूपक = स्वरूप = नाम। इसी आधार पर इस का अर्थ 'पक्ष' भी किया जा सकता है। पुरुष के विभिन्न नामों, पक्षों स्वरूपों का व्याख्यान ऊपर वर्णित रूप में किया।

९ ऊपर मन्त्र ११-१४ में सुझाए गए अर्थों के साथ-साथ इन मन्त्रों से पशु आदि की सृष्टि के समान जगत् के पदार्थों की सृष्टि और कर्मों की सृष्टि का बोध भी आलङ्कारिक शैली में होता है। वर्णन के क्रम में अव्यवस्था होने से यहां सृष्टिरचना का प्रकरण संग्रहकर्ता को मूलतः अभिप्रेत प्रतीत नहीं होता।

संहितापाठ	पदपाठ
१६, सप्तास्यासन् परिधयस् त्रिः सप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥	सप्त। अस्य। आसन्। परिऽधयः। त्रिः। सप्त। सम्ऽइधः। कृताः। देवाः। यत्। यज्ञम्। तन्वानाः। अबध्नन्। पुरुषम्। पशुम् ॥ १५ ॥

सायणभाष्यम्—अस्य सांकल्पिकयज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि परिधय आसन्। ऐष्टिकस्याहवनीयस्य त्रय परिधय उत्तरवेदिकास्त्रय आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः। अत एवाम्नायते—'न तस्य पुरस्तात् परिदधात्यादित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति" (तैत्ति० २।६।६।३) इति। तत्र एत आदित्यसहिताः सप्त परिधयोऽत्र सप्त छन्दोरूपाः। तथा समिधः त्रिः सप्त त्रिगुणीकृतसप्तसंख्याका एकविंशतिः कृताः। "द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश" (तैत्ति० ५।१।१०।२) इति श्रुताः पदार्था एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः। यत् य

पुरुषो नैरोनोऽस्ति त पुरुष देवा प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञ तन्वाना मानस यज्ञ तन्वाना कुर्वाणा पशुम् अबध्नन् विराट्पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्त । एतदेवाभिप्राय पूवत्र "य पुरुषेण हविषा" इत्युक्तम् ॥ १५ ॥

हिन्दी अनुवाद—[यद्] जब [देवा] देवों ने [यज्ञम्] (सृष्टि-) यज्ञ का [तन्वाना] विस्तार करत हुए [पुरुषम्] (विराज) पुरुष को [पशुम्] (हवि रूप) प्राण [अबध्नन्] बनाया (तब) [अस्य] इस यज्ञ की [परिधय] सीमाए [सप्त] सात [आसन्] थीं, (और) [समिध] सामधाए [त्रि सप्त] इक्कीस [कृता] बनाई गई ॥ १५ ॥

टिप्पणियां—१ सप्त परिधयं—परिधि—परि + √धा से । धारक, अत सीमा । ब्राह्मणग्रन्थों म दिशाओं और लोकों को पारधि कहा है । सा० ने १) गायत्री आदि सात छन्दों और २ आहवनीय की तीन पारधियों, तीन उत्तर वाल्काओं और आदित्य को पारधि बताया है । क्रमाभू० म दस० न ब्रह्माण्ड क एक क ऊपर एक क क्रम स स्थित १ समद्र २ त्रसरेणु सहित वायु ३ मेघमण्डलस्थ वायु ४ वृष्टिजल ५ वृष्टिजल क ऊपर वायु ६ अत्यन्त सूक्ष्म धनञ्जय और ७ सवत्र व्याप्त सूत्रात्मा—इन सात आवरकों को परिधि माना है । मै० न यज्ञाग्नि के चारों ओर रक्खी जाने वाली तीन हरी समिधाओं को *परिधि बताया है । सृष्टियज्ञ क वर्णन में दस० का अथ अधिक समीचीन है* सात छन्दों का भाव वाग्ब्रह्म स सृष्टि की उत्पत्ति म अधिक सगत होता है । वेद क कतिपय मन्त्रों म सृष्टिरचना स छन्दों का सम्बन्ध बताया गया है । (अथर्व० ४ । १९२ १०३, १७९ १८० देखें ।)

२ त्रि सप्त समिध —इक्कीस सामधाए । सा०—१२ मास, ५ ऋतुए, ३ लोक और आदित्य । दस०—इक्कीस पदार्थ (१ प्रकृति महत्, बुद्धि, अन्त करण और जीव का समुदाय, १० इन्द्रिय,—५ तन्मात्राए, और ५ भूत) रूप सामग्री । ऋभा० म यह पारगणन इस प्रकार किया है—१ प्रकृति, १ महत् १ अहंकार, ५ सूक्ष्म भूत, ५ स्थूल भूत, ५ ज्ञानेन्द्रिय, और ३ गुण-सत्त्व, रजस् और तमस् । ब्राह्मणग्रन्थों म प्राणों, वसन्त, गम और अस्थियों को समित् कहा गया है । तै० २ । १ । ३ । ८ क अनुसार यह पद सम् + √ दा (= बच्छ)

से बनता है। श० १। २। ३। ४४ में इसे सम् + √इन्ध् से व्युत्पन्न किया गया है।

(ii) ऋ० १। १६४। २५ में गायत्र की तीन समिधाएं बताई हैं। ऋ० ३।२।९ में परिमित यह अग्नि की तीन समिधाओं का वर्णन है। इन में से एक मृत्युलोक में स्थापित की गई है और दो ऊपर अन्तरिक्ष में। ऋ० १०। ५१। २ में अग्नि की समिधाओं को देवयानी कहा है। अथ० ५।२६।१ में यजुः ही समिधाएं हैं, ५।२९।१४ में अग्नि की समिधाएं पिशाचजम्भनी हैं, और १९।६४।४ में अग्नि समिधाओं से समित् बन कर अमर आयु देता है। अथ० ८। ९। १८ में समिधाओं की संख्या सात बताई है।

(iii) त्रि सप्त का प्रयोग भी एक समस्या है। ऋग्वेद में यह संख्या अग्नि के गुह्य पदों (१।७२।६), विस्फुलिंगकों (१।१९१।१२), सात मोर नियों (१।१९१।१४), अघ्न्या के नामों (७।८७।४), सोमपा का उपासकों (८।४६।२६), सप्ता के पद में मुखों (?) आदि (८।६९।७), गिरिओं की सानुओं (८। ९६। २), पूर्व्य व्योम में स्थ आशिर की दोहक धेनुओं (९। ७०। १, ८६। २१), नदियों (१०। ६४। ८) की संख्या की द्योतक है और अथ० १२। २। २९ में ऋषियों की संख्या की।

(iv) यहाँ पर सृष्टियज्ञ का वर्णन है। त्रि सप्त और समिध के ऊपर दिए गए वैदिक और ब्राह्मण के वर्णनों की दृष्टि में इन का भाव 'सृष्टिरचना को सम्पन्न करने वाले २१ पदार्थ या शक्तियां या कारण' लेना उचित होगा। इस दृष्टि से दया० का व्याख्यान हमारी सहायता करता है।

३ देवा —ऊपर मन्त्र ७ में देवा पर टिप्पणी देखें।

४ यज्ञम्—ऊपर मन्त्र ६, ७ में यज्ञम् पर टिप्पणी देखें। यह यज्ञ मानस भी माना गया है। अभिप्राय यह है कि विद्वान् लोग परम पुरुष का चिन्तन करते हैं (देखो ऋभाभू० पृ० १६३)।

५ तन्वाना —√तन् + शानच्। विस्तार करते हुए।

६ पशुम्—सा० आदि ने इस का अर्थ बलि का पशु ही समझा है, यह भिन्न बात है कि वह पशु 'पुरुष' है जो अस्थिमांस की देह वाला नहीं है। द०स० ने इसे √दृश धातु से मान कर इस का अर्थ 'सर्वद्रष्टा, सर्वपूजनीय और द्रष्टव्य' ग्रहण किया है। इस अर्थ की पुष्टि ब्राह्मणों के पशुपद के अर्थों से होती है जहां केवल गाय आदि को ही पशु नहीं कहा है प्रत्युत अग्नि, सविता, वैश्वदेव शास्त्र, दैवी विश्, सोम श्री, यश, शान्ति, पूषा, प्रजापति की कल्याणी तनू, अन्न, वाज, मेध, धान, इडा प्राण, आत्मा, यजमान वज्र, ग्रावन्, उक्थ ऊषा, स्वर, यज्ञ आदि को भी पशु कहा है।

संहितापाठ

३७.यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः
॥ १६ ॥

पदपाठ

यज्ञेन। यज्ञम्। अयजन्त।
देवाः। तानि। धर्माणि।
प्रथमानि। आसन्। ते। ह।
नाकम्। महिमानः। सचन्त।
यत्र। पूर्वे। साध्याः। सन्ति। देवाः
॥ १६ ॥

सायणभाष्यम्—पूर्वं प्रपञ्चेनोक्तमर्थं संक्षेपेणात्र दर्शयति। देवाः प्रजापतिप्राणरूपा यज्ञेन यथोक्तेन मानसेन सङ्कल्पेन यज्ञं यथोक्तयज्ञस्वरूपं प्रजापतिम् अयजन्त पूजितवन्तः। तस्मात् पूजनात् तानि प्रसिद्धानि धर्माणि जगद्रूपविकाराणां धारकाणि प्रथमानि मुख्यानि आसन्। एतावता सृष्टिप्रतिपादकसूक्तभागार्थः संगृहीतः। अथोपासनतत्फलानुवादकभागार्थः संगृह्यते। यत्र यस्मिन् विराट्प्राप्तिरूपे नाके पूर्वे साध्याः पुरातना विराडुपास्तिसाधका देवाः सन्ति तिष्ठन्ति तत् नाकं विराट्प्राप्तिरूपं स्वर्गं ते महिमानः तदुपासका महात्मानः सचन्त समवयन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ १६ ॥

हिन्दी अनुवाद—[देवाः] देवों ने [यज्ञेन] (पुरुषरूप) यज्ञमय (हवि) से [यज्ञम्] (सृष्टि—) यज्ञ का [अयजन्त] सम्पादन किया।

[तानि] वे [धर्माणि] नियम [प्रथमानि] प्रमुख [आसन्] हो गए। [ह] निश्चय से [ते] वे [महिमानः] (प्रमुख धर्म रूप) कीर्तियां [नाकम्] (उस) सुखमय (मोक्षस्थान) में [सचन्त] विद्यमान हैं [यत्र] जहां [पूर्वे] पुराने [साध्याः] सृष्टि के साधक [देवाः] देव [सन्ति] विद्यमान हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणियां—१. देवाः—सृष्टि की उत्पादक शक्तियाँ–पुरुष के मन में कामनारूपी यज्ञमय बीज, अप्रकेत सलिल आदि। सा०—प्रजापति के प्राण रूप देव।

२. यज्ञेन—सा०—मानस यज्ञ। दय०—ज्ञान यज्ञ (यभा०); स्तुति प्रार्थना उपासना आदि पूजन से (ऋभाभू०)। सूक्त के वर्णन से यह पद 'पुरुष' का निर्देश करता प्रतीत होता है। परन्तु यह पुरुष विराज् है या अव्याकृत परम पुरुष। विराज् तो यह सृष्टि ही है। पहले परम पुरुष को ही यज्ञ की हवि = सामग्री बनाया गया है। उसी से सब उत्पत्ति बताई गई है। यह उत्पत्ति 'विराटजायत' का व्याख्यान कही जा सकती है। अतः अनुवाद में इस का अर्थ 'पुरुष रूप यज्ञमय हविम्' किया गया है। पाउ० सूसं० १४ में यज्ञपद पर टिप्पणी भी देखें।

३. यज्ञम्—मैं०—जिस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में विष्णु को यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है वैसे ही यहां पुरुष को भी यज्ञ के रूप में कल्पित किया गया है। सा०—यज्ञस्वरूप प्रजापति। दय०—यजनीय पूजनीय परमेश्वर। इन दोनों ने अयजन्त को देवपूजा के अर्थ में लिया है। यद्यपि ये अर्थ अनुचित नहीं, तो भी प्रकरण की दृष्टि में यहाँ हिन्दी अनुवाद का अर्थ—सृष्टियज्ञ अधिक उपयुक्त रहेगा। √यज् धातु का अर्थ संगतिकरण भी होता है अतः अयजन्त = किया।

४. तानि—इस में पूर्व पाद—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' में वर्णित धर्मों = नियमों की ओर ही निर्देश माना जा सकता है। सा० ने 'प्रसिद्ध जगद्रूप विकारों के धारक धर्म' लिख कर इस भाव का प्रकाशन किया है। पाद १ में

ये धर्म केवल 'देवा' पद से ही निर्दिष्ट माने जा सकते हैं। दस० ने तानि में अयजन्त क भाव का निर्देश माना है।

५ धर्माणि—सा०—धारक। दस०—धारणात्मक (यमा०) करने योग्य (ऋभाभू० १६४)। यह प०√धृ से बनता है। अत धारक नियम, शक्तियाँ आदि।

६ प्रथमानि—√प्रथ् से। अत विस्तृत, प्रमुख। दस०—१ अनादि भूत मुख्य। २ सब कर्मों क आदि म करने योग्य (ऋभाभू०)। पहला अर्थ अधिक सगत है।

७ नाकम्—सा०—विराट् प्राप्ति रूप स्वर्ग। दस०—१ दुःखविहीन मुक्तिसुख २ सवदु खरहित परमेश्वर।

८ महिमान—सा०—प्रजापति क उपासक महात्मा जन। दस०—महत्त्व से युक्त। विद्वान्, पूज्य। मै०—सभवत यज्ञ म निहित शक्तियाँ।

(ii) यह पद√मह् से बनता है। अत पूजनीय, महान्। इस का विशेषण पद 'त' पूर्वपादस्थ तानि का ही निर्देशक हो सकता है। अत हिन्दी अनुवाद म ऊपर वर्णित 'प्रमुख धर्म रूप कीर्तियाँ' अर्थ ग्रहण किया गया है।

९ सचन्त—√सच् से लङ् प्रथम पु० बहुवचन का अट् से हीन रूप। प्राप्त होती हैं, मिलती हैं, विद्यमान हैं।

१० यत्र—सा०—विराट्प्राप्ति रूप स्वर्ग। दस०—मोक्ष। यह पूर्वपादस्थ 'नाकम्' की ओर सकेत करता है।

११ पूर्वे साध्या देवा—सा०—पुरातन विराट् की उपासना क साधक देवता। दस०—साधनों से युक्त (योग-) साधन कर लेने वाले प्राचीन देदीप्यमान विद्वान्। मै०—प्राचीन साध्य, देवता। ऊपर मन्त्र ७ में साध्या पर टिप्पणी भी देखें। यह पद √ साध् से बनता है। अत साधक। इसे 'देवा' से पृथक् लेने के लिए मन्त्र में कोई समुच्चय बोधक पद नहीं है। अत इसे 'देवा' का विशेषण बनाया गया है।

संहितापाठः

२८.

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥
य० ३१।१७ ॥

पदपाठः

अद्भ्यऽइत्यत्ऽभ्यः । सम्भृतऽइति सम्ऽभृतः । पृथिव्यै । रसात् । च । विश्वकर्मणऽ इति विश्वऽकर्मणः । सम् । अवर्त्तत । अग्रे । तस्य । त्वष्टा । विदधदिति विऽदधत् । रूपम् । एति । तत् । मर्त्यस्य । देवत्वमिति देवऽत्वम् । आजानमित्याऽजानम् । अग्रे ॥
य० ३१।१७ ॥

महीधरभाष्यम्—"अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थाय" (१।३।६।२।२०) इति षट् कण्डिका उत्तरनारायणम् । उपान्त्ये द्वे अनुष्टुभौ शेषास्त्रिष्टुभआदित्यदेवत्याः । पूर्वकल्पे पुरुषमेधयाजी आदित्यरूपं प्राप्तः स्तूयते ॥

अद्भ्यो जलात् पृथिव्याः सकाशाच्च । पृथिव्यपां ग्रहणं भूतपञ्चकोपलक्षकम् । भूतपञ्चकाद् यो रसः सम्भृतः पुष्टः । तथा विश्वं कर्म यस्य विश्वकर्मणः कालस्य रसात् प्रीतेर्यो रसोऽग्रे प्रथमं समवर्तत समभवत् । भूतपञ्चकस्य कालस्य च सर्वं प्रति कारणत्वात् पुरुषमेधयाजिनो लिङ्गशरीरे पञ्च भूतानि तुष्टानि कालश्च । ततस्तुष्टेभ्यः कश्चिद्रसविशेषफलस्य उत्तमजन्मप्रद उत्पन्न इत्यर्थः । तस्य रसस्य रूपं विदधद् धारयंस्त्वष्टादित्य एति प्रत्यहमुदयं करोति । अग्रे प्रथमं मर्त्यस्य मनुष्यस्य सतस्तस्य पुरुषमेधयाजिन आजानदेवत्वं मुख्यं देवत्वं सूर्यरूपेण । द्विविधा देवाः कर्मदेवा आजानदेवाश्च । कर्मणोत्कृष्टेन देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः । सृष्ट्यादावुत्पन्ना आजानदेवाः । ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः—"ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः" (बृ० ४।३।३३) इति श्रुतेः सूर्यादय आजानदेवाः ॥ १७ ॥

हिन्दी अनुवाद—[च] और [पृथिव्यै] सुविस्तृत सृष्टि (रचना) के लिए [अद्भ्य] (आदिकारण) जलों से [सम्भृत] निकाले हुए [विश्व कर्मण] समस्त (रचना रूप) कर्म में समर्थ [रसात्] सार से [अग्रे] सृष्टिरचना के समय [समवर्तत] (यह सृष्टि) उत्पन्न हुई। [त्वष्टा] सृजक पुरुष [तस्य] उस (दृश्यमान जगत्) को [रूपम्] रूप [विदधत्] देते हुए [एति] (सर्वत्र) पहुँचा हुआ है। [अग्रे] आरम्भ से [तत्] वह ही [मर्त्यस्य] मरणशील प्राणियों में [आजानम्] सब ओर से (समस्त कर्तव्य कर्मों आदि का) उत्पादक [देवत्वम्] दिव्य गुण (है) ॥ १७ ॥

टिप्पणियां—**१ अद्भ्य सम्भृत पृथिव्यै०**—भाष्यकारों का इस मन्त्र का व्याख्यान इस प्रकार है—द्र०—पृथिवी की उत्पत्ति के लिए जलों से रस निकाल कर पृथिवी बनाई। इन्हों ने इसे उपलक्षण मान कर जल आदि की सृष्टि का व्याख्यान किया है। विश्वकर्मा परमेश्वर है जिस के सामर्थ्य में कारण रूप जगत् कार्यरूप जगत् से भी पहले विद्यमान रहता है। उसी कारणरूप जगत् के अंशों से सृष्टिरचयिता इस जगत् को रचता है। सृष्टि के आदि में वह मनुष्यों को अपने कर्मों से सुख प्राप्त करने के लिए वेद की आज्ञा देता है (–देवत्वमाजानमग्रे) (ऋभाभू०)।

(ii) उवट—जलों और पृथिवी के रस से उत्पन्न विश्वकर्मा से पूर्व संयोग रूप में विद्यमान प्रजापति अपने एकांश रूप मर्त्यलोक में प्राप्त प्रभु है। मही०—जल और पृथिवी आदि पाँच भूतों और काल के रस को धारण करता हुआ सूर्य प्रतिदिन उदय होता है। वह आजान देव=मुख्य देव है।

(iii) उवट और महीधर ने पृथिव्यै को पञ्चम्यर्थ में चतुर्थी माना है। हिन्दी अनुवाद के अनुसार ऐसा मानना अनावश्यक है। यहाँ पर तादर्थ्ये चतुर्थी का प्रयोग है। पृथिवी पद √ प्रथ् से बनता है। अद्भ्य को सब भाष्यकारों ने पाँच भूतों का द्योतक माना है। यदि इन जलों को आदिकारण 'सलिल' मान लें तो इसे उपलक्षण मानने की आवश्यकता न रहेगा। सम्भृत का रसात् से सम्बन्ध सीधा और स्वाभाविक है। अतः इसे पञ्चम्यन्त लिया गया है। इसे प्रथमान्त मान कर भाष्यकारों की योजना क्लिष्ट है।

२ विश्वकर्मण —व्युत्पत्ति और मूल अर्थ में तो सब भाष्यकारों का एक मत है, परन्तु व्याख्यान में भेद है। वे सब इसे स्वतन्त्र विशेष्य पद मानते हैं। परन्तु प्रकरण और मन्त्र की रचना में यह रसात् का विशेषण और पञ्चम्यन्त मालूम पड़ता है।

३ त्वष्टा—भाष्यकारों ने इस का अर्थ सूर्य किया है। परन्तु यहा पुरुष रूप सामग्री से सृष्टि की रचना का वर्णन किया गया है। अत सूर्य अर्थ अप्रासगिक है।

४ सत्—तु० क०—एक सत् (ऋ० ११६४।४६) और तदेकम् (ऋ० १०।१२९।२)।

५ आजानम्—महो०—आजान श्रेणी के अर्थात् प्रमुख श्रेष्ठ देवता। दरा०—समन्ताज्जनाना मनुष्याणामिद कर्त्तव्य कर्म—आ+जन से। हिन्दी अनुवाद में इसे आ+√जन् (आ समन्तात् जनयति कारयति कर्माणि) से लिया गया है।

६ तस्य—√तन् से तद् शब्द का षष्ठ्यन्त रूप। सामान्यत यह निर्देशक सर्वनाम क रूप में आता है। यहा यह 'पृथिव्यै' पद से सकतित सृष्टि रचना का द्योतक है। इसे म०वंस्य के साथ भी जोड़ा जा सकता है।

संहितापाठ	पदपाठ
३६. वेदा॒हमे॒तं पुरु॑षं म॒हान्त॑मादि॒त्यव॑र्णं॒ तम॑सः प॒रस्ता॑त्। तमे॒व वि॑दि॒त्वाति॑ मृ॒त्युमे॑ति॒ नान्यः पन्था॑ विद्य॒तेऽय॑नाय ॥ य० ३१। १८॥	वेद॑। अ॒हम्। ए॒तम्। पुरु॑षम्। म॒हान्त॑म्। आ॒दि॒त्यव॑र्ण॒मित्या॑दि॒त्यऽव॑र्णम्। तम॑सः। प॒रस्ता॑त्। तम्। ए॒व। वि॒दि॒त्वा। अति॑। मृ॒त्युम्। ए॒ति॒। न। अ॒न्यः। पन्थाः॑। वि॒द्य॒ते॒। अय॑नाय॥ य० ३१। १८॥

महीधरभाष्यम्—एतं महान्तं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं सूर्यमण्डलस्थमहं वेद जानामीति ऋषेर्वचनम्। कीदृशम्? आदित्यवर्णमादित्यस्येव वर्णो यस्य तम्। उपमान्तराभावात् स्वोपमम्। तथा तमसः परस्ताद् दूरतरम्। तमोरहितमित्यर्थः। तमःशब्देनाविद्योच्यते। तमेवादित्यं विदित्वा ज्ञात्वा मृत्युमत्येत्यतिक्रामति परं ब्रह्म गच्छति। अयनायाश्रयायान्यः पन्था मार्गो न विद्यते। सूर्यमण्डलान्तःपुरुषमात्मरूपं ज्ञात्वैव मुक्तिः॥ १८॥

हिन्दी अनुवाद—[अहम्] मैं [एतम्] इस (ऊपर वर्णित) [महान्तम्] महान् [आदित्यवर्णम्] सूर्य के समान तेज वाले [तमसः] अन्धकार के [परस्तात्] परे [पुरुषम्] पुरुष को [वेद] जानता हूं। [तम्] उस [एव] ही [विदित्वा] जान कर [मृत्युम्] मृत्यु को [अति एति] पार कर जाते हैं। [अयनाय] मोक्ष के लिए [अन्यः] दूसरा कोई [पन्था] मार्ग [न विद्यते] नहीं है।

टिप्पणियां—एतं पुरुषम्—महो०—सूर्यमण्डलस्थ पुरुष। उव्व, दम०—परमेश्वर। यह अर्थ ही प्रकरणोचित है क्योंकि एतम् में पूर्व मन्त्रों में वर्णित पुरुष की ओर निर्देश है।

२ आदित्यवर्णम्—वर्ण–√वृ से व्युत्पन्न होने के कारण 'तेज' का पर्याय माना जा सकता है। रंग भी पदार्थों का स्वरूप = तेज ही है। ज्ञात पदार्थों में आदित्य का तेज ही सर्वाधिक होता है। यह पद आदिति (न + √दो अवखण्डने से) का तद्धितप्रत्ययान्त रूप है। अतः तेज की अनिवार्यता, अखण्डता और सातत्य का भी द्योतक है। दम० ने इस का अर्थ 'स्वप्रकाश विज्ञानस्वरूप' दिया है।

३ तमसः—यह अन्धकार, अज्ञान, सांसारिक बन्धन और दुःख आदि का है।

४ अयनाय—महो०—आश्रय शरण के लिए। दम०—१ व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख के लिए (ऋभाभू०)। २ अभीष्ट स्थान प्राप्ति के लिए।

संहितापाठ	पदपाठ
४०. प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तरजायमानो बहुधा वि जायते । तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥	प्रजापतिरिति प्रजाऽपतिः । चरति । गर्भे । अन्तः । अजायमानः । बहुधा । वि । जायते । तस्य । योनिम् । परि । पश्यन्ति । धीराः । तस्मिन् । ह । तस्थुः । भुवनानि । विश्वा ॥
य० ३१।१९ ॥	य० ३१।१९ ॥

महीधरभाष्यम्—य सर्वात्मा प्रजापतिरन्तर्हृदि स्थित सन् गर्भे चरति गर्भमध्ये प्रविशति । यश्चाजायमानोऽनुत्पद्यमानो नित्य सन् बहुधा कार्यकारणरूपेण विजायते मायया प्रपञ्चरूपेणोत्पद्यते । धीरा ब्रह्मविदस्तस्य प्रजापतेर्योनिं स्थान स्वरूप परिपश्यन्ति । "अहं ब्रह्मास्मि" इति जानन्ति । विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनानि भूतजातानि तस्मिन् ह तस्मिन्नेव कारणात्मनि ब्रह्मणि तस्थु स्थितानि । सर्वं तदात्मकमे वेत्यर्थ ॥ १९ ॥

हिन्दी अनुवाद—[प्रजापति] पुरुष ही [गर्भे अन्त] उत्पन्न वस्तुओं के अन्दर [चरति] विचरण करता है । [अजायमान] उत्पन्न न होने पर (भी) [बहुधा] अनेक प्रकार से विविध रूपों में [जायते] उत्पन्न होता है । [धीरा] धैर्यशाली जन [तस्य] उस के [योनिम्] (जगत् के उपादान) स्वरूप को [परिपश्यन्ति] देखते हैं । [ह] अवश्यमेव [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] पदार्थ [तस्मिन्] उस में [तस्थु] स्थित हैं ॥

टिप्पणियां—१ गर्भे अन्त —मही० और दया० (यभा०) ने इस का अर्थ 'गर्भस्थ जीवों के अन्दर' लिया है । पिछले समस्त वर्णन में पुरुष को सर्वव्यापक और समस्त उत्पन्न पदार्थों की सामग्री बताया गया है । वही सर्वव्यापकता यहां अभिप्रेत प्रतीत होती है । ऋभामू० पृ० १६७ भी देखें ।

२ बहुधा विजायते—महीо—कार्य रूप में उत्पन्न होता है। दसо—उस परमेश्वर की सामर्थ्य से अनेक प्रकार से विशेष रूप में उत्पन्न होता है। इन्हों ने इसे जगत् से सम्बद्ध किया है।

संहितापाठ	पदपाठ
४१. यो देवेभ्य॑ ऽ आतपति॒ यो देवानां॑ पुरोहि॑तः। पूर्वो॒ यो दे॒वेभ्यो॑ जातो॒ नमो॑ रुचाय॒ ब्राह्म॑ये ॥ य० ३१। २०॥	यः। दे॒वेभ्यः॑। आतपती॒त्या॒ऽतप॑ति। यः। दे॒वाना॑म्। पु॒रोहि॑त॒ ऽ इति॑ पु॒रः ऽ हि॑तः। पूर्वः॑। यः। दे॒वेभ्यः॑। जा॒तः। नमः॑। रु॒चाये॑। ब्राह्म॑ये ॥ य० ३१। २०॥

महीधरभाष्यम्—य प्रजापतिरादित्यरूपो देवेभ्योऽर्थायातपति द्योतते। यश्च देवाना पुरोहित सर्वकार्येष्वग्रे नीत। यश्च देवेभ्य सका शात् पूर्वो जात प्रथममुत्पन्नस्तस्मा आदित्याय नम। कीदृशाय ? रोचतेऽसौ रुचस्तस्मे दीप्यमानाय। 'इगुपध'—(पा० ३। १। १३०) इति कप्रत्यय। तथा ब्राह्मये ब्राह्मणोऽपत्य ब्राह्मि। इञि टिलोप। ब्रह्मापत्य भूताय वा ॥ २०॥

हिन्दी अनुवाद—[य] जो [देवेभ्य] देवों के लिए [आ तपति] श्रम और तप करता है, [य] जो [देवानाम्] देवों में [पुरोहित] अग्रगण्य है, [य] जो [देवेभ्य] देवों से [पूर्व] पहले [जात] विद्यमान था, (उस) [रुचाय] तेजस्वी प्रकाशमय [ब्राह्मये] ब्रह्म के स्वरूप के लिये [नम] नमस्कार है ॥

टिप्पणियां—१, देवेभ्य —महीо—देवताओं के लिए। दसо—विद्वानों के लिए। यदि इस का अर्थ 'समस्त प्रकाशमान पदार्थ' किया जाए तो मूल भाव के अधिक समीप रहेगा। समस्त पदार्थों में प्रजापति की ही ज्योति है। ममाо में दसо ने यही अर्थ लिया है।

२ पुरोहित—महो०—सब कामों में आगे स्थित हुआ। दस०—१. विद्वानों को मोक्ष में सर्वसुखों से युक्त करने वाला। २. पहले से ही हित के लिए (पदार्थों के) बीच में स्थित—सूर्य का विशेषण मानते हैं। उव्व०—इन्द्र रूप में देवों के आगे वर्तमान।

३ नमो रुचाय ब्राह्मये—महो०—दीप्यमान ब्रह्म के पुत्र या अपत्य आदित्य के लिए प्रणाम। दस०—१. रुचिकर ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ता के लिए प्रणाम (ऋभाभू०), २ रुचि कराने वाले परमेश्वर की सन्तान के तुल्य सूर्य से अन्न (=नम) उत्पन्न होता है।

(ii) मन्त्रस्थ 'य' से पिछले मन्त्र में प्रजापति का परामर्श होता है। सूर्य का वर्णन अप्रासंगिक है। अतः हिन्दी अनुवाद। ब्रह्म स्वरूपमित ब्राह्मि, तस्मै।

संहितापाठ	पदपाठ
४२. रुचं ब्राह्मं जनयन्तो	रुचम्। ब्राह्मम्। जनयन्तः।
देवाऽअग्रे तदब्रुवन्।	देवाः। अग्रे। तत्। अब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्	यः। त्वा। एवम्। ब्राह्मणः। विद्यात्।
तस्य देवाऽअसन्वशे॥	तस्य। देवाः। असन्। वशे।
य० ३१। २१॥	य० ३१। २१॥

महीधरभाष्यम्—देवा दीप्यमाना प्राणा रुचं शोभनं ब्राह्मं ब्रह्मणो ऽपत्यमादित्यं जनयन्त उत्पादयन्तोऽग्रे प्रथमं तद् वचोऽब्रुवन् ऊचुः। 'ब्राह्मोऽजातौ' (पा० ६। ४। १७१) इति निपातः। तत्किमत आह। यो ब्राह्मणो, हे आदित्य, त्वा त्वामेवमुक्तविधिनोपास्य विद्याज्जानीयात् तस्य ब्राह्मणस्य देवा वशे असन् वश्या भवन्ति। आदित्योपासिता जगत्पूज्यो भवतीत्यर्थः॥ २१॥

हिन्दी अनुवाद—[रुचम्] प्रकाशमान रुचिकर [ब्राह्मम्] ब्रह्म, ज्ञान और प्रकृति के स्वरूप के ज्ञान को [जनयन्त] प्राप्त करने वाले [देवा]

देव पु०प [सत्] उस (ब्रह्म जीव प्रकृति के स्वरूप के ज्ञान) को [अग्रे] श्रेष्ठ [देवा] देवपुरुष [अनुवन्] व्याख्यान करते आए हैं। [य] जो [ब्राह्मण] मनुष्य [त्वा] सेवन करने योग्य [एवम्] इस प्रकार प्राप्त ज्ञान को [विद्यात्] जान ले [देवा] देव पुरुष [अस्य] उस की [वशे] कामना में रहते हैं ॥

टिप्पणियां—१ ब्राह्मम्—ब्रह्मण इद (स्वरूपम्) । ब्रह्म √बृह् से बनता है। ब्राह्मणग्रन्थों में ब्रह्म के वाक्, सत्य, ऋत, मन, हृदय, चक्षु, श्रोत्र, प्रणव, प्रजापति, बृहस्पति, आदित्य, अग्नि, यज्ञ, प्राण विद्युत्, पशु, पलाश, सब, अन्त रिक्ष आदि अर्थ दिए हैं। अत यह पद जीव, प्रकृति और पुरुष तीनों का वाचक है। मही० ने इस का अर्थ आदित्य और दस० ने ब्रह्मोपासक किया है।

२ देवा —मही०—दीप्यमान प्राण। उवट—तेजस्वी योगी। दस० —विद्वान्।

३ तत्—यह ब्राह्मम् के लिए आया है। दस०—ब्रह्म, जीव और प्रकृति का स्वरूप।

४ अग्रे—पहले। उ० २। २८ में इस की व्युत्पत्ति अगति गच्छति इति अग्रम् —√ गम् जाना से दी गई है। अत गतिशील, अग्रगामी, श्रेष्ठ। उ० २।२८ पर दभा० भी देखें। दभा० में '०अग्रे०' पाठ है। अन्यत्र '०अग्रे०' पाठ है

५ ब्राह्मण —शौन ३।२।१४० में कहा है—तस्मादपि (दीक्षित) राजन्य वा वैश्य वा ब्राह्मण इत्येव ब्रूयाद् ब्रह्मणो हि जायते यो यज्ञाज्जायते। इस के अनुसार तीनों वर्ण ब्राह्मण हैं। इस की पुष्टि शतपथब्राह्मण में उपनयनविधि के वर्णन में मनुष्य मात्र के लिए ब्राह्मण पद के प्रयोग से होती है। ऐ० ७।१९ में हुतादु प्रजा को ब्राह्मण कहा गया है। श० १३।४।१।३ में प्रत्येक हवन करने वाला ब्राह्मण होता है। दस० ने ऋभाभू० में (हिन्दी) में ब्राह्मण का अर्थ 'मनुष्य' ही किया है। पितृममीमांसा में प० मधुसूदन शर्मा भी यही मानते हैं।

६ त्वा—यह युष्मद् का अन्वादेश रूप है। युष्मद् √ युष् सेवा करना से बनता है। अत सेवनीय।

७ देवा असन् वशे—मही०—देवता वश में हो जाते हैं, वह पूजनीय हो जाता है। दस०—इन्द्रियां वश में हो जाती हैं। यभा० में 'देवा' का अर्थ विद्वान् लिया गया है।

८ 'वशे'—को √वश् कामना करना से। अतः कामनाओं के वशीभूत होना, अनुकूल होना। देखो सदस्पती०।

९ असत्—√अस्+लङ् प्रथम पु० बहुवचन। अडागम का लोप है।

१० एवम्—भाष्यकारों ने इस का अर्थ 'इस प्रकार' किया है। यह √इ जाना से बनता है। अतः गति, प्राप्ति और ज्ञान का द्योतक हो कर 'इस प्रकार प्राप्त ज्ञान' अर्थ को प्रकाशित कर रहा है।

संहितापाठ	पदपाठ
४३. श्रीश्च॑ ते॒ लक्ष्मीश्च॒ पत्न्या॑वहोरा॒त्रे पा॒र्श्वे नक्ष॑त्राणि रू॒पम॒श्विनौ॒ व्यात्त॑म्। इ॒ष्णन्नि॑षाणा॒मुं म॑ऽइषाण सर्वलो॒कं म॑ इषाण॥ य० ३१।२२॥	श्रीः। च॒। ते॒। ल॒क्ष्मीः। च॒। पत्न्यौ॑। अ॒होरा॒त्रेऽइत्य॑हःऽरा॒त्रे। पा॒र्श्वेऽइति॑ पा॒र्श्वे। नक्ष॑त्राणि। रू॒पम्। अ॒श्विनौ॑। व्यात्त॒मिति॑ वि॒ऽआत्त॑म्। इ॒ष्णन्। इ॒षा॒ण॒। अ॒मुम्। मे॒। इ॒षा॒ण॒। स॒र्व॒लो॒कमिति॑ सर्व॑ऽलो॒कम्। मे॒। इ॒षा॒ण॒॥ य०३१।२२॥

महीधरभाष्यम्—ऋषिरादित्यं स्तुत्वा प्रार्थयते। हे आदित्य, श्रीर्लक्ष्मीश्च ते तव पत्न्यौ जायास्थानीये, त्वद्वश्ये इत्यर्थः। यया सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः। श्रीयतेऽनया श्रीः सम्पदित्यर्थः। यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मीः। सौन्दर्यमित्यर्थः। अहोरात्रे तव पार्श्वे पार्श्वस्थानीये। नक्षत्राणि गगनगास्तारास्तव रूपम्। तवैव तेजसा भासमानत्वात्—"तेजसा गोलकः सूर्यो नक्षत्राण्यम्बुगोलकाः" इति ज्योतिःशास्त्रोक्तेः। "अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ। इमे हीदꣳ सर्वमश्नुवाताम्" इति श्रुतेः। यः ईदृशस्तं त्वा याचे इष्णन् कर्मफलमिच्छन् सन्। इषाणेच्छ। 'इषु इच्छायाम्' विकरणव्यत्ययः। यद्वा 'इष आभीक्ष्ण्ये' क्र्यादिः। अर्थेच्छार्थः। निमिषणीय तत्राह। अमुं पर

लोक में ममेषाण मम परलोक समीचीनोऽस्त्वितीच्छा । अमीषेच्छ त्यादिष्ट भवतीत्यर्थ । सर्वं मे ममेषाण सर्वलोकात्मकोऽह भवेयमितीच्छे त्यर्थ । मुक्तो भवेयमित्यर्थ । "सर्वं खल्विद ब्रह्म" (छान्दोग्योप० ३।१४।१) इति सामश्रुत ॥

श्र मन्महाधरकृत वदाथ मनाहरे ।
नरमधाध्याय एप एकर्निशोऽयमारित ॥

हिन्दी अनुवाद—[च] आर [श्री] शोभा [च] आर [लक्ष्मी] सम्पन्नता [ते] तुम्हारी [पत्न्यौ] शक्तिया (हैं) [अहोरात्रे] दिन आर रात [पार्श्वे] पकडने वाला (अथात्—नाशक शक्तिया) (हैं), [नक्षत्राणि] न त्र [रूपम्] तन (ह) [अश्विनौ] आदवदवता (द्युलोक आर पृथवालोक) [व्यात्तम्] विस्तार (हैं) । [इष्णन्] (कल्याण करन क) इच्छुक [इषाण] (मरा कल्याण) चाह । [मे] मर लिए [अमुम्] उस (नागहान परोक्ष सुख) को [इषाण] दें । [मे] मुझ [सर्वलोकम्] समस्त प्रकाश [इषाण] प्रदान कर ॥ २२ ॥

टिप्पणियां—१ पत्न्यौ—आग्न, वरुण आदि का जो पत्निया बताई गई हैं वे उन की शक्तिया है । लोक म भी अनुभव किया जाता है कि अनुकूल पत्नी सहायक, विस्तारक शक्ति होती है और प्रतिकूल पत्नी ह्रास, निराशा, अवनति आद लाने वाली शक्ति होती है । यह शब्द यज्ञसयोग म पति शब्द से नङ् लगा कर बनाया जाता है । अत यहा यज्ञशील परोपकाररत स्वक शक्तिया' भाव होता है ।

२ पार्श्वे—यह पद $\sqrt{}$ स्पृश् छूना स बनता है । छूने—पकडन वाला, रुकावट डालने वाला, अत नाशक शक्तिया ।

३ अश्विनौ —ब्राह्मणग्रन्थो में इस का अर्थ द्यावापृथिवी भा दिया गया है । पाउ० म सूक्त० ६१ में अश्विना पर टिप्पणी देखें ।

४ व्यात्तम्—वि + आ + $\sqrt{}$ दा + क्त । विशेष रूप से चारों ओर स ग्रहण करने वाला, अर्थात् सब ओर फैला हुआ, खुला हुआ ।

श्रीयुत ला० रामस्वरूप गुप्त और श्रीमती चन्दन देवी के पुत्र,
श्रीयुत डा० नरेन्द्रनाथ चौधुरी के शिष्य, श्रीयुत डा०
फतहसिंह के शोधशिष्य आचार्य डा० सुधीरकुमार
गुप्त एम० ए०, पीएच० डी०, शास्त्री
प्रभाकर स्वर्णपदकी द्वारा सम्पादित,
सकलित और रचित वेदलावण्य
मे विष्णु, इन्द्र और पुरुष
सूक्तो का शाब्दिक
हिन्दी अनुवाद और सुप्रकाशिनी टिप्पणिया समाप्त हुई ।



परिशिष्ट १

संहितापाठ से पदपाठ

पदपाठ का स्वरूप

१. पदपाठ को वेदमन्त्रों का व्याख्यान कहा जा सकता है। इस के रचयिता शाकल्य की एक दृष्टि है जिस के अनुसार व पदच्छेद करते हैं, इति और अवग्रह लगाते हैं। पदकार क अर्थों को जानना सम्भव नहीं है। वे अनुमान का विषय ही कहे जा सकते हैं। अत पिछले भाष्यकारों ने अनेक बार शाकल्य के पदच्छेद को स्वीकार न कर क अपना पदच्छेद दिया है[1]। अनेक बार 'इति' और 'अवग्रह' क प्रयोग में नियमों की उपेक्षा की जाती है[2]। ऐसे कतिपय स्थलों पर एक से अधिक पदच्छेद सम्भव हैं, यथा चन्द्रमा[3]। शाकल्य क अतिरिक्त रावण और दयानन्द स्वामी क भी पदपाठ मिलते हैं।

संहितापाठ से पदपाठ लिखना

२. संहिता पदों से बनता है—पदप्रकृति संहिता अत पदों का ज्ञान परम आवश्यक है। इसी निमित्त पदपाठ किया जाता है। संहितापाठ में एक अर्धर्च में सब पद एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उन का एक दूसरे पर प्रभाव रहता है। उन म सन्धि क कारण स्वर और रूप म परिवर्तन हो जाता है। पदपाठ में इन सब पारस्परिक प्रभावों को दूर कर दिया जाता है। प्रत्येक पद को स्वतन्त्र रूप म दूसरे पदों से पृथक् पूर्ण विराम लगा कर अथवा पूर्ण विराम के बिना ही दिखाया जाता है।

---

१ वेभाप० ९। ४–७, २९। ४, ६–२५ और उन में निर्दिष्ट परिशिष्ट।

२ वही, ९। १२–१६।

३ मस०–३४ में इस पद पर टिप्पणी देखें।

पारस्परिक प्रभाव से उत्पन्न स्वरों के परिवर्तन को दूर कर दिया जाता है, प्रगृह्यों के आगे 'इति' लगा दी जाती है और समासों, प्रकृति-प्रत्यय और उपसर्गों और क्रियाओं आदि के कतिपय स्थलों पर अवग्रह (ऽ) लगा दिया जाता है।

३. उदाहरण के लिए—

१. येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि। (ऋ० २।१२।४)
२. श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमादत्। (ऋ० २।१२।४)
३. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते। (ऋ० २।१२।८)

इन तीन मन्त्रभागों को लें। इन का पदपाठ इस प्रकार है—

१. येन। इमा। विश्वा। च्यवना कृतानि।
२. श्वघ्नी ऽइव। यः। जिगीवान्। लक्षम्। आदत्।
३. यम्। क्रन्दसी इति। संयती इति सम्ऽयती। विह्वयेते इति विऽह्वयेते।

४. इन में ये परिवर्तन किए गए हैं—

(१) 'येनेमा' में सन्धिच्छेद किया गया है। सन्धि के कारण यहा दो अनुदात्त वर्ण मिल गये थे। उन में से एक 'ये' उदात्त पहले आने के कारण स्वरित हो गया। अन्य पदों को भी पूर्णविराम लगा कर पृथक् कर दिया है। संहिता में 'श्वा' अनुदात्त दो उदात्तों के बीच में आने से स्वरित नहीं हुआ है। पदपाठ में अगला 'च्य' उदात्त सामने नहीं रहता है। अतः 'वि' उदात्त के कारण पद-पाठ में यह 'श्वा' स्वरित के रूप में लिखा गया है

(२) इस में पदों को पृथक् करते हुए श्वघ्नी और इव के बीच में अवग्रह लगाया है। इस में तथा जिगीवाँ लक्षम् में सन्धि छिन्न कर दी गई है। घ्नीव में सन्धि से उदात्त और अनुदात्त मिल कर एक उदात्त हो गया था। अब वे पृथक् हो गए—(ई + इ = ई ई) श्वघ्नीऽइव। अतः 'इ' स्वरित हो गई है। संहिता में 'यो' उदात्त के कारण 'जि' अनुदात्त स्वरित हो गया था। पदपाठ में दोनों के पृथक् हो जाने से 'जि' अपने मूल अनुदात्त रूप में दिखाया गया है।

(३) इस में पदों को पृथक् करने के साथ-साथ द्विवचन के ई और ए के पश्चात् 'इति' लगाई है, तथा उस के पश्चात् पद को आवृत्त कर के अवग्रह

लगाया गया है। स्वर में ये परिवर्तन किए गए हैं—'स्मो' संहिता में स्वरित 'न्द' के पश्चात् आने से अचिह्नित था, पदपाठ में 'इति' का 'इ' उदात्त सामने आने से अपने चिह्न से चिह्नित कर दिया गया है। संहिता में 'सम्' अनुदात्त 'न्द' स्वरित के पश्चात् आने से अचिह्नित था। पदपाठ में यह प्रभाव दूर हो जाने से वह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है।

पदपाठ लिखने के नियम

५. (१) संहिता पाठ की सन्धियां तोड़ते हुए प्रत्येक पद के आगे पूर्ण विराम लगा-लगा कर उन्हें स्वर के चिह्नों के बिना पृथक् पृथक् लिख लो। साथ ही जहां-जहां संहिता में दीर्घ हुआ है, वहां-वहां उसे ह्रस्व कर दो—जैसे, यं स्मा = यम्। स्म।

(२) इति और अवग्रह लगाने के आगे लिखे स्थलों पर इति और अवग्रह लगा दो।

(३) जिस पद में इति और अवग्रह दोनों को लगाने को आवश्यकता हो उस में पहले इति लगा दो, फिर उसे पुनः लिख कर अवग्रह लगा दो (ऊपर उदाहरण संख्या ३ देखें)।

(४) कुछ और अन्य स्थलों में भी इति लगा कर पद को पुनः लिखा[1] जाता है। जैसे अकुरित्यक (ऋ० २।१२।४) ऐसे स्थलों पर भी पद को पुनः लिख लो। इस संग्रह में ऐसा स्थल केवल यही है।

(५.) सब से पहले अपनी लगाई 'इति' पर स्वर का चिह्न लगाएँ जो 'इति' है।

(६.) अब प्रत्येक पद में स्वर लगाएँ। उस में ये बातें ध्यान में रखें—

(i) पहले पद के उदात्त के कारण अगले पद में यदि स्वरित हुआ है तो स्वरित को अनुदात्त कर दो—यो जिगीवान् = यः। जिगीवान्।

---

१. कई बार इस प्रकार की पुनरावृत्ति नहीं की जाती है।

(ii) पहले पद के स्वरित वर्ण के कारण यदि आगे के पद का अनुदात्त पद अचिह्नित हो तो उसे अनुदात्त चिह्न से चिह्नित कर दो—क्रन्दसी संयती = क्रन्दसी इति । सयती० । सुधस्थं विचक्रमाणः = सुध ऽ स्थम् । वि ऽ चुक्रमाणः ।

(iii) पहले पद में उदात्त के पश्चात् आने वाला अनुदात्त यदि अगले पद के उदात्त के कारण स्वरित न हो कर अनुदात्त ही हो तो पदपाठ में उसे स्वरित कर दो—यत्र गावो भूरिशृंगाः = यत्रं । गार्वः । भूरि ऽ शृंगाः ।

(iv) दो उदात्त, अनुदात्त और स्वरितों की सन्धि में स्वर का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

(अ) उदात्त + उदात्त = उदात्त । सः + इति = सेति । वृत्वा + अति = वृत्वाति । महिमा + अतः = महिमातः ।

(आ) अनुदात्त + उदात्त = उदात्त । पुरि + अभूषत् = पुर्यभूषत् । अस्ति + इति = अस्तीति ।

(इ) स्वरित + उदात्त = उदात्त । पुदानि + अक्षीयमाणा = पुदान्यक्षीयमाणा । गुहा + अकः = गुहाकः । अत्र + अहं = अत्राह ।

(ई) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित । वि + अशासत् = व्यशासत् । वि + अकरयत् = व्यकरयत् । ब्राह्मणः + अस्य = ब्राह्मणोऽस्य ।

(उ) उदात्त अ या आ + अनुदात्त स्वर = उदात्त । त्रेधा + उरुगायः = त्रेधोरुगायः । उत + इमम् = उतेमम् ।

(ऊ) अनुदात्त + अनुदात्त = अनुदात्त । वास्तूनि + उश्मसि = वास्तून्युश्मसि * । स्वरित पद मूलतः अनुदात्त ही होता है । अतः स्वरित + अनुदात्त = स्वरित होगा ।

अस्तीति + एनम् = अस्तीत्येनम् । किले + असि = किलासि ।

---

* स्वरित के पश्चात् आने के कारण न्यु, श्म और सि अनुदात्त अचिह्नित हैं ।

यदि इस प्रकार के स्वरित के पश्चात् कोई उदात्त आया हो तो वह स्वरित न रह कर अनुदात्त हो जायगा—

येन॑ + इ॒मा = ये॒ने॒मा । यस्य॑ + उ॒रुषु॑ = यस्यो॒रुषु॑ ।

(v) उदात्त को पहचानने की रीति—ऋग्वेद में उदात्त अचिह्नित रहता है। सामान्यतः एक पद में एक ही उदात्त होता है। स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्त भी अचिह्नित रहते हैं। अतः पहले स्वरितों को देख कर उन के पश्चात् आने वाले पदों को अनुदात्त मान लो। जो अचिह्नित पद शेष बच ये सब उदात्त होंगे। जिस स्वतन्त्र स्वरित के आगे १ या ३ का अंक हो उस से अगला अचिह्नित अक्षर भी उदात्त होता है।

(vi) स्वरों के चिह्न लगाते समय स्वर के सामान्य नियमों—[(१) उदात्त + अनुदात्त = स्वरित। (२) उदात्त + अनुदात्त + उदात्त = ऐसे ही। (३) स्वरित + अनुदात्त = स्वरित + अचिह्नित वर्ण] का प्रयोग कर।

(vii) 'इति' के पश्चात् आवृत्त पद में उस का मूल स्वर ही लगाए, अर्थात् 'इति' के स्वरित के पश्चात् आने वाले अनुदात्तों को भी चिह्नित करें—सु॒युक्ती॒ इति॑ सु॒म्ऽयुती॑।

(viii) 'इति' लगाने पर पद के अन्तिम वर्ण पर इस 'इति' के 'इ' उदात्त का प्रभाव पड़ता है। उसे व्यक्त करें। (१) क्रन्द॑सी॒ इति॑। वि॒ह्वये॑ते॒ इति॑०। यहां 'सी' और 'ते' को अनुदात्त के चिह्न से चिह्नित किया गया है। (२) अक॒रि॒त्यकः॑। यहां पहले 'क' को स्वरित नहीं किया गया है।

(ix) जिन पदों में अवग्रह लगाया जाता है उन में सन्धि तोड़ दी जाती है। जैसे गि॒रि॒ऽस्थाः।

(x) बाह्य सन्धि के कारण उत्पन्न मूर्धन्य ष् और ण् को क्रमशः दन्त्य स् और न् में बदल दें। यथा मो षु व॑रुण = मो इति॑। सु। व॒रु॒ण (ऋ० ७।८९।१) ॥

पदपाठ में इति लगाने के नियम

६. प्रगृह्य संज्ञकों के आगे इति—

(१) द्विवचन के ई, ऊ और ए के पश्चात् इति लगाई जाती है। जैसे क्रन्द॑सी॒ इति॑। ऊ॒रू इति॑। उ॒च्येते॒ इति॑।

(२) 'उ' निपात के आगे 'इति' लगाई जाती है। इसे साननासिक और दीर्घ भी कर दिया जाता है—ऊँ इति।*

(३) ओदन्त निपातों के आगे 'इति' का प्रयोग किया जाता है—अथो इति।

(४) जिन पदों के अन्त में सप्तमी अर्थ में प्रयुक्त ई और ऊ आए हों उन के आगे भी 'इति' लगाई जाती है—सरसी इति। शयानम्। (ऋ० ७।१०३।२)।

(५) एकरान्त अस्मे, युष्मे आदि के आगे 'इति' लगाई जाती है—अस्मे इति। (ऋ० १।९।७)। युष्मे इति। (ऋ० ४।१०।८)।

(६) ओकारान्त सम्बोधनों के आगे 'इति' लगाई जाता है—इन्दो इति (ऋ० १।४३।८)।

७ अन्य पदों के आगे इति—

(७) यदि पद के अन्त में 'र्' को विसर्ग बन हों और संहिता में उन के आगे किसी वर्ण के आने से संधि से 'र्' न हुआ हो तो पदपाठ में इन विसर्गों के आगे इति लगा कर विसर्गों को 'र्' कर दिया जाता है।—अन्तरिति (ऋ० १।६२।९)। पुनरिति (मस० ९५)। परन्तु तु० क० अन्तरग्निम् = अन्तः। अग्निम्।। यहां पर संहिता में ही विसर्गों को 'र्' हो गया है। अतः पदपाठ में इति नहीं लगाई गई है।

८ अवग्रह लगाने के नियम

१ यदि पूर्व पद में कोई विकार न हुआ हो तो दो पदों के समास वाले पद के पूर्व पद और उत्तर पद के बीच में अवग्रह लगाया जाता है। जैसे गिरिऽस्था। भूरिऽश्रृङ्गा। सधऽस्थम्। युक्तऽग्रावाण। परन्तु तु०–क०–उभयादत।

२ द्वन्द्व समासों को अवगृहीत नहीं किया जाता है। जैसे साशनानशने इति। अनाबयं।

३ 'इव' को उस से पहले आने वाले पद से अवगृहीत किया जाता है।—यध्नीऽइव। विर्नऽइव।

* कुछ मस्करों में ऊ इति, ऊम् इति लिखा मिलता है। पा० १।१।१८—'ऊँ' देखें।

४ उपसर्गों को संज्ञाओं और कृदन्त पदों से अवगृहीत किया जाता है। वि॒ऽक्र॒मणे॑षु । प्रऽय॑तम् । प्र ऽ कु॒पि॑तान् । अ॒प॒ऽधा । स॒म्ऽवृक् । सु ऽ शि॒प्र । प्र ऽ दिशि । आऽरोह॑न्तम् निऽचित । वि॒ऽराट् । सम्ऽभृ॑तम् । प॒रि॒ ऽ धर्य । स॒म् ऽ इ॒धे ।

५ प्रधान वाक्य में उपसर्गों को क्रियाओं से पृथक् रक्खा जाता है—अति । अ॒ति॒ष्ठ॒त् (मम० २२) । वि । अ॒क्रा॒म॒त् (मस० २५) । अति । अ॒रि॒च्य॒त (मम०–२६) ।

६. आश्रित (या गौण) वाक्यों में उपसर्गों को क्रियाओं से अवगृहीत किया जाता है। —वि॒ ऽ मु॒मे (मस० १) । अ॒धि॒ ऽ क्षि॒यन्ति॑ (मस० २) - प॒रि॒ ऽ अमू॑पन् (मम० ७) । उ॒त् ऽ आर्न॑द (मस० ९) । अ॒ति॒ ऽ रोहति (मस० २३) । परन्तु वि । अद॑धु (मस० ३२) में अवगृहीत नहीं है। इस पर टिप्पणी देखें।

७ अवग्रह के स्थलों पर एक से अधिक उपसर्ग इकट्ठे आ जाएँ तो प्रथम या अन्तिम उपसर्ग को ही अवगृहीत किया जाता है। स॒म॒ ऽ अ॒व्य॒म् (ऋ० १ । ६० । १) । उ॒प ऽ प्र॒यन्त (ऋ० १ । ७४ । १) ।

८. यदि प्रकृति में कोई विकार न हुआ हो तो सु, भ्याम्, भिम्, भ्यस्, धमु, त्त, तरप्, तमप्, मत् और वत् आदि प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है।— उ॒त्ऽत॒रम् । त्रि॒ऽभि (परन्तु तु० ऋ० प॒दे॒भि । स॒मन॒ऽसु॑ । आ॒त॒स्थि॒ ऽवा॒र्सा । परन्तु तु॒वि॒ष्मा॒न् । अ॒मृ॒त॒ऽत्वस्य । प॒न॒ऽभ्या॒म् ।

९ अकारान्त नामधातुओं के अ को दीर्घ हो जाने पर भी 'य' और 'यु' प्रत्ययों को अवगृहीत किया जाता है—दे॒वऽय॒वं ।

१० जहाँ उपसर्ग और प्रत्यय दोनों में अवग्रह प्राप्त है वहाँ सामान्यत प्रत्यय को ही अवगृहीत किया जाता है। आ॒त॒स्थि॒ऽवा॒र्सा ।

११. अवग्रह लगाने के सामान्य नियम ऊपर दिए गए हैं। अनेक बार इन के अपवाद भी मिलते हैं। यथा कु॒च॒र (मस० २) । विष्व॑ट् (मस० २५) । चन्द्र॒मा॑ (मस० ३४) ।

१२ एक पद में एक से अधिक अवग्रह नहीं लगाया जाता है। (देखो ऊपर नियम ७, १०) ।

परिशिष्ट २

वैदिक स्वर

(कोष्ठकों में इस समूह के मन्त्रों की क्रमसंख्या दी है।)

१. मूल वेदसंहिताओं, शाखासंहिताओं और ब्राह्मणों में स्वरांकन की चार रीतियाँ प्रचलित हैं। यहाँ केवल ऋग्वेद में स्वरांकन की रीति पर सामान्य प्रकाश डाला जाता है।※

२ ऋग्वेद में तीन स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। उच्च ध्वनि से बोले जाने वाला स्वर उदात्त होता है—(उच्चैरुदात्त —पा०)। नीची ध्वनि में बोले जाने वाला स्वर अनुदात्त कहलाता है—(नीचैरनुदात्त —पा०)। जिस स्वर पर उदात्त और अनुदात्त का क्रम से उच्चारण मन्द्रित हो जाए वह स्वरित होता है। (समाहार स्वरित —पा०)। इस में उच्चारण ऊँचा चढ कर नीचे उतरता है। इस प्रकार उदात्त में आयाम (= गात्रों को ऊपर की ओर खींचना), अनुदात्त में विश्रम्भ (गात्रों का शिथिलता) और स्वरित में आक्षेप (गात्रों का तिर्यग् गमन) होता है। वैदिक स्वर संगीतात्मक हैं, लौकिक भारात्मक। तीनों ही स्वर अच् युक्त व्यञ्जन या अच् पर ही रह सकते हैं। एक वर्ण पर एक ही स्वर रहता है।

३ ऋग्वेद में उदात्त पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है। अनुदात्त के नीचे पड़ी हुई रेखा (—) और स्वरित के ऊपर एक खड़ी रेखा (।) लगाई जाती है।

स्वर के उपयोगी नियम

४ सामान्यतः एक पद में एक ही उदात्त स्वर रहता है—(तु क —अनुदात्तं पदमेकवर्जम् —पा०)।

※ अन्य स्वरांकन रीतियों के लिए देखो युधिष्ठिर मीमांसक—वैदिक स्वर मीमांसा और वैयास० ।

५. कुछ देवताद्वन्द समासों आदि में दोनों पदों में अपने-अपने स्थान पर उदात्त स्वर बना रहता है। जैसे—मित्रावरुणौ। इन्द्राबृहस्पती। बृहस्पति। एतवै।

६ उदात्त के तुरन्त पश्चात् आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है।—(उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः। पा०) जेसे—भूरिश्टगा (६)। युक्तग्रावा॑ण (१२)। यहाँ भू और क्त उदात्तों के पश्चात् रि और ग्रा अनुदात्तों को स्वरित हो गया है।

७. यदि उदात्त के पश्चात् आने के कारण स्वरित बने हुए अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् उदात्त या स्वरित आ जाए तो स्वरित न रह कर वह अक्षर अनुदात्त ही रहता है। अत दो उदात्तों के मध्य में अथवा उदात्त या स्वरित से पूर्व आये हुए अनुदात्त म कोई विकार नहा आता है। जैसे—य सुन्वन्त मर्वति य पर्चन्तम् (४०) में 'सु' 'न्त' और 'ति' (—स्वरित और उदात्त के बीच में स्थित) की स्थिति है।

८. स्वरित के तुरन्त पश्चात् आने वाले सब अनुदात्त अचिह्नित रहते हैं। परन्तु जब ऐसे अचिह्नित किसी अनुदात्त के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त या स्वरित आ जाए तो वह अनुदात्त अपने चिह्न से चिह्नित हो जाता है। ऐसे अचिह्नित अनुदात्तों को एक श्रुति या प्रचय कहते हैं। जैसे—यावा चिदस्मै पृथिवी में 'वा' स्वरित के पश्चात् आने वाले चि, द, स्मै और पृ अनुदात्त अचिह्नित हैं। परन्तु 'थि' अनुदात्त के आगे 'वी' उदात्त आने से वह अपने चिह्न से चिह्नित हो गया है।

स्वतन्त्र स्वरित

९. कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आता है कि उदात्त के पहले आए बिना ही अनुदात्त स्वरित बन जाता है। इस प्रकार के स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित कहा जाता है। जैसे—वीर्या॑णि (१)। वीर्ये॑ण (२)। राजन्यं॑ (३३)।

१० जिन स्थलों में यह स्वरित मिलता है उन में प्रायः पादपूर्ति के लिए सन्धिच्छेद कर के अक्षर की सख्या बढ़ाई जाती है। इस सन्धिच्छेद में पहला

अक्षर उदात्त और दूसरा अक्षर अनुदात्त पाया जाता है। इस प्रकार इन स्थलों में मूलतः सामान्य स्वरित ही होता है, सन्धि के कारण ही स्वतन्त्र स्वरित का रूप लक्षित होता है। ऊपर के तीनों उदाहरणों की पादपूर्ति के लिए वीरि अणि, वीरि एण और राजनि अ पढ़ा जाता है।

११ कई बार संहितापाठ में सन्धि के कारण स्वतन्त्र स्वरित का रूप दिखाई पड़ता है। पदपाठ में सन्धिच्छेद हो कर पदों के अलग हो जाने से वह समाप्त हो जाता है। यथा ब्राह्मणो़ऽस्य (३३)। पदपाठ—ब्राह्मण । अस्य।

१२. जब स्वतन्त्र स्वरित के तुरन्त पश्चात् कोई उदात्त आ जाए तो स्वतन्त्र स्वरित के ह्रस्व होने पर उस के आगे १ का अङ्क लिख कर उस के ऊपर स्वरित का और नीचे अनुदात्त का चिह्न लगाया जाता है, स्वतन्त्र स्वरित स्वयं अचिह्नित रहता है। जैसे—व्य १ स्मत्। वर्ष्य १ मभ। स्व १ र्जनन्ती।

१३ जब स्वतन्त्र स्वरित दीर्घ हो और उस के तुरन्त आगे उदात्त आ जाए तो इस के आगे ऊपर स्वरित के और नीचे अनुदात्त के चिह्न से युक्त ३ का अङ्क लिखा जाता है और स्वतन्त्र स्वरित के अपने नीचे अनुदात्त का चिह्न होता है। जैसे—क्वे ३ दानीम्। वपुष्य ३ न। कन्या ३ अह।

१४ कुछ पदों 'क्व' आदि में नित्य स्वतन्त्र मिलता है।

१५ प्रातिशाख्य ने इस के कई रूप माने हैं और उन को जात्य, अभिनिहित, प्रश्लिष्ट और क्षैप्र नाम दिए हैं। इन सब भेदों का पर्यवसान एक में ही हो जाता है।

नित्य निघात (= अनुदात्त) पद

१६ इव, उ, चिद्, स्म, स्विद् ह, घ, च और वा निपात (२) कुछ एकाच् व्यक्तिवाचक सर्वनाम, मे, ते आदि और (३) निर्देशक सर्वनाम एन तथा इम, सीम्, तथा (४) अनिश्चयात्मक सर्वनाम 'त्व' और 'सम' आदि सदैव अनुदात्त रहते हैं।

उदात्त का अभाव

१७ कुछ अवस्थाओं म सम्बोधनों और क्रियापदो आदि मे उदात्त स्वर का सर्वथा अभाव हो जाता है और वे पूर्णतया निघात (= अनुदात्त) ही रहते हैं। ऐसे स्थलो का विवरण नाचे दिया जाता है।

१८ निर्देशक सर्वनाम इदम् क आदेश 'अ' क रूप जब किसी सज्ञा क लिए प्रयुक्त हुए हो और उन का अर्थ गौण हो तब वे निघात हो जात हैं। जैसे—अस्य जनिमान।

सम्बोधन पदों का स्वर

१९ सम्बोधन पद, चाहे एक पद का हो, चाहे कई पदों का यदि वाक्य के प्रारम्भ म आया हो तो उस का प्रथम वर्ण उदात्त होता है, शेष अनुदात्त। जैसे— पूषन्ननु प्र गा इहि मे पूषन्। वास्तोष्पत प्रति जानीह्यस्मान् मे वास्तोष्पते। इन्द्रावरुणा वृधनाभिरप्रति मे इन्द्रावरुणा। उप आ भाहि भानुना मे उप पद।

२० परन्तु यदि सम्बोधन वाक्य क मध्य म अन्य पदो क पश्चात् आया हो तो वह निघात (= उदात्त स्वर से हीन) हो जाता है। यथा म जनास इन्द्र मे जनास। मरुद्भिरग्न आ गहि मे 'अग्ने'।

क्रियापदो का स्वर

२१ यदि वाक्य क मध्य में आई हो तो प्रधान वाक्य का क्रिया निघात (उदात्त स्वर से हीन) होती है। जसे—विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोचम् (१) म वोचम्। प्र तद् विष्णु स्तवते (२)। प्र विष्णवे शूषम् एतु (३)। अभि पार्थो अश्याम् (५)। आदि।

२२ प्रधान वाक्य की क्रिया यदि वाक्य क प्रारम्भ म आइ हो तो वह उदात्त स्वर से युक्त होती है। यथा—वेद मासो धृतव्रतो मे 'वेद'। अभूद्व सविता वन्द्यो नु न मे 'अभूत्। अवर्पीर्वर्पमुद पू गृभाय मे 'अवर्पी' अकर्धन्वानि मे 'अकं'।

२३. क्योंकि सम्बोधनपद वाक्य में नहीं गिना जाता है, अतः यदि प्रधान वाक्य की क्रिया ऐसे सम्बोधन के पश्चात् आई हो तो वह वाक्य के प्रारम्भ में आई हुई मानी जायगी और उदात्त स्वर से युक्त होगी। जैसे—आश्रुत्कर्ण श्रुधि हवम्। 'हे सुनते वाले कानों वाले' हमारी पुकार सुनो'। बृहस्पते रक्षता दस्य योनिम्। 'हे बृहस्पति' इस के घर की रक्षा करो'। इन में श्रुधि और रक्षताद् उदात्त स्वर से युक्त हो गए हैं।

२४. एक वाक्य में एक ही क्रिया हो सकती है। अतः जब पहली क्रिया के समान एक ही कर्ता से सम्बद्ध एक से अधिक क्रियाएं एक वाक्य में आ जाएं तो प्रत्येक क्रिया नए वाक्य के आरम्भ में आई हुई मानी जाती है और इस कारण उन में उदात्त स्वर होता है। जैसे—अपामीवां बाधते वेति सूर्यम् में 'वेति' क्रिया। तरणिरिज्जयाति क्षेति पुष्यति 'सफल वह जीतता है, शासन करता है और पुष्ट होता है' में क्षेति और पुष्यति क्रियाएं।

२५. यत्, या, इस के रूपों, च, हि, चेत्, नेत् निपातों से प्रारम्भ होने वाले आश्रित वाक्यों की क्रिया में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—यो विममे (१)। यो अस्कभायत् (१)। यस्य ··· अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (२)। यो दासमस्तम्भात् (८)। यो गा उदाजदपधा (९)।

२६. जब दो प्रधान वाक्य प्रतिपक्षी हों तो प्रथम को आश्रित वाक्य के समान समझा जाता है और उस की क्रिया उदात्त स्वर से युक्त होती है। जैसे—अध स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् 'क्या नीचे था अथवा ऊपर था'। इस में दोनों वाक्य प्रतिपक्षी हैं। अतः पहले वाक्य को गौण मान कर 'आसी ३ त्' में 'सी' उदात्त है।

उपसर्गों का स्वर

२७. प्रधान वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् रक्खा जाता है और वह उदात्त स्वर से युक्त होता है। जैसे—प्र तद् विष्णुः स्तवते (२) और अभि पार्थो अदयाम् (५) में प्र और अभि को पृथक् किया गया है।

२८. आश्रित वाक्यों में उपसर्ग को क्रिया के साथ समस्त माना जाता है और वह निघात हो जाता है। इसी लिए पदपाठ में उसे अवग्रहीत करते हैं जैसे—यो देवान् नर्तुना पर्यभूषत् (७)। यो गा उदाजदपधा वलस्य (९)। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा (२)।

समासों का स्वर

२९. आम्रेडित (पुनरुक्त) पदों के समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—अहरह । यथायथा । प्रप्र । इन को पदपाठ में अवग्रहीत किया जाता है।

३०. बहुव्रीहि समासों में पूर्वपद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—विश्वतोमुखः । भूरिश्रृगा (६)। युक्तग्रावाण , सुतसोमस्य (१२)। बहुत से बहुव्रीहि समासों में उदात्त स्वर अन्तिम पद में होता है, विशेषत. जब पूर्वपद बहु, पुरु, नञ् (अ या अन्) और सु हो। जैसे—सुशिप्र (१२)। उरुगायाय (३)। उरुक्रमस्य (५)। कुचर. (२)।

३१. कर्मधारय में अन्तिम पद में उदात्त स्वर होता है। जैसे—प्रथमजा प्रावयुज् । महाधन । परन्तु जब पूर्वपद नञ् में (अ या अन्) हो तो उदात्त पूर्वपद में होता है। जैसे—अनग्निदग्धा । अनश्वदा ।

३२. तत्पुरुषों में उत्तरपद में अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—गोत्रभिद् । भद्र वादिन् । उदमेघ । परन्तु षष्ठ्यन्त पूर्वपद वाले समासों में दोनों पदों में उदात्त स्वर रहता है। जैसे—बृहस्पतिः । अपा नपात् । शुन शेप.।

३३. द्वन्द्व समासों में समास करने पर बने प्रातिपदिक का अन्तिम स्वर उदात्त होता है। जैसे—अजावय. (३१)। (यहा अजावि प्रातिपदिक है)। सारानानशने (२५)।

३४. देवताद्वन्द्व समासों के दोनों पदों में उदात्त स्वर होता है। जैसे—इन्द्रावरुणा । सूर्यामासा । द्यावा''पृथिवी (१३)। इस पद में दोनों भागों को पृथक्-पृथक् प्रयुक्त किया गया है। इन के बीच में 'चिदस्मै' पद भी आ गए हैं।

परिशिष्ट ३

वैदिक व्याकरण

वर्णमाला

१. ऋग्वेद में वे सभी स्वर और व्यञ्जन तथा उन की ध्वनियां मिलती हैं जो लौकिक संस्कृत में पाए जाते हैं। ऋक्प्रातिशाख्य के अनुसार तीन स्थलों—अध स्विद्रासी ३ द्, उपरि स्विदासी ३ द् और भीतिव विन्दती ३ँ—में ही प्लुत का उच्चारण होता है।

२. इस के अतिरिक्त ऋग्वेद में दो और व्यञ्जन—ळ् और ळ्ह्—का प्रचुर प्रयोग किया गया है। ये स्वतन्त्र वर्ण नहीं माने जा सकते क्यों कि एक ही पद में दो स्वरों के बीच में आने पर ड् को ळ और ढ् को ळ्ह हो जाता है।

'पदमध्यस्थडकारस्य ळकारं बह्वृचा जगुः।
पदमध्यस्थढकारस्य ळ्हकारं बह्वृचा जगुः॥'

यथा तस्माद्विराळजायत में आ और अ के बीच में आने से ड् को ळ् और इळ्हा में ऋ और आ के बीच में आने से 'ढ्' को 'ळ्ह्' हो गया है।

३. सन्धि—ऋग्वेद में लौकिक सन्धि के लगभग सभी नियम प्रयोग में आते हैं। कुछ नियम नए भी हैं।

४. स्वरसन्धि—कई बार एक ही पद में या समास के विभिन्न पदों में, अथवा एक वाक्य के विभिन्न पदों में सन्धि का अभाव पाया जाता है। इन में पदान्त 'ए' और 'ओ' के पश्चात् 'अ' का पूर्व रूप बहुत कम होता है*। (तु. क. प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे—पा०)। यथा—यो अस्कभायद् (१)।

* इस संग्रह में पूर्वरूप वाली सन्धियां ये मिलती हैं—योऽन्निता (१२)। परेऽवरे (१४)। पादोऽस्य (२४)। ब्राह्मणोऽस्य (२३)। ऐसी सन्धियों को अर्वाचीनता का द्योतक माना जाता है। परन्तु दशमण्डलों में भी ये पर्याप्त मिलती हैं।

पार्था अयाम् (५)। यो अन्तरिक्षम् (८)। नवो अस्ति (११)। मो अर्य (११)। गिराचो अधि (२६)। ‡ सूरिअस्व। मु अधिअम्। वरुणस्य अग्ने। अभि एति।

• इतिकरण के जो स्थल पूर्व परिशिष्ट में दिखाए गए हैं वहाँ सन्धि नहीं होती है। 'अ' और उ—निपात की सन्धि से उत्पन्न 'ओ' की भी सन्धि नहीं की जाती है, जैसे अथो (अथ + उ), मो (मा + उ) आदि।

६ व्यञ्जनसन्धि—पदान्त आन् को आँ हो जाता है। यथा—देवाँ अकृण्वन् (३५) निगीवाँ लक्षम् (१०)। भकुपिताँ अरंगमात् (८)। परन्तु लेट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन में 'आन्' में कोई परिवर्तन नहीं होता है, यथा आ गच्छान् उत्तरा युगानि। इसी प्रकार पदान्त इन्, ऊन् और ऋन् को ईँर् ऊँर् और ऋँर् हो जाता है, जैसे—रश्मीँरिव। इस नियम का अपवाद भी मिलता है। यथा—एतावांनस्य (२४)। † दधीवान् अमन्यमानाञ्छर्वा (१६)।

७ बाह्यसन्धि—कई बार अन्तःसन्धि में लागू होने वाले नियम बाह्य सन्धि में भी लगाए जाते हैं। यथा—मो षु वरुण। इस में 'सु' को 'षु' मो के कारण हुआ है।

८ लोप होने पर सन्धि—कई बार पादपूर्ति के लिए लोप हो जाने पर भी सन्धि मिलता है। जैसे—य स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् (११) में सेति (स + इति) में विसर्गों का लोप हो जाने पर भी सन्धि की गई है।

शब्दरूप

१ वैदिक भाषा लौकिक भाषा की अपेक्षा शब्दरूपों में अधिक समृद्ध है। यहाँ लौकिक भाषा में प्रयुक्त विभक्ति प्रत्ययों के अतिरिक्त और भी विभक्ति प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार से बहुधा लौकिक भाषा के एक रूप के

---

‡ इन दोनों उदाहरणों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। पादपूर्ति के लिए सन्धिच्छेद पर ये रूप होते हैं। ये उदाहरण डा० मक्डोनल ने दिये हैं।

† मे०—दो पादों के बीच में 'आन्' की सन्धि नहीं होती है। पाणिनि भी ऐसा ही मानते हैं। तु० क० दीर्घादटि समानपादे। आतोऽटि नित्यम्।

स्थान पर दो या अधिक रूपों का प्रयोग पाया जाता है। इन अतिरिक्त रूपों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जाता है।

एकवचन

१० तृतीया विभक्ति—अकारान्त पदों में 'आ' का प्रयोग भी पाया जाता है। स्त्रीलिंग आकारान्त शब्दों में भी 'आ' मिलता है। यथा—यज्ञ के यज्ञेन और यज्ञा। मनीषा के मनीषया और मनीषा।

११ एन का 'अ' भी बहुधा दीर्घ पाया जाता है—एना। ऋग्वेद में पुनैन रूप उपलब्ध नहीं होता है।

१२ कभी कभी इकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के तृतीया एक वचन के रूप 'ई'—अन्त वाले भी होते हैं। यथा—शमी के शम्या और शमी।

१३ महिमन् का एक रूप 'मह्ना' (७) भी होता है।

१४ चतुर्थी—कभी कभी इकारान्त स्त्रीलिंग पदों के रूप 'इ' अन्त वाले होते हैं—ऊति का ऊती (२०) †।

१५. पञ्चमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' अन्त वाले भी होते हैं—अप्रुधा (९)—'आड्‌ से'।

१६ चक्षुष् का रूप 'चक्षः' (३४) भी एक बार आया है।

१७ षष्ठी—पुल्लिंग इकारान्त और नपुंसक लिंग उकारान्त पदों के रूप 'अस्' से भी बनते हैं। यथा—मधु का मध्वः (५) और अरि का अर्यः (४)।

१८. सप्तमी—आकारान्त स्त्रीलिंगों के रूप 'आ' में भी मिलते हैं। यथा—गुहा से गुहा (१०)। इकारान्त पदों के सप्तमी एक वचन में 'औ' के साथ साथ 'आ' और 'इ' का भी प्रयोग पाया जाता है, यथा अग्नौ—अग्ना (अग्नि में) वेदी (वदि में)।

१९ 'अन्' अन्त वाले पदों की 'इ' का बहुधा लोप हो जाता है—परमे व्योमन्। धामन् और धामनि। मह्मन् और मह्मनि। इन पदों में उपधा

---

† इसे तृतीया का रूप भी माना गया है। सा० ने चतुर्थी का माना है।

न 'अ' का लोप कभी नहीं होता है। अतः केवल अहनि, राजनि ही मिलते हैं, अह्नि और राज्ञि नहीं पाए जाते।

२० अन्य पदों में भी विभक्ति चिह्न का अभाव देखा जाता है। यथा—विश्वह (२१)—'सब दिनों में'।

२१ सम्बोधन—मत्, वत् और वस् प्रत्ययान्त पदों के सम्बोधन में 'अस्' आता है (तु० क० मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि। पा०।)—भानुमत् से भानुम (प्रथमा में—भानुमान्), हरिवत् से हरिव (प्रथमा में हरिवान्), चकृवस् से चकृव (प्रथमा में चकृवान्)।

द्विवचन

२२ 'औ' की अपेक्षा प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'आ' का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है ※—आतस्थिवासा (१४)—'बैठे हुए दो जन'। अश्विना—'दो अश्विन् देव'। द्यावा (१३)—'दो द्युलोक'। राजाना—'दो राजा'। द्वारा—'दो द्वार'। नद्या 'दो नदियाँ'।

२३ ईकारान्त स्त्रीलिंग पदों के रूपों में 'ई' पाई जाती है—रोदसी—'दो लोक—पृथिवी और आकाश' (७)। क्रन्दसी संयती (१४)—'दो चिल्लाती हुई सेनाएँ'। दर्वी—'दो दोवियाँ'।

२४ अस्मद् और युष्मद् के द्विवचन में पाँच विभक्तियों में रूप मिलते हैं।

	१	२	३
अस्मद्—वाम्, आवम् (श०)		आवाम् (श०)	×
युष्मद्—युवम्		युवाम्	युवाभ्याम् युवभ्याम्
		५	६ ७
अस्मद्—		आवाभ्याम् (काठ)	आवयोः (श०)
		आवद् (तैस०)	

※ तु० क० वाच्छन्दसि (पा०)।

युष्मद्— युवत् युवो,
युवयो (तैत्ति०)

२० इन के साथ ही २री, ४थी और ६ठी विभक्तियों में नौ और वाम् के प्रयोग भी मिलते हैं।

बहुवचन

२६ प्रथमा विभक्ति—अकारान्त पुल्लिंग शब्दों के रूप बहुधा और स्त्रीलिंग शब्दों के कभी कभी 'आसस्' में मिलते हैं (तु० क०—आज्जसेरसुक्—पा०)। यथा—अश्वासः (६) अश्वासः, रथासः, जनासः (१२), प्रियासः, सुवीरासः (२१)। इन के साथ 'आस्' के रूप भी मिलते हैं, यथा—ग्रामाः (१२), युध्यमानाः (१५)।

२७ इकारान्त स्त्रीलिंग पदों के अन्त में 'ईस्' होता है। यथा देवीः—'देवियाँ'। (तिस्रः) पृथिवीः—'तीन भूमियाँ'।

२८ नपुंसक लिंग पदों के रूपों में आनि, इनि और उनि की अपेक्षा आ, ई, ऊ (कभी कभी अ, इ, उ) का प्रयोग अधिक मिलता है। तु० क० शेश्छन्दसि बहुलम्—पा०)। यथा—भुवनानि विश्वा (२)। त्री पूर्णा उदानि (४)। अक्षीयमाणा (४)। ता वास्तूनि (९) इमा विश्वा भुवना कृतानि (१०)।

२९. तृतीया—अकारान्त पदों में 'ऐस्' के साथ-साथ 'एभिस्' का प्रयोग भी बहुत मिलता है। यथा—पदेभिः (३)। देवेभिः और देवैः।

३० शब्दरूपों की रचना—शब्द रूपों की रचना में प्रमुख अन्तर इकारान्त और ऊकारान्त अनेकाच् शब्दों के रूपों में पाया जाता है। ऐसे पदों में अधिकांश स्त्रीलिंग और कुछ पुल्लिंग हैं। इन में से अधिकांश के रूप एकाच् शब्दों—धी और भू के समान चलते हैं। भेद इतना ही है कि इन पदों में षष्ठी के बहुवचन में 'नाम्' लगाया जाता है, और धी, भू में 'आम्'। स्त्री प्रत्यय का 'ई' या 'ऊ' अविकृत रहता और वधू के लौकिक रूपों के समान होते हैं। उदाहरण के लिए रथी (पु०) नदी (स्त्री०) और तनू (स्त्री०) के रूप इस प्रकार होते हैं—

३१. रथी

	एक वचन	द्विवचन	बहुवचन
१	रथी	रथ्या	रथ्या
सम्बोधन		रथ्या	
२	रथ्यम्	रथ्या	रथ्या
३	रथ्या		
४	रथ्ये		
५	रथ्य		
६	रथ्य		रथीनाम्

३२. नदी (स्त्री०)

१	नदी	नद्या	नद्य
८		नद्या	
२	नद्यम्	नद्या	नद्य
३	नद्या		
४	नद्ये		
५	नद्य		
६	नद्य		नदीनाम्
७			

३३. तनू (स्त्री०)

१	तनू	तन्वा	तन्व
सम्बोधन		तन्वा	
२	तन्वम्	तन्वा	तन्व
३	तन्वा		
४	तन्वे		
५	तन्व		
६			तनूनाम्
७	तन्वि		

३४. पाणिनि ने शब्दरूपों के अन्य विकारों को 'सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः' में संगृहीत किया है। इस के अनुसार विभक्तियों का लोप, उन के स्थान पर पूर्व सवर्ण, आ, ए, आत्, या हो जाते हैं। कात्यायन ने इन में इया, ई (सरसी—७ मी) और अया का भी कथन किया है।

धातुप्रक्रिया

३५. आगम—धातुओं के लङ् और लुङ् में अट् का आगम कुछ रूपों में निरन्तर और कुछ में छन्दःपूर्ति के लिए दीर्घ पाया जाता है। जैसे—आवर्—√वृ लुङ् प्रथम पु० एक व०—'उस ने ढका हुआ है। आरैक् (या आरैक्) √ रिच् प्रथम पुरुष एक व० लुङ्—'उस ने रिक्त कर दिया है'।

३६. बहुधा अर्थ में भेद किए बिना ही इस अट् आगम का लोप कर दिया जाता है (तु—व—बहुल छन्दस्यमाङ्योगेऽपि। पा०)। इस प्रकार के अट् से रहित रूप अंग्रेजी के इञ्जङ्क्टिव के रूप में प्रयुक्त होते हैं (यथा प्र वोचम्) और आधुनिक अध्ययन में इसी नाम से पुकारे जाते हैं। 'मा' के योग में लौकिक संस्कृत में भी अट्हीन रूपों का प्रयोग मिलता है।

३७. उपसर्ग—सामान्यतः क्रिया से सम्बद्ध उपसर्ग उस से पहले आते हैं, परन्तु कई बार क्रिया के पीछे भी प्रयुक्त हुए हैं। उपसर्ग और क्रिया के इन दोनों ही क्रमों में उपसर्ग को क्रिया से पृथक् भी रक्खा जाता है और उन के बीच में अन्य पद भी आ जाते हैं। (तु० व० उपसर्गाः क्रियायोगे। ते प्राग्धातोः। छन्दसि परे ऽपि। व्यवहिताश्च। पा०।) जैसे प्र तद् विष्णुः स्तवते (२)। प्र विष्णवे शूषम् एतु (३)। अनु भाति भूरि (६)। गमद् वाजेभिरा स नः। परन्तु आश्रित वाक्यों में उपसर्ग सदैव क्रिया से पहले आते हैं और उस के साथ समस्त होते हैं। जैसे विममे (१)। पर्यभूषत् (७)। उदार्जत् (९)।

तिङ् प्रत्यय

३८. लट्लकार में उत्तम पुरुष बहुवचन (कर्तृवाच्य) में 'मस्' की अपेक्षा 'मसि' प्रत्यय का प्रयोग प्रचुर है। (तु० क० इदन्तो मसि। पा०।)

जैसे—उश्मसि (६)– इच्छा करते हैं' (√वश् से)। द्युमसि और द्युमः।

३९. मध्यम पुरुष बहुवचन में 'थ' और 'त' के अतिरिक्त 'थन' और 'तन' भी बहुधा मिलते हैं। (तु० क०—तप्तनप्तनथनाश्च-पा०) जैसे—याथ और याथन (तुम जाओ)। यात और यातन (तुम जाओ)।

४०. लोट् लकार के मध्यम पुरुष एक वचन में 'तात्' के रूप बहुधा मिलते हैं। इन रूपों में भविष्य में किए जाने के लिए किसी काम की आज्ञा अभिप्रेत होती है। जैसे—रक्षतात्। धत्तात्। कभी कभी यह मध्यम पुरुष द्विवचन और बहुवचन तथा उत्तम पुरुष और प्रथम पुरुष के एक वचन के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

४१. श्रु, शृणु, पृ कृ और वृ धातुओं से लोट् मध्यम पुरुष एक वचन में 'धि' लगाया जाता है। (तु क. श्रु-शृणु-पृ कृ-वृभ्यश्छन्दसि-पा०)। जैसे—श्रुधि (हवम्)। शृणुधि।

४२. कुछ धातुओं के लट् प्रथम पुरुष एक वचन के रूप उत्तम पुरुष के रूपों में पर्यवसित हो जाते हैं। जैसे—शेते के स्थान पर शये का प्रयोग।

४३. द्वित्व—लिट् लकार में कुछ धातुओं के द्वित्व में अभ्यास में स्वर को दीर्घ हो जाता है। (तु० क० तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य)। जैसे—दाधार (४) (√धृ से)। तूतुजानं। ततावे।

४४. गण—वेद में गणों के प्रयोग में बहुधा व्यत्यय पाया जाता है। एक गण के धातु का रूप दूसरे गण के रूपों के तुल्य पाया जाता है। जैसे—कृणोमि। करसि। भेदति। हुवेते (१४)।

४५. लकार—वेद में लुङ्, लङ् और लिट् के प्रयोग सब कालों में पाए जाते हैं। (तु. क. छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। पा०)। लिट् का प्रयोग भूतसामान्य में भी होता है (तु. क. छन्दसि लिट्—पा०)। जैसे—स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् में दाधार पद। डा० मैक्डोनल का विचार है कि लङ् लकार सदा वर्णनात्मक भूतकाल का द्योतक है, परन्तु यह ठीक नहीं। (देखो वेभाप० १।५४।१२)। लिट् का वर्तमान में प्रयोग—अमन्यमानाञ्छर्वा जघान

(१६)। लट् का—अ वतिष्ठद् दशाङ्गुलम् (२२)। टट् का—एते त्ये भानवो दशतायाश्चित्रा उषसो अमृतासु आगुः।

४६ काल—द्वि न की हुई धातु से पहले अट् का आगम कर के आगे धातुज प्रत्यय लगा कर बने रूप भी प्रयुक्त हुए हैं। मै० ने इन्हें 'प्लुपरफैक्ट' नाम दिया है। उदाहरण के लिए—√ चित् से—उत्तम पु० एक व०—अचिकेतम्। प्रथम पु० एक व०—अचिकेत्। प्रथम पु० बहु व०—अचिकितु।

४७ डा० मैक्डोनल के मत में संहिताओं में लुट् का कोई निश्चित रूप नहीं मिलता है। तृच्—अन्तवाची संज्ञाओं से ही इस प्रकार के रूपों का ब्राह्मण काल में प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा।

४८ भाव (मूड)—लौकिक भाषा में लोट्, विधिलिङ्, आशीर्लिङ् और लृङ् का प्रयोग होता है। वेद में आशीर्लिङ् का प्रयोग अल्प मात्रा में पाया जाता है। लृङ् भविष्यत् काल का भूतकालिक रूप है और भविष्य का द्योतक है।

४९ परन्तु यहाँ एक और नये भाव—लेट् का प्रचुर प्रयोग होता है। इस भाव का प्रयोग विधि निमन्त्रण, आमन्त्रण अधीष्ट, सम्प्रश्न प्रार्थना आशा हेतुहेतुमद्भूत, इच्छा कामप्रवेदन और सम्भावना—इन लोट् और विधिलिङ् के अर्थों उपसंवाद और आशंका में होता है। (तु० क०—लिङर्थे लेट् उपसंवादाशङ्कयोश्च। पा०)। विधिलिङ् का मूल रूप से इच्छा और सम्भावना का प्रकाशन है और लेट् का 'निश्चय प्रतिज्ञा'। विभिन्न पुरुषों में इस का अर्थ भिन्न भिन्न भी लक्षित होता है। यथा उत्तम पुरुष में यह प्रतिज्ञा निश्चय' का द्योतक है

• वाक्यों में इस का प्रयोग सामान्यतः दो प्रकार का है—प्रधान वाक्य में यह प्रश्नात्मक पदों के साथ आता है, जैसे—कुदा न शुश्रवद् गिरः। गौण वाक्यों में यह निषेधात्मक या सम्बन्धद्योतक पदों के साथ आता है। जैसे—यो न घृतवान्।

५१ लेट् में धातु के आगे अ या आ जोड़ा जाता है (लेटोऽडाटौ—पा०)। जैसे—भवाति में अनेक बार मिश्र का प्रयोग भी देखने में आता है

(—सिब्बहुलं लेटि—पा०)। यथा तारिषत् में। परस्मैपद धातुओं के 'ति' आदि प्रत्ययों की 'इ' का लोप भी बहुधा हो जाता है (—इतश्च लोपः परस्मैपदेषु—पा०)। जैसे—तारिषत् में।

५२. लेट् में सार्वधातुक और आर्धधातुक—दोनों ही प्रत्ययों का प्रयोग पाया जाता है। √भू और √सु के लेट् के रूप इस प्रकार हैं—

५३. √भू—

परस्मैपद

प्रथम पु०	भवाति, भवात्	भवातः	भवान्
मध्यम पु०	भवासि, भवाः	भवाथ	भवाथ
उत्तम पु०	भवानि	भवाव	भवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	भवाते	भवैते	भवन्त
म०पु०	भवासे	भवैथे	भवाध्वै
उ०पु०	भवै	भवावहै	भवामहै।

५४. √सु—

परस्मैपद

प्र०पु०	सुनवत्	सुनवत	सुनवन्
म०पु०	सुनवः	सुनवथ	सुनवथ
उ०पु०	सुनवानि	सुनवाव	सुनवाम

आत्मनेपद

प्र०पु०	सुनवते	सुनवैते	सुनवन्त ❀
म०पु०	सुनवसे	सुनवैथे	सुनवध्वै
उ०पु०	सुनवै	सुनवावहै	सुनवामहै

लेट् के रूपों का वर्गीकरण

५५. आधुनिक वैदिक वैयाकरणों ने लेट् के रूपों का विश्लेषण कर के बताया है कि इस के रूप केवल वर्तमानकाल के द्योतक ही नहीं हैं, प्रत्युत

❀ तु. क. सुवन्त (३७)।

इन का प्रयोग लिट् और लुङ् में भी होता है। इन के अनुसार लोट् और विधिलिङ् के भी लुङ् और लिट् में प्रयोग होते हैं। इन के कतिपय उदाहरण ये हैं—

लिट् लकारीय

लेट्	विधिलिङ्	लोट्
√तुद् से—तुतोदत्	√वृत् से—ववृत्यात्	मुच् से—मुमुग्धि
		√भू से—बभूतु
		√वृत् से—म० पु०
		आत्मनेपद एकव०—ववृत्स्व

लुङ् लकारीय

√नी से—प्र०पु०	√विद् से—विदेत्	√अव् से—
		म०पु० एक व० अविड्ढि
एक व०—	√अश् से—अश्यात्	द्वि व०—अविष्टम्
नेषति, नेषत्	√भज् से—भक्षीष्ट	बहु व०—अविष्टन
√बुध् से—बोधिषत्		प्र०पु० एक व०—अविष्टु
		√सद् से—प्र०पु०
√विद् से—विदत्		एक व०—सदतु
√कृ से—करति, करत्		द्वि व०—सदताम्
		बहु व०—सदन्तु
		√श्रु से—म०पु०
		श्रुधि श्रुतम् श्रुत
		प्र०पु० श्रोतु
		श्रुताम् श्रुवन्तु

५६ इन्जंक्टिव—यह परिभाषा आधुनिकों की है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, अट् आगम से हीन लङ् और लुङ् के रूपों को इन्जंक्टिव कहते हैं। इस के प्रयोग लेट् के अन्तर्गत आ जाते हैं। उत्तम पुरुष में यह इच्छा को प्रकट

करता है। यथा—**विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्** (१)। मध्यम और प्रथम पुरुषों में यह प्रेरणा और उत्साह को व्यक्त करता है और बहुधा लोट् के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे—**सुगा नः सुपथा कृणु। पूषन्निह क्रतुं विदः** में विदः इञ्जक्टिव है। इस भाव का प्रयोग ऋग्वेद में बहुलता से हुआ है।

५६ **सातत्यद्योतक कृदन्त पद**—लौकिक संस्कृत में उपलब्ध सातत्यद्योतक कृदन्त पदों (शतृ, शानच् आदि) के अतिरिक्त लुङ् लकार में भी कर्ता और कर्म दोनों में सातत्य द्योतक कृदन्त रूप मिलते हैं। जैसे परस्मैपद—√कृ से—क्रन्त। √गम् से—ग्मन्त। √स्था से स्थान्त। आत्मनेपद—√कृ से—क्राण। √बुध से—बुधान।

५८ लिट् लकार में क्वसु और कानच् प्रत्ययान्त रूप भी मिलते हैं (तु० क० लिटः कानज्वा। क्वसुश्च। पा०।)। यथा √शम् से **शशमान**। √क्रम् से **विचक्रमाण** (कानच्) (२०)। √स्था से **तस्थिवांसा** (द्विवचन—क्वसु) (१८)। √जि से—**जिगीवान्** (१०) (क्वसु)।

५८ ऋग्वेद में क्तवतु प्रत्ययान्त पदों का प्रयोग नहीं किया गया है।

५९ **क्त्वा-अर्थ के रूप**—वेद में क्त्वा के साथ साथ त्वी और त्वाय के रूप भी मिलते हैं। (तु० क० स्नात्व्यादयश्च। क्त्वो यक्। पा०)। त्वाय का प्रयोग अल्प है। जैसे—**दिवं सुपर्णो गत्वाय**। हत्वान दधान्। पित्वा सोमस्य वावृधे। य और त्य प्रत्ययान्त पदों का अन्तिम स्वर बहुधा दीर्घ मिलता है।

तुमर्थ के रूप

६० तुमर्थ के रूप लौकिक संस्कृत में के लिए के भाव के प्रकाशन के लिए केवल एक ही प्रत्यय—तुमुन् का प्रयोग होता है परन्तु वेद में इस के लिए लगभग एक दर्जन प्रत्ययों का प्रयोग होता है। पाणिनि मुनि ने इन को अग्रोक्त सूत्र में संकलित किया है—

१ तुमर्थे से—सेन्—असे—असेन्—क्से—कसेन्—अध्यै—अध्यैन्—कध्यै—कध्यैन्—शध्यै—शध्यैन्—तवै—तवेङ्—तवेन्।

२ प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै।

३ दृशे विख्ये च।
४. शकि णमुल्कमुलौ।
५. ईश्वरे तोसुन्कसुनौ।

६१. आधुनिक दृष्टि से इन का वर्गीकरण द्वितीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी के रूपों से साम्य के आधार पर किया जाता है। इन में से पिछले तीन वर्गों के रूप अल्प हैं। शेष में से अधिकांश चतुर्थ्यन्त हैं जो द्वितीयान्तों से लगभग १२ गुना अधिक हैं।

६२. द्वितीयान्त तुमर्थ रूप धातु से अथवा कभी-कभी तु प्रत्ययान्त नाम धातुओं से बनते हैं। जैसे—समिधम्—'प्रदीप्त करने के लिए'। प्रतिधाम्—'रखने के लिए'। प्रतिरम्—'बढ़ाने के लिए'। कर्तुम्—'करने, बनाने के लिए'। भेत्तुम्—'फाड़ने के लिए'। विभाज (नामकृत्)। अपदृष्टे (नामकृत्)।

६३. चतुर्थ्यन्त तुमर्थरूप धातु से और अस्, मन्, वन्, तु, धि प्रत्ययान्त नामधातुओं से बनते हैं। यथा—गमध्यै (६)—'जाने के लिए'। अवसे (१५)—'रक्षा के लिए'। सूतवे (१२)—'सहने के लिए'। दृशे—'देखने के लिए'। श्रद्धे—'सच्चा विश्वास करने के लिए'। जीवसे—'जाने के लिए'। विद्मने—दावने, दातवे—'देने के लिए'। कर्तवैॐ—'करने के लिए।

६४. पञ्चमी और षष्ठी के रूप एक समान होते हैं। ये रूप अस् और तोस् में मिलते हैं। जैसे—अवपदः—'गिरने के लिए'। एतोः—'के जाने के लिए'। विचरितो—'विचरण के लिए'।

६५. सप्तमी विभक्ति में केवल 'सनि' प्रत्ययान्त रूप ही निश्चयात्मक विशुद्ध रूप हैं। जैसे—नेषणि—'ले जाने के लिए'। धर्त्तरि—'देने के लिए'।

६६. कृत्यप्रत्यय—कृत्य-अर्थ में तवै, केन्, केन्य और त्वन् का प्रयोग होता है (तु० पा० कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः—पा०)। जैसे—दिदृक्षेण्यः।

ॐ इस में दो उदात्त स्वर हैं, क और वै।

कर्मप्रवचनीय निपात—

६७. वेद में मूल कर्मप्रवचनीय निपात द्वितीया, पञ्चमी और सप्तमी के साथ और कुछ स्थलों पर तृतीया के साथ प्रयुक्त हुए हैं। ये इस प्रकार हैं—

६८. **द्वितीया के साथ**—अति—'परे'। अधि—'ऊपर को'। अनु—'पीछे'। अन्तर्—'में'। अभि, आ उप, प्रति—'की ओर'। परि—'चारों ओर'। पुर—'सामने'।

६९ **पञ्चमी के साथ**—अधि—'ऊपर से'। अन्तर्—'अन्दर में'। आ—'दूर से, तक'। परि—'(चारों) ओर से'।

७० **सप्तमी के साथ**—अधि—'ऊपर'। अन्तर्—'अन्दर'। अपि, आ और उप—'समीप'।

वैदिक भाषा और व्याकरण की कुछ अन्य विशेषताएँ

कारक—७१ कई बार एक विभक्ति के स्थान पर दूसरी विभक्ति का प्रयोग भी पाया जाता है। जैसे—चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी, षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी और सप्तमी के अर्थ में चतुर्थी। यथा—श्रदस्मै धत्त (११) में सप्तमी के लिए अस्मै में चतुर्थी का प्रयोग किया गया है।

७२ **वर्णविकार**—कई पदों में वर्णों में विकार पाया जाता है। जैसे—सधस्थम् (१) [तु० क० सधमादस्थयोश्छन्दसि।] गृभ्णामि। सम्भृतम् (२९)। [तु० क०—हृग्रहोर्भश्छन्दसि। पा०।]

७३ **सांहितिक दीर्घ**—अनेक बार संहिता में स्वरों को दीर्घ कर दिया जाता है। पदपाठ में इन्हें ह्रस्व कर दिया जाता है। जैसे—**स्मा** (११)। **पूरुष** (२४)।

७४ **प्रत्ययों का प्रयोग**—बहुत से प्रत्यय निहित स्थलों से अन्यत्र भी हो जाते हैं। जैसे—अघायुररातीवा मर्चयति। इस में अघायु में क्यच् और उ प्रत्यय परेच्छा में हुए हैं।

७८. व्यत्यय—पाणिनि ने वैदिक भाषा व लौकिक संस्कृत से भेद को 'व्यत्ययो बहुलम्' कह कर वर्णित किया है। इस सूत्र का विस्तार इस कारिका में दिया गया है—

> सुप्—तिङ्—उपग्रह—लिङ्ग—नराणा
> काल—हल्—अच्—स्वर—कर्त्त—यङाञ्च।
> व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषा
> सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेन॥

भाव यह है कि वैदिक भाषा में अनेक स्थानों पर विभक्तियों, क्रिया के तिप् आदि प्रत्ययों आत्मने—परस्मै पदों, पुल्लिंग, नपुंसकलिंग और स्त्रीलिंग उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुषों, लट् आदि लकारों, व्यञ्जनों, अ, आ आदि स्वरों उदात्त आदि स्वरों कारकों और यङों के प्रयोगों में लौकिक भाषा के नियमों की उपेक्षा पाई जाती है।



वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

वेदमन्त्राणामकारादिक्रमेणानुक्रमणिका

मन्त्र	क्रमसंख्या	संकेत
यत्पुरुषेण हविषा	२७	ऋ० १०।९०।६, य० ३१।१४
य क्रन्दसी संयती विह्वयेते	१४	ऋ० २।१२।८
य स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्	११	ऋ० २।१२।५
यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो	१५	ऋ० २।१२।९
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि	४	ऋ० १।१५४।४
यस्याश्वास प्रदिशि यस्य गावो	१३	ऋ० २।१२।७
येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि	१०	ऋ० २।१२।४
यो जात एव प्रथमो मनस्वान्	७	ऋ० २।१२।१
यो देवेभ्यो आतपति	४१	य० ३१।२०
यो रध्रस्य चोदिता य कृशस्य	१२	ऋ० २।१२।६
यो हत्वाहिमरिणात्सप्तसिन्धून्	९	ऋ० २।१२।३
य पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्	८	ऋ० २।१२।२
य शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तम्	१७	ऋ० २।१२।११
य शश्वतो मह्येनो दधानान्	१६	ऋ० २।१२।१०
य सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्	१८	ऋ० २।१२।१२
य सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्	२१	ऋ० २।१२।१५
य सुन्वन्तमवति य पचन्तम्	२०	ऋ० २।१२।१४
रुच ब्राह्मं जनयन्तो	४२	य० ३१।२१
विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोचम्	१	ऋ० १।१५४।१
वेदाहमेत पुरुष महान्तम्	३९	य० ३१।१८
श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे	४३	य० ३१।२२
सप्तास्यासन् परिधय	३६	ऋ० १०।९०।१५, य० ३१।१५
सहस्रशीर्षा पुरुष	२२	ऋ० १०।९०।१, य० ३१।१

वेदलावण्य ऋक्सूक्तानि

तत्र

अकारादिवर्णानुक्रमेण

टिप्पणीषु व्याख्यातानां पदानामनुक्रमणिका

वेदलावण्यम्

संक्षेप विवरण

+ जोड़ का चिह्न

= बराबर है, समान है

√ धातु का द्योतक चिह्न

अकोसु०—अमरकोष सुधासिन्धु, भानु जिराक्षत, बम्बई १९२८

अवे—अथर्ववेद, अजमेर वैदिक यन्त्रालय, २००१ वि

अव—अवेस्ता भाषा

आइओप्रो—प्रोसीडिङ्ग्स ऑफ दी आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस

आइओका० (स)—समरीज ऑफ पेपर्ज सब्मिटिड टू दी आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस

आप्टे का कोष—वी० एस० आप्टे स्टूडेण्ट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, द्वितीय संस्करण

आश्व गृ०—आश्वलायन गृह्यसूत्र

उ०—पञ्चपादुणादि, सभाष्य, दयानन्द सरस्वती सं० १९८९

ऋ—ऋग्वेद—सातवलेकर द्वारा सम्पादित मूल संहिता

ऋभाभू०—ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका दयानन्द सरस्वती आर्य साहित्य मण्डल अजमेर १९९१ वि०

ऐ०—ऐतरेय ब्राह्मण, मूल बम्बई

एया०—ऐटिमालाजीज आफ यास्क, डा० सिद्धेश्वर वर्मा

कठोप०—कठोपनिषद्

का० य—काण्व यजुर्वेद संहिता, प० सातवलेकर द्वारा सम्पादित

का० श्रौ०—कात्यायन श्रौत सूत्र

कास०—काठकसंहिता, स्वाध्याय मण्डल, पारडी

को०—कौषीतकि ब्राह्मण

गी०—भगवद् गीता
गो०—गोपथ ब्राह्मण
ग्रा० ग्रास०—ग्रासमैन
छाउ०—छान्दोग्योपनिषद्
जैउ० जैउब्रा०—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
तां—ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तु० क०—तुलना करो
तै०—तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०—तैत्तिरीय संहिता, स्वाध्यायमण्डल, पारडी
दपाउ०—दशपाद्युणादि वृत्ति पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित
दस०—स्वामी दयानन्द सरस्वती और उन का ऋग्वेद भाष्य, ९ भाग, अजमेर
नपुं०—नपुंसक लिंग
नि०—निरुक्त, डा० लक्ष्मण स्वरूप द्वारा सम्पादित, मूल, १९२७
निघं०—निघण्टु—दयानन्द सरस्वती स्वामी द्वारा सम्पादित, अजमेर, १९८९ वि०
नेवैशा०—नेचर औफ वैदिक शाखाज़ एस० के० गुप्त
पं० उ०; पपाउ०—पञ्चपाद्युणादिसूत्र, स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा सम्पादित
पा०—पाणिनिमुनि रचित अष्टाध्यायी और उस की काशिकावृत्ति, बनारस
पाउ०—पारस्करीयोपनयन सूत्रों का प्रस्तुत संस्करण
पाटि०—पादटिप्पणी
पा० भे०—पाठभेद
पीटर्सन—हिम्ज़ औफ दी ऋग्वेद प्रथम भाग
पु०—पुरुष, पुल्लिंग
पृ०—पृष्ठ
प्र०—प्रथम पुरुष
वधसू०—वसिष्ठ धर्मसूत्र
बृउप०—बृहदारण्यकोपनिषद्
भायो०—भारत-योरोपीय काल्पनिक भाषा का कल्पित पद
मनु०—मनुस्मृति, बम्बई

मन्त्रस , मम —इस सस्करण म मगहात क्रमसे आर य० २१ क मन्त्रो की आइ और ना गन आवक्र क्रमस सन्ना। प्रमाणा म नस सरया क आग ।त्पपना की सरया है।

महा —महाधर, यजुर्वेद भाष्य

मु० उ —मुण्डकोपनिषद्

मेघ —मघदूत मधार कुमार गुप्त द्वारा सम्पादित तीसरा सस्करण।

म०—मवदानन्द, ए० ए० आरउनका वैदिक रीडर

मम्. —मैक्स मूलर

य —यजुर्वेद माहता अजमर १९९९ वि०

यभा , य भा य भाष्य— यजुर्वेदभाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ४ भाग, अजमर

व०—वचन

वि —विसर्ग

विशे —सर मानियर मोनियर-विलियम्स, सस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी १८९९

वे भा —वेदभाष्य

वभाषा —मधार कुमार गुप्त, वेद भाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन

वमा —वेद माधव

वइ —वैदिक इण्डेक्स, दो भाग, मैक्डॉनल और कीथ

वैग —दी वैदिक ग्रामर, डा० फतह सिह

वको —वैदिक कोष हंसराज।

वैग्राम —वैदिक ग्रामर फार स्टुडण्ट्स मक्डोनल, ए० ए०।

वैरा —मक्डानल, ए०ए०, वैदिक रीडर

वैसा —वैदिक साहित्य, राम गोविन्द त्रिवेदी, बनारस

शा —शतपथ ब्राह्मण दो भाग बनारस

शर्वीका —दुर्गा सप्तशती टीका०

श्वे उ —श्वेताश्वतरोपनिषद्

सप्र०—सत्यार्थ प्रकाश, कलकत्ता, सं० १९८१

सं०—संस्कृत

संच०—संस्कारचन्द्रिका आत्माराम, बड़ौदा

संप०—दयानन्दभाष्य में संस्कृत पदार्थ

संवि०—संस्कारविधि, स्वा० दयानन्द सरस्वती, अजमेर

संशकौको०—संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ कोष, द्वारकाप्रसाद शर्मा चतुर्वेदी, इलाहाबाद १९२७

सा०—सायणभाष्य (ऋग्वेद), पूना ४ भाग।

सा० ला०—माइचन्जिग लाइटर

सिकौ०—सिद्धान्त कौमुदी, बाल-मनोरमा, मद्रास

सीएसडी०—सुधीर कुमार गुप्ता, ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दी कमैण्टरी ऑन दी ऋग्वेद बाई स्वामी दयानन्द

सूसं०—इस संस्करण में सम्पादित पारस्करीयोदायन सूत्रों की क्रमिक संख्या और उन पर टिप्पणियाँ

स्त्री०—स्त्रीलिंग

हिअ०—हिन्दी अनुवाद

संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, पीएच० डी०, स्वर्णपदकी

(वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, मेघदूत और उस की वैदिक पृष्ठभूमि, दशकुमारचरित, शुकनासोपदेश, गद्यपारिजातविवरण, संस्कृत व्याकरण, अर्थव्यञ्जकताचित्र, नेचर ऑफ वैदिक शास्त्रज और ऋग्वेद का धर्म, पारस्कर गृह्यसूत्रस्थ उपनयन सूत्र और वैदिक सूक्तसंग्रह आदि के प्रख्यात, **मौलिक और ससार लेखक तथा सम्पादक)**

डा० सुधीर कुमार गुप्त एक प्रसिद्ध और अनुभवी विद्वान् हैं। आप की लेखनी में शक्ति है, भाषा में ओज और बल है। विषयवर्णन में गाम्भीर्य सरलता, स्पष्टता, विशदता और नई दृष्टि है। आप की शैली युक्तियुक्त और प्रवाहशील है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत साहित्य के विकास का एक सुगम, संश्लिष्ट अनति संक्षिप्त और क्रमिक परिचय प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है।

यह इस पुस्तक का दूसरा संस्करण है। इस का पहला संस्करण १९५१ में रोहतक से एक सहायक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था। उस में लगभग १६० पृष्ठ थे। अध्यापकों ने उस की मुक्तकण्ठ प्रशंसा की। विद्यार्थियों में वह इतना प्रिय हुआ कि दो वर्ष में ही वह संस्करण समाप्त हो गया।

अब यह दूसरा संस्करण नई सजधज के साथ प्रकाशित किया गया है। इस में ग्रन्थ की काया ही पलट गई है। इस का आकार पहले से कई गुना बढ़ गया है। इस में कुल ६१० पृष्ठ हैं।

इस संस्करण में अनेकों नये विषय सम्मिलित कर दिये गए हैं। पहले से विद्यमान विषयों में आवश्यक परिवर्तन और संशोधन भी कर दिये गये हैं, यथा नाटककार और काव्यकार कालिदास के पृथक् पृथक् व्यक्तित्व का सम्पादन -

और उन की तिथि, उपमा कालिदासस्य, भास और शूद्रक की तिथि और व्यक्तित्व तथा नाटक की उत्पत्ति के वादों के स्थल।

इस संस्करण में कवियों के गुण दोषों के साथ उन के ग्रन्थों के सार और अन्य कवियों से तुलना भी दिए गए हैं। पादटिप्पणियों में B A B A Hons, M A, I C S, I A S, P C S. आदि परीक्षाओं से प्रत्येक विषय से सम्बंधित प्रश्न संगृहीत किए गये हैं। इस से पुस्तक पाठ्यपुस्तक होते हुए सहायक पुस्तक का भी काम करता है।

इस प्रकार इस पुस्तक का क्षेत्र विस्तृत हो जाने और स्तर के ऊँचा हो जाने से यह न केवल समस्त विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं और प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए परम उपयुक्त है, प्रत्युत समस्त संस्कृत, हिन्दी और भारतीय इतिहास के विद्वानों, समालोचकों भारतीय साहित्य रसिकों और जनसाधारण के लिए पठनीय है।

आगे दी हुई विषय-सूची से ग्रन्थ के स्तर और क्षेत्र का अनुमान सहज में ही किया जा सकेगा।

विषय-सूची

ऋतुसंहार—३४ अ, मेघदूत—३६ अ, कुमारसम्भव—३८ अ, रघुवंश—४१ अ, कालिदास के विशेष गुण—४६ अ, अलंकारों का प्रयोग—४८ अ, उपमा कालिदासस्य—४६ अ, अन्य अलंकार—५२ अ, अर्थान्तरन्यास की छटा—५२ अ, श्लेष—५३ अ, छन्दों का प्रयोग—५३ अ, वर्णन-शक्ति—५३ अ दोष—५४ अ, दूतकाव्यों की परम्परा –५४ अ, मेघदूत के अनुकरण—५५ अ, कालिदास का प्रकृतिवर्णन—५७ अ, कालिदास के काव्यों में जीवन आदर्श—६० अ, वैदर्भी रीति के मुख्य गुण—६५ अ।

५ महाकाव्य [उपसंहार]–३० कालिदास के उत्तरकालीन कवि ६६ अ—११२ अ

प्रवरसेन—६६ अ मेण्ठ या भर्तृमेण्ठ—६६ अ रावणार्जुनीय या अर्जुनरावणीय—६७ अ भारवि—तिथि—६७ अ गुण दोष—६८ अ किरातार्जुनीय का कथा और उस का स्रोत—७० अ भारवि में कृत्रिमता—७३ अ, भारवि का व्याकरण का प्रयोग—७४ अ भारवि का अर्थगौरव और व्यावहारिक ज्ञान—७६ अ भट्टि—७६ अ, कुमारदास—८० अ, माघ—तिथि—८२ अ, शिशुपालवध की कथा और उस का स्रोत—८३ अ मूलकथा मे परिवर्तन—८५ अ माघ के गुण दोष और शैली—८६ अ, भारवि और माघ की तुलना—८८ अ, कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष की तुलना—६० अ हरविजय—६० अ, कवि रहस्य—६३ अ, क्षेमेन्द्र—६३ अ, कप्फणाभ्युदय—६४ अ, मङ्ख—६४ अ, श्रीहर्ष की तिथि—६४ अ, श्रीहर्ष की कृतियां—६८ अ, नैषधचरित और उस की कथा—६८ अ, नैषधचरित की पूर्णता—६६ अ, मूलकथा मे परिवर्तन—१०० अ, श्रीहर्ष का महत्त्व—१०० अ, संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में श्रीहर्ष का स्थान—१०३ अ, श्लिष्ट या द्व्यर्थक काव्य—१०६ अ, जैन कवियों की देन—१०८ अ, हरिचन्द्र—११० अ, संस्कृतकाव्यों में उत्तरोत्तर कृत्रिमता और अवनत रुचि—११० अ।

भारत प्रेस, गोरखपुर।

छः आना भारती मन्दिर पुस्तकमाला का प्रथम पुष्प

सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, शास्त्री, प्रभाकर, एम० डी० एच०,

मेघदूत की वैदिक पृष्ठ भूमि और उसका सांस्कृतिक सन्देश



यह लेख विद्वान लेखक ने अखिल भारतीय प्राच्य महा-सम्मेलन के अहमदाबाद अधिवेशन में पढ़ा था। इस में लेखक ने अपने मेघदूत के द्वितीय संस्करण में व्याख्यात पौराणिक कथाओं के वैदिक मूल का शृंखलाबद्ध विस्तार कर उनसे प्राप्त सन्देश को व्यक्त किया है। साथ ही अनेकों शब्दों के विश्लेषण से यह दिखाया है कि कालिदास की व्यञ्जना का समझने के लिये यौगिक वैदिक व्याख्यान शैली का ज्ञान आवश्यक है।

व्याख्यात कथाएं—रन्तिदेव, बलराम का सूतवध और सारस्वत जलों का सेवन, त्रिपुरविजय, क्रौञ्चभेदन, देवताओं की यौवनावस्था, देवता और अप्सराएं, शिव और कुबेर की मैत्री।

व्याख्यातपद—यक्ष मघोन, कामरूपम्, पयोद, अहर्याना, अतिथि, रत्नाणाम् सवितु, सुरपति, तार्ये, पावन, जल, अनिल भर्तु।

परिशिष्ट—१ लेख में आए संस्कृत के श्लोकों और मन्त्रों का हिन्दी अनुवाद। २ चित्र विवरण

प्रकाशक—

भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुरजा (उ० प्र०)

पुस्तक विक्रेता, विज्ञापक और प्रापक

लेखक की अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ—

१ *मेघदूत*—द्वितीय संस्करण। इस में विस्तृत भूमिका मूलपाठ मल्लिनाथ की संस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियाँ परिशिष्ट आदि हैं लगभग सभी पौराणिक कथाओं के वैदिक मूल को दर्शाया गया है। अनुपम कृति। सुन्दर छपाई और कागज। मूल्य ५ =/

२ *संक्षिप्त दशकुमारचरित*—पूर्वपीठिका के प्रथम तीन उच्छ्वासों और उत्तरपीठिका का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित उत्तम और वैज्ञानिक सम्पादन
कागज २०×३०/१६ सजिल्द ३ ४ अजिल्द · १०

३ *विश्वतचरित*—मूलपाठ संस्कृत टीका हिन्दी अनुवाद टिप्पणियों और परिशिष्टों से विभूषित। मूल्य २/४/

४ *अर्थ प्रसरताचित्र*—चित्र रूप में अर्थरचना का स्पष्टीकरण ८

5 Nature of Vedic shakhas and Authorship of the Phonetic Sutras edited by Dayananda Sarasvati /12/

भारती मन्दिर, नई बस्ती खुरजा (उ० प्र०)
पुस्तक विक्रायक, प्रापक प्रकाशक और विक्रेता

डा० सुधीर कुमार गुप्त, एम ए पीएच डी शास्त्री, प्रभाकर

शुकनासोपदेशः



डा० सुधीर कुमार गुप्त मघदूत, संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, दशकुमारचरित, वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन, ऋग्वेद का धर्म तथा अन्य लेख नेचर और वैदिक शास्त्रार्थ आदि उच्च कोटि के विद्वत्ता पूर्ण आलोचनात्मक और अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के कारण विद्वानों, अध्यापकों और विद्यार्थियों की समाज में सुप्रसिद्ध हो हैं। आप ने आध्यात्मिक और सांस्कृतिक शैली अपनाई है जिस में आधुनिक दृष्टि और प्राचीन दृष्टियों का सुन्दर और प्रभावोत्पादक समन्वय पाया जाता है।

इन्हीं लब्धप्रतिष्ठ लेखक की बुद्धि और लेखनी से प्रादुर्भूत यह रचना बाणभट्ट की अमर कृति कादम्बरी में उपलब्ध व्यावहारिक ज्ञान के गम्भीर समुद्र शुकनासोपदेश का विस्तृत भूमिका, अभिनव अनिलानामक संस्कृत टीका, शाब्दिक हिन्दी अनुवाद, भाव, सांस्कृतिक और दार्शनिक भावों की प्रकाशिका व्याख्यात्मक तथा व्याकरणादि की टिप्पणियों अलंकार शास्त्र के प्रारम्भिक परिचय और शब्दानुक्रमणिका से युक्त एकमात्र प्रामाणिक तथा सर्वाङ्गसुन्दर आलोचनात्मक संस्करण है। यह परीक्षार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तक, विद्वानों, आलोचकों और अध्यापकों के लिए मननीय और संग्रहणीय तथा जनसाधारण को ज्ञानवर्धक रचना है। इस संस्करण की एक विशेषता यह भी है कि यह पाठकों में आगे विस्तृत अध्ययन और मनन की प्रवृत्ति

उत्पन्न करता है। इस में ऋग्वेद से ले कर आज तक रचे गये वाङ्मय के अनेकों ग्रन्थरत्नों का प्रयोग किया गया है।

आकार २० × ३०/१६ पृ० १२० मूल्य अजिल्द २) सजिल्द २॥)

विषय-सूची

सूचना—दाईं ओर कोष्ठकों में संदर्भों की संख्या दिखाई गई है।

विशेष सुविधा—प्रकाशक से डाक द्वारा मँगाई हुई पुस्तक पसन्द न आने पर पुस्तक प्रति की तिथि से तीन दिन के भीतर अपने व्यय पर रजिस्ट्री द्वारा विक्रय योग्य टकसाली अवस्था में लौटाने पर ग्राहक को उस से लिया हुआ मूल्यमात्र मनीआडर से लौटा दिया जायगा।

गद्यपारिजातविवरण

इस ग्रन्थ में संस्कृत गद्य और गद्य काव्यों से चुने हुए अधोलिखित स्थलों का शाब्दिक हिन्दी अनुवाद दिया गया है। अनुवाद से पूर्व आवश्यक पदों पर मौलिक व्याख्यात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी गई हैं। पाठ के आरम्भ में उसका सार भी दिया गया है।

१—शतपथ ब्राह्मणे मत्स्यावतारेतिहास ।

२—तैत्तिरीयोपनिषदि शिक्षावल्ली, भृगुवल्ली च ।

३—बृहदारण्यकोपनिषदि याज्ञवल्क्यमैत्रेयीसंवाद (२/४) ।

४—महाभाष्ये व्याकरणाध्ययनप्रयोजनानि ।

५—समुद्रगुप्तप्रशस्ति ।

६—दशकुमारचरिते अष्टम उच्छ्वास ।

७—कादम्बर्याम्— जाबाल्याश्रमवर्णनम्, जाबालिवर्णनम्, मुनिविषयको विचार, पत्तिविषये तापसाना जिज्ञासा तन्निवारण च, शुकनासोपदेश ।

८—हर्षचरिते सप्तम उच्छ्वास —(आदित कुमारस्य वंशादिपरिचय यावत्)

इस विषयसूची से ही पुस्तक की उपादेयता का अनुमान किया जा सकता है। इस ग्रन्थ का सा शाब्दिक, मौलिक और प्रामाणिक अनुवाद अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

पृष्ठ संख्या ३०२ मूल्य ६)

सूचना—प्रत्येक प्रामाणिक प्रति पर लेखक के हस्ताक्षर अंग्रेजी में (S K Gupta) अंकित मिलेंगे।

अर्थव्यञ्जकताचित्रम्

इसमें चित्र के आकार में काव्य-प्रकाश और साहित्यदर्पण के अर्थव्यञ्जना के प्रकरणों का सरल संस्कृत में संक्षिप्त और मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है। यह एम० ए०, शास्त्री और विशारद के विद्यार्थियों के लिए अनुपम वस्तु है। इस चित्र को दीवार पर भी लटकाया जा सकता है। कागज और छपाई बढ़िया है।

मूल्य -/४/

कुछ सम्मतियां—

1. *Pt Gauri Shanker, M A, B Litt, P. E. S, Govt College, Hoshiarpur (formerly at Lahore) and Member Board of Studies in Sanskrit Punjab University.*

"It is very instructive and at the same time lucid and comparative"

2. *Prof M K Sircar, M A (Calc & Dac), Formerly Head of the Sanskrit Deptt D A V College, Lahore and Lecturer Panjab University Lahore now Head of the Sanskrit Deptt Hamsa Raja College, Delhi*

"I have recommended it to the M A students of the Pub I find the chart very useful or the students of Sahitya in M. A and Shastri and Visharada Examinations"

3. *Prof N N Chaudhuri, M A, K T, V. T. Shastri, formerly Senior Lecturer in Sanskrit, Ramja. College, Delhi Now Reader in Sanskrit, Delhi University, Delhi*

' It is admirably fitted to serve the purpose for which it is published I have already recommended your 'citram' to my M A students

4 *Pt Vana Mali Sharma Chaturveda, Sahityacharya, Kavya Tirtha etc, Shri Mathur Chatur Veda Vidyalaya, Dempier Park, Mathura*

"श्रीयुत श्री सुधीर कुमार गुप्त ' के काव्यप्रकाश तथा साहित्य दर्पण के यथार्थ अर्थानुसार अर्थव्यञ्जकताचित्र को देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। परिश्रम सराहनीय है। उनके इस कार्य से न केवल छात्रों को ही अपितु अध्यापकों को भी सरलता होती है।

इस की प्रति सभी साहित्याध्यापकों के पास अवश्य रहनी चाहिए।"

5 *Pt. Brahmananda Sukla Vyakaranalankara Shastri, Shri Radha Krishna Sanskrit College, Khurja (U P.)*

"प्राच्य प्रतीच्य विद्याविनोदनिपुणाना श्रीमता मतिमता सुधीरगुप्तमहोदयानामभिनवा कृतिमार्थव्यञ्जना चित्रतया पद्धत्या चित्रितमवलोक्य परा मुदमवाप्तवानस्मि। मातु शारदाया सेवाया प्रसारप्रकारोऽयमिति विनेयानां महान्तमुपकार करिष्यति इति च सर्वथा प्रचारमस्य कामये।"

भारती मन्दिर
नई बस्ती
खुरजा (उ० प्र०)

कामायनी सौन्दर्य

डा० फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट्

(वैदिक एटीमालोजी, वैदिक दर्शन, भारतीय समाजशास्त्र, मूलाधार, साहित्य और सौंदर्य आदि प्रख्यात, मौलिक सशक्त और अनुपम कृतियों के रचयिता)

आपने साहित्यक्षेत्र में भारतीय ढंग पर सांस्कृतिक तत्त्वों की परिचायक विवेचना का सूत्रपात कर एक नवीन मार्ग का प्रवर्तन किया है। अपने साहित्य का यथार्थ रूप में समझने, उस से उचित अनुभूति प्राप्त करने तथा साहित्य का अविच्छिन्न निरन्तर धारा की सतता के ज्ञान के लिए हमें इस प्रकार के मार्ग की नितान्त आवश्यकता थी।

कामायनी सौंदर्य का पहला संस्करण अगस्त १९४८ में निकला था। इसमें ८+४+१६८ पृष्ठ थे। उस की प्रशंसा विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से की। एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए उसे पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया।

अब उसका नया संस्करण इस वर्ष नई सजधज के साथ प्रकाशित हुआ है। इस में पुस्तक का आकार पहले से दुगने से भी अधिक हो गया है। इस में ८२+१२४ पृष्ठ हैं विषयक्रम में परिवर्धन, परिवर्तन और संशोधन कर दिया गया है जिससे पुस्तक का महत्त्व बहुत बढ़ गया है।

नवीन शीर्षकों में खण्डानुसार कामायनी की कथा, दार्शनिक आधार-शिला और विश्व साहित्य में कामायनी उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक न केवल परीक्षार्थियों के लिए ही पढ़ने योग्य है प्रत्युत समस्त हिन्दी और संस्कृत के विद्वानों, समालोचकों, भारतीय संस्कृति के प्रेमियों, भारतीय साहित्य प्रेमियों और जनसाधारण के

लिए पठन योग्य है। विषयसूची साथ दी है जिस से पुस्तक की ज्ञानगरिमा का ज्ञान सहज में ही हो जाता है।

विषय सूची

कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्यात्मा)

कामायनी का महाकाव्यत्व (काव्य शरीर)

दार्शनिक आधार-शिला

कुछ सम्मतियां

यह गम्भीर लेखक के पाश्चात्य एवं भारतीय साहित्य शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम है।

' डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्

'डा० फतहसिंह जी ने 'कामायनी' का विवेचन दार्शनिक, सांस्कृतिक और प्राचीन परम्परा के दृष्टिकोण से किया है। यह पुस्तक हिन्दी के गौरव को बढ़ाने वाली है।' देशदूत।

'प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने वैदिक साहित्य का वास्तविक अनुशीलन करके विशुद्ध भारतीय परम्परा और कामायनी की आधार-भूत बातों को विस्तार के साथ समझाया है।' वीणा

'मनु श्रद्धा, इडा, कुमार और जलप्लावन का शृंखलाबद्ध इतिहास पहली बार कामायनी सौंदर्य में मिलता है। महाकाव्य के लक्षणों का विश्लेषण भी हिन्दी में पहली बार इतनी गम्भीरता से हुआ है। यों 'कामायनी-सौंदर्य' कामायनी पर लिखी सभी पुस्तकों से निराली और अनुपम पुस्तक है।' साहित्य सन्देश

डा० फतहसिंह एम० ए०, डी० लिट्

साहित्य और सौन्दर्य

कामायनी सौन्दर्य के प्रख्यात लेखक की दार्शनिक और सांस्कृतिक दृष्टि ने इस पुस्तक में प्रतिपादित विचारों को परम देदीप्यमान कर दिया है। लेखक का प्रकाण्ड वैदिक ज्ञान शास्त्रीय विषय के मूल सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में एक प्रभावशाली और रोचक तथा युक्तियुक्त साधन बन पड़ा है। उसमें वे इन विषयों को जीवन और उसकी संस्कृति का अंग बनाकर काव्य के चतुर्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य को सम्भव कर पाए हैं। पुस्तक में छै निबन्ध हैं, जिनके विषय तो पुराने ही हैं, परन्तु दृष्टि और प्रतिपादनशैली एक दम नई और वास्तविक है।

निबन्धों के शीर्षक—

[१] कवि और काव्य—१-४४, [२] भारतीय महाकाव्य—४५-६०, [३] नेमिदूत का काव्यत्व—६३-७८, [४] साहित्य और संस्कृति—७७-६६, [५] सौन्दर्य और उसका शास्त्र—६७-११८, [६] पूर्व की ओर—११८-१३१ अन्त में पद सूची है।

छपाई और गैटअप आदि आकर्षक हैं। मूल्य १-१४-० डाक व्यय (साधारण बुक पोस्ट) ०-२-६

कुछ सम्मतियाँ—

'कवि और काव्य में लेखक ने विशेषतः 'रस' और काव्य' पर अपूर्व विचार सामने रखे हैं। लेखक का गंभीर मनन मनन तथा निदिध्यासन, इस निबन्ध के पंक्ति पंक्ति में बोल रहा है। मैं तो इसे हिन्दी साहित्य की सम्पत्ति मानता हूँ। और सब से बढ़िया बात यह है कि नये नये होते हुए भी लेखक की दृष्टि और आस्था

पूर्णत भारतीय है। लेखक न पुरानी परम्परा को अस्वीकृत करते कुंठित हुआ है, न अभारतीय दृष्टि को ठुकराने में हिचका है। आदि कवि व सम्बन्ध की उनकी युक्तियाँ भी बहुत अच्छी हैं, बहुत तर्कपूर्ण हैं। स्वतन्त्र भारत

'यह पुस्तक बहुत मनोयोग से मनन करने योग्य है। 'रस वाद से ऊबे या उसके उपेक्षा करने वाले (रसवाद को तत्त्वत बिना जाने भी !) इस पुस्तक में बहुत सी विचारोत्तेजक सामग्री पायेंगे और पढ़ने का श्रम व्यर्थ न जायगा।

डा० बलदेव प्रसाद मिश्र

प्रस्तुत पुस्तक म विद्वान् लेखक ने भारतीय और बाह्य सभी दृष्टिकोणों से साहित्य और सौंदर्य की चिन्तना की है।

इस (सौन्दर्य और उसका शास्त्र) प्रकरण म लेखक ने इस विवेचन की एक नींव डाली है जो कि भविष्य के विवेचकों के लिये बहुत काम की सिद्ध हो सकता है।

हरिवल्लभ बी० ए०, साहित्य रत्न

गंगा किनारे

उलझन गंगा किनारे, सुख की नींद, सुनीता, पहाड़ी, वीरांगना, पत्नी का पाप, न माया मन का मोल, प्रायश्चित–इन नौ कहानियों का २०×३०/१६ के आकार का १००पृष्ठ का यह संग्रह मन को मुग्ध और प्रभावित करने वाला है। इसकी कहानिया देव विश्वासी करुण रस प्रधान, सरस, सामाजिक, क्रियाकल्प की दृष्टि से पूर्ण सफल, नारी जीवन, उसकी करुणा और उनके अनेक रूपों और विविध स्तरों की प्रकाशिका, ग्रामीण जीवन की पृष्ठ भूमि पर प्रतिष्ठित, वस्तुविन्यास में नाटकीयता पूर्ण, विदग्ध

व्यजनाओं और कलात्मक स्फुरणाओं से युक्त हैं। लेखक का यह प्रयास परम सफल और रोचक बन पड़ा है।

मूल्य १ ४ ० नाक व्यय (साधारण बुक पोस्ट से) ० ४ ०

भीमसेन शास्त्री, विद्याभूषण, एम० ए०, एम० ओ० एल०

अलंकार दीपिका—

शास्त्री जी ने इसमें आगरा राजपूताना आदि विश्वविद्यालय मे बी० ए० संस्कृत के पाठ्यक्रम में निर्धारित काव्यदीपिका की अष्टम शिखा का विस्तृत उपोद्घात हिंदी अनुवाद और व्याख्या तथा परिशिष्टों और अनुक्रमणिकाओं से विभूषित सम्पादन किया है।

प्रथम परिशिष्ट में उदाहरणप्रतीक सहित समस्त कारिकाएं दी गई हैं। उन से विषय को स्मरण कर परिशिष्ट २ ३ और अनुक्रमणिका २ की सहायता से विद्यार्थी अपना परीक्षा स्वयं ले सकता है।

पृष्ठ संख्या—१ आकार २०×३०/१६

मूल्य १ १० डाकव्यय ०)

डा० फतहसिंह एम० ए०, डी० लिट

वैदिक दर्शन

(हरजीमल डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत और राजपूताना विश्वविद्यालय से सहायता प्राप्त)

कामायनी सौन्दर्य आदि के प्रख्यात रचयिता की यह कृति अपनी अलग ही विशेषता रखती है। वैदिक दर्शन का इतना गम्भीर, विस्तृत, वैज्ञानिक, तात्त्विक और विशद व्याख्यान अन्यत्र उपलब्ध नहीं। मैक्समूलर डाउसन, राथ, डा० राधाकृष्णन आदि की कृतियों में वैदिक दर्शन की गूढ़ और वास्तविक विचारधारा का परिचय प्राप्त नहीं होता। क्रान्तप्रज्ञ ऋषियों के दर्शन को प्रायः प्राकृतिक देवी-देवताओं जड़ वस्तुओं आदि की स्तुति तक सीमित रखना ही इतर कृतियों में पाया जाता है। यह कृति इन दोषों से मुक्त है। लेखक की दृष्टि बड़ी व्यापक है। उसका क्षेत्र ऋग्वेद से उपनिषदों तक फैला हुआ है। सर्वत्र वह एक ही दर्शन, एक ही भाव, एक ही विचारधारा को पाता है। संक्षेप में इस कृति ने वैदिक दर्शन के विभिन्न तत्त्वों का समन्वय कर उन्हें एक सूत्र में पिरो सुन्दर मुक्ताहार का रूप दे दिया है। आकार २०×३०/१६ पृष्ठ ५७४ मूल्य अजिल्द ४) सजिल्द ६) डाकव्यय ||||, ।=)

विषय सूची

नामरूप जगत्——१ उत्पत्ति - [क] सृष्टि-१६६, [ख] प्रजनन-२०७ मिथुनत्वप्रक्रिया-२०८, [ग] नाम-सृष्टि-२१२।

२ व्युष्टि प्रक्रिया—अशुद्ध और शुद्ध सृष्टि—[क] अर्क-२१७, [ख] सवत्सर और उसकी प्रतिमा-२२०, [ग] सवत्सर की वाक् -२२४ [घ] सवत्सर की सृष्टि-२२५।

३ दोहन प्रक्रिया—[क] पच धाम और पच क्रम-२३०, [ख] दोहन का विवरण -२३४, असुरधाम का दोहन-२३४ पितृ लोक का दोहन २२८ मनुष्यलोक का दोहन-२३४, ऋषिलोक का दोहन २३५ देवलोक का दोहन-२३५ गन्धर्वाप्सरसों के लोक का दोहन २३५ सर्पलोक का दोहन-२३५ इतर जन लोक का दोहन-२३६।

४ कल्पप्रक्रिया—[क] बृहत् और व्युष्टि २३८, [ख] स्वर और कल्प २४०।

५ ऋतु प्रक्रिया—[क] ऋतु-२४१ [ख] ऋत और ऋतु -२४४ [ग] वैदानिक सृष्टि पर सिंहावलोकन-२४५।

कुछ सम्मतिया

Dr Su ti Ku iar C t terji, C uutta Uni ersity

I admire the wide range of reading and thought you manifest in your work You have sought to give the esoteric, philosophical background of the Vedas as forming the basis of Hindu phil sopay, ritual and mythology This is a most fascinating topic and naturally those who believe in the unity of Indian culture and in the ideology behind the Veda to be identical with those behind the Purana and the Jantra will find your work to be stimulating and full of new ideas "

His Excellency R. R. Diwakar, The Governor of Bihar

'I am glad that you have upheld the view that the Vedas are not merely a collection of the babblings of infant humanity but are full of guidance to spiritual aspirants

Dr G. K. Kaje, The Iranological Institute, Tehran (Iran)

I find that you have given some new interpretation and that it is very deep and comprehensive

---

डा० फतहसिंह, एम० ए०, डी० लिट

भारतीय समाज शास्त्रः मूलाधार

मूल्य सजिल्द ५॥) अजिल्द ४) डाक व्यय ।)।

डा० फतहसिंह कामायनी सौन्दर्य, वैदिक दर्शन, साहित्य और सौन्दर्य तथा वैदिक एटिमोलौजी आदि उच्च कोटि के विद्वत्ता-पूर्ण अनुसन्धानात्मक ग्रन्थों के कारण विद्वत्समाज में सुप्रसिद्ध हो है। इनकी आध्यात्मिक और सांस्कृतिक शैली ने अध्ययन की एक नई परम्परा चलाई है जिसमें आधुनिक दृष्टि और प्राचीन दृष्टि का सुन्दर और प्रभावोत्पादक समन्वय किया है।

इन्हीं प्रख्यात लेखक की लेखनी से यह पुस्तक प्रकट हुई है। 'प्रस्तुत पुस्तक समाजशास्त्र पर लिखी गई अब तक की सभी

पुस्तकों से अलग सी जान पड़ेगी। अब तक जो पुस्तकें इस विषय पर लिखी गई हैं उनका दृष्टिकोण प्रायः भौतिकवादी ही रहा है, परन्तु यहाँ पर समाजशास्त्र को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा गया है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें उन समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी यथासम्भव समावेश किया गया है जो भारतीय ऋषियों एवं मुनियों के मस्तिष्क से उद्भूत हुए थे। यथासम्भव इन सिद्धान्तों के क्रियात्मक रूप तथा उन पर आश्रित एवं उससे अनुप्राणित समाज के क्रमिक विकास को भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है।

विषय सूची

वर्गीकरण-७४-८०, वर्ण-व्यवस्था-८०-८२ [घ] आश्रमण-८२-८४, श्रमणवाद-८५-८७।

४. *समाज का विकास* [क] विकास के सात लोक-८८-८६, व्यष्टि-विकास-६२-६३, व्यष्टि में समष्टि का विकास-६८-६४, लोक में समाजत्व का विकास-६६। [ख] ह्रास के लोक-६६-१०१, [ग] चार युग-१०१-१०५, युग भेद-१०५-१०६, [घ] नारी, नारायणी और बृहती-१०६-११४, [ङ] मन्वन्तर-११४-१२१, मन्वन्तरों का रहस्य १२१-१३४।

५. *विकास-सिद्धान्त*—सिंहावलोकन-१३५-१३८, उत्क्रमण निक्रमण-१३८-१४८, अनुचिन्तन-१४६-१४७, समाजवाद-१४७-१५७ पुरुषवाद-१५७-१६४, चार मोहरे-१६४-१६८, आधुनिक विकासवाद के ढग पर-१६८-१७३।

६. *विकास के मत*—ऐतिहासिक मत-१७४-१७८, आत्मवादी मत १७८-१८६, अवतारवाद १८६-२०४।

७. भारतीय विकासवाद और क्रान्तिक्रम-[१] भारतीय विकासवाद-२०५-२०७, [२] भारतीय संस्कृति का क्रान्तिक्रम-२०८-२१४, [३] गान्धी का सामगान-२१४-२२७।

द्वितीय खण्ड में भारतीय समाजशास्त्र के क्रियात्मक रूप और तृतीय खण्ड में वर्तमान समाज और उसकी समस्याओं का विवेचन होगा।

मुख्य वितरक—

भारती मन्दिर, नई बस्ती, खुरजा (उ० प्र०)
पुस्तक विज्ञापक, ज्ञापक, प्रकाशक और विक्रेता



Dr Fatah Singh, M A, D Litt

The Vedic Etymology.

(Being)

A Critical evaluation of the Science of Etymology as found in Vedic Literature

The book contains a critical evaluation of all the etymologies found scattered over the vast Vedic Literature These derivations have often been regarded as nonosense having no philological value at all On critical examination however the present work has found them not only to be of utmost philological value but even of great help to the interpretation of Vedic texts

In his foreword the author has discussed the problems concerning the nature of Vedic Etymologies the apparent absurdity in them and words having more than one derivation and has finally arrived at certain laws of semantics underlying these etymologies The number of these laws is eleven It forms a part of the author s D Litt Thesis of the Banaras University

The book is thus indespensable to all students, teachers research scholars of Vedic literature philology, Sanskrit Literature and philosophy and religion

Number of entries 833 Fine printing & get up

Page 235 Size 20 30 8 Rs 24

Our Agents & Suppliers :—

BHARATI MANDIRA.

Nai Basti, KHURJA (U P)

Mailers Order Suppliers, Book sellers & Publishers

ANNOUNCEMENT—

The research department attached to the Bharati Mandira proposes to issue the following books in 1955 Orders can be booked in advance on payment of prices indicated against each

1 सर्वदेवज्ञपण्डितवैदिकभाष्यम्—The work will contain all the comments of the author on Vedic Mantras found scattered in his commentary on the Gita The book will also contain footnotes giving interpretations of other commentators & scholars Rs 10

2 निघण्टुनिरुक्तनिर्वचनादिकोष (यास्क कोष)—

The work will contain all the etymologies, interpretation and discussions found in the Nighantu and the Nirukta New light is also thrown on some readings of the two works, not noticed by Dr L Sarup Rs 20/-

3 दयानन्दीयनिघण्टुनिरुक्तभाष्यम्—The work will contain all the interpretations of Nighantu words and Nirukta passages found in the works of Dayananda Sarasvati

Rs 5/-

4 Etymologies in the work of Dayananda It is proposed to evaluate critically all the etymologies found in the works of Dayananda Rs 20/-

Issued by—

The Research Department

BHARATI MANDIRA, Nai Basti,

KHURJA (U P)

आचार्य अभयदेव जी

१ वैदिक *उपदेशमाला*—इस लघु कृति में बारह वैदिक उपदेशों का व्याख्यान और प्रतिपादन किया गया है। इनके प्रयोग से प्रत्येक मानव अपने कुल, समाज और राष्ट्र के जीवन को उन्नत बना सकता है लेखक की इच्छा है कि प्रत्येक मानव एक मास में एक उपदेश पर आचरण करे और इस प्रकार एक वर्ष में समस्त उपदेशों को अपने जीवन का अंग बना ले। उपदेशों के शीर्षक ये हैं—

[१] उपदेश ग्रहण करना–१ [२] एकान्त विचार–८, [३] प्रातःकाल उठना–१६ [४] प्रलोभन को जीतना–२३, [५] वीयरक्षा–३१ [६] त्याग–४०, [७] देशभक्ति ४४, [८] सुशासन–६१, [६] श्रद्धा–६७, [१०] सत्य ७१, [११] अहिंसा–८३ [१२] विश्वप्रेम–६१। तीसरा संस्करण मूल्य अजिल्द ० १२-०
डाकव्यय ०-१६

२ वैदिक *विनय*—प्रथम खण्ड—यह इस ग्रन्थ का पाँचवा संस्करण है। पूर्व संस्करणों में मासिक प्राणदायक व्यायामों का अभाव था, वह इसमें दूर कर दिया गया है। चित्र आर्ट पेपर पर एक रंग में छपे हैं। प्रतिदिन के पाठ के लिये एक वेद मन्त्र भावात्मक व्याख्या और शब्दार्थ सहित रक्खा गया है। पुस्तक स्वाध्याय और प्रार्थना के लिये उत्तम और उपयोगी है। प्रथम खण्ड में चार मास के स्वाध्याय के निमित्त १२४ मन्त्र हैं। मूल्य २-०
डाकव्यय ०-५-६

३ *तरंगित हृदय*—इस कृति में लेखक ने अपने मानस सर में उठने वाली विचारतरंगों के २१ शब्द चित्र संकलित किये हैं। स्वर्गीय स्वा० श्रद्धानन्द जी का कथन है— तरंगित हृदय से निकली

हुई विचार तरंग माला का ग्रन्थ का हार बना कर जो शुद्ध हृदय सज्जन पहिरेंगे, मस्तिष्क को शान्त करने वाली सुगन्धी उन्हें अवश्य मिलेगी।

संगृहीत शब्द चित्र—

[१] नमस्कार-१, [२] तेरा कौन है ?-८, [३] चातक का वैराग्य-८, [४] थोड़ा भाग-११, [५] सन्तान वाला कौन है?-१५ [६] प्रतिष्ठा-२८ [७] 'थोड़ा सा'-३३, [८] हंसता हूँ-४१ [९] सन्ध्या-४६ [१०] उद्बोधन-५०, [११] भयंकर-अग्निकाण्ड -५८, [१२] तेरी घोषेबाजी ६७, [१३] नग्नता-७२, [१४] मेरी यात्रा-७६, [१५] अदूरदृष्टि-८४, [१६] निराले आदमी-९३ [१७] ज्ञान की प्राप्ति-१०० [१८] घर का स्वामी-१०५, [१९] यागमय-१०८, [२०] चले चल-११३, [२१] ओर वह प्रार्थना -११५। छपाई आदि उत्तम प्रथम संस्करण। मूल्य १-८० डाकव्यय ०२-२

४ मन नहीं टिकता क्या करें ?—इस जिज्ञासा पर आचार्य जी ने भिन्न भिन्न व्यक्तियों को समय-समय पर जो उत्तर दिये हैं वे यहाँ पर सुधार रूप से संगृहीत हैं। इनमें मन को एकाग्र करने के उपायों का विवेचन किया गया है। पृष्ठ संख्या ९१।

मूल्य ०३० डाकव्यय ०-१-८

५—वेदरहस्य—३ खण्ड

इस ग्रन्थ में आचार्य जी ने श्री अरविन्द की अनुमति से उनके 'The Secret of the Veda' का हिन्दी अनुवाद किया है। आवश्यक स्थल पर सांकेतिक कथन को कुछ समझा कर लिखा गया है तथा अन्य परिवर्तन भी किए गये हैं जिससे यह पुस्तक उपयोगी हो गई है वहां अनुवाद होते हुए भी स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बन पड़ी है

खण्ड में वेद का प्रतिपाद्य विषय, द्वितीय में चुने हुए सूक्तों अनुवाद और तीसरे में देवताओं के स्वरूप का विवेचन है।

शः विषय सूची—